बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 4

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 4
डॉ. अम्बेडकर – साइमन कमीशन (भारतीय सांविधिक आयोग) के साथ

पहला संस्करण : 1994
दूसरा संस्करण : 1998
तीसरा संस्करण : 2013

ISBN : **978-93-5109-004-5**

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 40

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

यदि व्यक्ति का प्रेम तथा घृणा प्रबल नहीं है, तो वह यह आशा नहीं कर सकता कि वह अपने युग पर कोई प्रभाव छोड़ सकेगा और ऐसी सहायता प्रदान कर सकेगा, जो महान सिद्धांतों तथा संघर्ष की अपेक्षा लक्ष्यों के लिए उचित हो। मैं अन्याय, अत्याचार, आडंबर तथा अनर्थ से घृणा करता हूं और मेरी घृणा उन सब लोगों के प्रति है, जो इन्हें अपनाते हैं। वे दोषी हैं। मैं अपने आलोचकों को यह बताना चाहता हूं कि मैं अपने इन भावों को वास्तविक बल व शक्ति मानता हूं। वे केवल उस प्रेम की अभिव्यक्ति हैं, जो मैं उन लक्ष्यों व उद्देश्यों के लिए प्रकट करता हूं, जिनके प्रति मेरा विश्वास है।

डा. भीमराव अम्बेडकर

परामर्श सहयोग :
श्री सीताराम केसरी
माननीय कल्याण मंत्री
भारत सरकार
श्री के. वी. थंगाबालू
माननीय कल्याण राज्य मंत्री
भारत सरकार
श्री माता प्रसाद, आई. ए. एस.
सचिव
कल्याण मंत्रालय
श्री गंगा दास, आई. ए. एस.
संयुक्त सचिव
कल्याण मंत्रालय
सदस्य सचिव
डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

प्रधान संपादक
डा. श्याम सिंह शशि
पी.एच.डी., डी. लिट्

संपादक
श्री कैलाश चंद्र सेठ
श्रीमती भारती नरसिंहमन्

संकलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

अनुवादक तथा पुनरीक्षक
श्री ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा
श्री सीताराम खोड़ावाल
श्री रघुनाथ सिंह
श्री ओम प्रकाश कश्यप
श्री भूपेन्द्र कुमार पाठक
द्वितीय संस्करण के पुनरीक्षक
डा. के.सी. गौतम

व्यापार प्रबंधक
श्री जसवंत सिंह

उत्पादन प्रबंधक
श्री वी. हरिहरन

आमुख

भारतरत्न बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर हमारे संविधान निर्माता के साथ-साथ प्रबुद्ध चिंतक एवं महान समाजशास्त्री भी थे। उन्होंने भारतीय दर्शन में विद्यमान रूढ़िवादी तत्वों को चुनौती दी। वे दलित, शोषित एवं सर्वहारा समाज के मसीहा बन गए, लेकिन उनके विचार एवं साहित्य भारतीय भाषाओं में न होने के कारण आम आदमी तक नहीं पहुंच पा रहे हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि कल्याण मंत्रालय के संस्थान, डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान ने, डा. अम्बेडकर के संपूर्ण वांड्मय को हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित करके यथाशीघ्र प्रकाशित कराने का संकल्प लिया है। गत वर्ष बाबा साहेब के महापरिनिर्वाण दिवस पर इस वाड्मय का दूसरा खंड हिंदी एवं तमिल भाषा में प्रकाशित कर राष्ट्र को समर्पित किया गया था।

अब इस वांड्मय के तीसरे, चौथे और पांचवें खंड को हिंदी और तमिल भाषा में तथा प्रथम खंड को पंजाबी भाषा में अनूदित करके प्रकाशित किया गया है, जिसे पाठकों को समर्पित करते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है।

आशा है कि यह प्रायोजना प्रधान संपादक डा. श्याम सिंह शशि, संपादक मंडल के सभी सदस्यों, अनुवादकों, पुनरीक्षकों आदि के सहयोग से यथाशीघ्र पूरी होगी और बाबा साहेब के विचार जन-जन तक पहुंचकर समाज को एक नई दिशा प्रदान करेंगे।

सीताराम केसरी

(सीताराम केसरी)
कल्याण मंत्री
भारत सरकार

नई दिल्ली
5 मार्च 1993

संदेश

बाबा साहेब हिंदू समाज के सभी दमनकारी स्वरूपों के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक मात्र नहीं थे, अपितु वह बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। एक राजनीतिज्ञ तथा राष्ट्रीय नेता के नाते उन्होंने अपने पीछे संविधान के रूप में एक मूल्यवान विरासत छोड़ी है। उनका यह दृढ़ मत था कि शिक्षा के बिना प्रगति संभव नहीं है। उन्होंने दलितों तक शिक्षा पहुंचाने के लिए अनेक स्कूलों और कालिजों की स्थापना की। शोषितों के उद्धार के लिए उन्होंने जीवन-भर जो संघर्ष किया, उससे उन्हें सामाजिक और आर्थिक अन्याय से पीड़ित मानवता के उद्धारक के रूप में अंतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई।

मुझे प्रसन्नता है कि उनके विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए *डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान* हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उनके भाषणों और लेखों को खंडबद्ध रूप में प्रकाशित कर रहा है।

मैं इस प्रायोजना की सफलता की कामना करता हूं।

थंगा बालू
कल्याण, राज्य मंत्री
भारत-सरकार

dqekjh lSytk
KUMARI SELJA

Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h
Hkkjr ljdkj
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
rFkk
v/;{k] MkW- vEcsMdj izfr"Bku
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

Lkans'k

e>s ;g tkudj vR;r çlUurk gks jgh gS fd lkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=ky; dk Lok;Ùk'kklh laLFkku] MkW- vEcsMdj çfr"Bku }kjk ckck lkgsc MkW- vEcsMdj ds ys[kksa ,oa Hkk"k.kksa ds [kaM la[;k 4 dk iqueqZnz.k çdkf'kr fd;k tk jgk gSA

Hkkjr jRu MkW- ch- vkj- vEcsMdj Hkkjrh; lkekftd&jktuhfrd vkUnksyu ds ,sls iqjks/kk jgs gSa] ftUgksaus thoui;ZUr lekt ds vkf[kjh ik;nku ij lg?k"kZjr O;fDr;ksa dh csgrjh ds fy, dk;Z fd;kA MkW- vEcsMdj cgqeq[kh çfrHkk ds /kuh Fks blhfy, muds ys[kksa esa fo"k; dh nk'kZfud ehekalk çLQqfVr gksrh gSA ckck lkgsc dk fpUru ,oa dk;Z lekt dks ckSf)d] vkfFkZd ,oa jktuhfrd lef) dh vksj ys tkus okyk rks gS gh] lkFk gh euq"; dks tkx:d ekuoh; xfjek dh vk/;kfRedrk ls lqlaLdr Hkh djrk gSA

ckckclkgsc dk laiw.kZ thou neu] 'kks"k.k vkSj vU;k; ds fo#) vuojr Økafr dh 'kkS;&xkFkk gSA os ,d ,sls lekt pkgrs Fks ftlesa o.kZ vkSj tkfr dk vk/kkj ugha cfYd lerk] Lora=rk] cU/kqRo o ekuoh; xfjek lokZifj gks vkSj lekt esa tUe] oa'k vkSj fyax ds vk/kkj ij fdlh çdkj ds HkssnHkko dh dksbZ xqatkb'k u gksA lerk] Lora=rk vkSj cU/kqRo ds çfr dVVj lefFkZr ckck lkgsc dk ys[ku çcq) eu/k dk çekf.kd nLrkost gSA

Hkkjrh; lekt esa O;kIr fo"kerkoknh o.kZO;oLFkk] ftlds rgr ekuo&ekuo esa Hksn fd;k tkrk Fkk] ls MkW- vEcsMdj dbZ ckj Vdjk,A bl Vdjkgv ls MkW- vEcsMdj esa ,sls tTcs iSnk gq,] ftlds dkj.k mUgksaus lerkoknh lekt dh lajpuk dk viuk thou dk fe'ku cuk fy;kA lerkoknh lekt ds fuekZ.k dh çfrc)rk ds dkj.k MkW- vEcsMdj us fofHkUu /keksZa dh lkekftd&/kkfeZd O;oLFkk dk v/;;u o rqyukRed fpUru&euu fd;kA

MkW- vEcsMdj çfr"Bku] ckck lkgsc MkW- vEcsMdj ds vU; [kaMksa dks Hkh 'kh?k çdkf'kr djus esa ç;kljr gSA e>s iwjh vk'kk gS fd ikBdksa dks 'kh?k gh vçdkf'kr vU; [kaM Hkh iqLrdks ds vkdkj esa çkIr gks tk,xsA

vk'kk gS] ikBdx.k bl [kaM ds ckjs esa viuh veY; fopkj ,oa lq>ko miyC/k djok,sa ftlls fd bu vufnr [kaMksa dh xq.koÙkk ,oa lkt&lTtk dks vkxkeh [kaMksa esa vkSj vf/kd le; esa cgrj cuk;k tk ldsA

lSytk

¼dqekjh lSytk½

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्र

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक

संपादकीय

हमें यह लिखते हुए हर्ष होता है कि 'डा. अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय प्रायोजना' का कार्य अनेक कठिनाइयों के बावजूद अबाध गति से आगे बढ़ रहा है। हमने बाबा साहेब डा. भीमराव अम्बेडकर के संपूर्ण वाङ्मय को हिंदी तथा भारतीय भाषाओं में अनूदित करते समय विषयानुसार श्री वसंत मून के अंग्रेजी संकलन को आधार तो बनाया है, किंतु सुविधा की दृष्टि से उसे कुछ अधिक खंडों में समाविष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

अनुवाद कार्य अत्यंत कष्ट साध्य होता है तथा उसका पुनरीक्षण और संपादन उससे भी अधिक परिश्रम की अपेक्षा रखता है। हमारे समक्ष समय की सीमा भी है, यद्यपि पूरी प्रायोजना को दो-तीन वर्षों में पूरा करने का संकल्प असंभव सा लगता है, फिर भी हमें अपने विद्वान अनुवादकों, पुनरीक्षकों तथा संपादन-सहयोगियों की क्षमता पर पूरा भरोसा है, जिनके अनवरत परिश्रम से हम इस कार्य को यथाशीघ्र पूरा कर लेंगे।

हमारा अपने कृपालु पाठकों से पुन: निवेदन है कि वे इस अनुवाद को साहित्यिक अनुवाद की भांति नहीं, बल्कि ज्ञान-विज्ञान के सीधे-साधे रूपांतर की तरह अपनाएंगे तथा बाबा साहेब के चिंतन को आत्मसात् करेंगे।

हमने बाबा साहेब डा. अम्बेडकर के अंग्रेजी लेखों एवं भाषणों के दूसरे खंड को पाठकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में तीन खंडों में विभाजित किया है। इन तीन खंडों के विषय है: डा. अम्बेडकर—बंबई विधान-मंडल में, साइमन कमीशन के साथ, गोलमेज सम्मेलन में।

हमने उपाधि स्वरूप प्रयुक्त होने वाले अंग्रेजी के 'सर' शब्द के स्थान पर 'माननीय' शब्द का प्रयोग किया है। हमें आशा है, हमारे सहृदय पाठक 'माननीय' शब्द को उसी रूप में लेंगे। हमारा विश्वास है, इस खंड को भी पाठकों का पूर्ववत् प्यार मिलेगा।

डा. श्याम सिंह शशि
प्रधान संपादक

विषय-सूची

डा. अम्बेडकर

साइमन कमीशन

(भारतीय सांविधिक आयोग)

के साथ

क

बंबई प्रेसिडेंसी की सरकार के गठन के बारे में रिपोर्ट

आमुख

मुझे खेद है कि समिति के मेरे साथियों ने जो रिपोर्ट तैयार की है, न तो मैं उसके असली प्रयोजन से सहमत हो सका और न ही मैं अपनी जांच के दायरे में आने वाले अपेक्षत: अधिक महत्वपूर्ण निष्कर्षों को स्वीकार कर सका। इसलिए मैंने अपनी अलग रिपोर्ट प्रस्तुत की है। उसमें मेरे अपने विचार और सिफारिशें हैं। मेरी रिपोर्ट का कलेवर मेरे साथियों की रिपोर्ट से बड़ा हो गया है। इसमें केवल उठाए गए प्रश्नों के औपचारिक उत्तर शामिल करके इसके कलेवर को सीमित रखना शायद संभव होता। लेकिन मुझे लगा कि जिन सिद्धांतों पर प्रश्नों के उत्तर निर्भर हैं, उनके कतिपय सामान्य विवेचन के बिना न तो उत्तर दिया जा सकता है और न ही रिपोर्ट को भली प्रकार समझा जा सकता है। चूंकि रिपोर्ट संक्षिप्त होने से यह कहा जा सकता था कि रिपोर्ट में की गई सिफारिशों के समर्थन में पर्याप्त तर्क और कारण नहीं दिए गए हैं, अत: मैंने संक्षिप्तता का विचार पूर्णत: छोड़ दिया और रिपोर्ट का कलेवर इतना बढ़ गया।

परिच्छेद I

प्रांत के क्षेत्र का पुनर्वितरण

1. बंबई प्रेसिडेंसी का क्षेत्रफल लगभग 1,223,541 वर्ग मील है। इसे चार स्पष्ट भाषायी खंडों में बांटा जा सकता है। वे हैं: (1) महाराष्ट्र, (2) गुजरात, (3) कर्नाटक, और (4) सिंध। इन खंडों के लोग काफी अर्से तक एक ही प्रशासन के अधीन एक-दूसरे से जुड़े रहे हैं। गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक पिछले 110 वर्ष से बंबई प्रेसिडेंसी के अंग रहे हैं, जबकि सिंध को प्रेसिडेंसी में 85 वर्ष पहले मिलाया गया था। इस संघ में से अब कर्नाटक और सिंध प्रेसिडेंसी से अलग होने की मांग कर रहे हैं। अलग होने के लिए दलील यह दी गई है कि प्रांत प्राकृतिक इकाई नहीं है। यह जातीय या भाषायी एकता की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता और वस्तुत: समजातीय समूहों को जानबूझ कर तोडकर तथा उन्हें विषय जातीय समूहों से जोड़ कर इसे बनाया गया है। इसे एक बुराई कहा गया है। इस बात पर जोर देकर कहा गया कि प्रांतों के टुकड़े करके उनकी विशिष्ट संस्कृतियों का गला घोंट दिया गया है और दूसरे बड़े समूहों के साथ मिला कर उन्हें राजनीतिक रूप से पंगु बना दिया गया है।

2. इसमें कोई शक नहीं कि कर्नाटक के मामले में इस दलील में कुछ बल है। यह सच है कि प्रशासन की दृष्टि से कर्नाटक के कई छोटे-छोटे भाग करके उन्हें गैर-कर्नाटक क्षेत्रों से मिला दिया गया है और इस तरह उनका अलगाव हो गया है। इस बात का भी खंडन नहीं किया जा सकता कि कर्नाटक का जो भाग बंबई प्रेसिडेंसी से मिलाया गया है, उसे बंबई विधान परिषद में उचित प्रतिनिधित्व न मिलने के कारण राजनीतिक रूप से हानि हुई है। यह सब तो है ही। इसके अलावा भी मैं बंबई प्रेसिडेंसी से कर्नाटक के अलग होने का विरोध करता हूं। 'एक भाषा एक प्रांत' का सिद्धांत इतना बड़ा है कि इसे व्यावहारिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता। इस सिद्धांत को यदि लागू किया जाए, तो बहुत से प्रांत बनाने पड़ेंगे और उससे सिद्ध हो जाता है कि वह व्यवहार योग्य नहीं है। यदि केवल "जहां भाषा स्पष्ट सांस्कृतिक भाषा है, जिसका अपना अतीत और भविष्य है" और "जहां सशक्त

भाषायी चेतना विद्यमान है" जैसे सिद्धांत पर चलें, तो भी इसे व्यवहार्य नहीं बनाया जा सकता। कारण यह है कि प्रत्येक ऐसी भाषा को जिसका अपना उज्ज्वल अतीत रहा है, यदि अवसर दिया जाए, तो उसका भविष्य भी उज्ज्वल होगा और यदि प्रत्येक भाषायी समूह को शासन सत्ता सौंपी जाए, तो उसमें भाषायी चेतना पैदा हो जाएगी। मैं जानता हूं कि शायद इसके कारण कन्नड़ संस्कृति की बलि देनी पड़े, यद्यपि मुझे विश्वास नहीं है कि मौजूदा व्यवस्था को बनाए रखने का यह परिणाम होगा ही। लेकिन यदि यही परिणाम हो तो भी मेरे विचार से अफसोस की कोई बात नहीं है, क्योंकि मेरी राय है कि आज वक्त का सबसे बड़ा तकाजा यह है कि जनता जनार्दन के मन में एक साझी राष्ट्रीयता की भावना पैदा की जाए। यह भावना नहीं चलेगी कि पहले वे भारतीय हैं और फिर हिंदू, मुसलमान या सिंधी और कन्नड़ हैं, बल्कि यह कि वे मूलत: भारतीय हैं और अंतत: भारतीय ही हैं। यदि हमारा आदर्श यही है, तो ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जिससे स्थानीय देशभक्ति और वर्गचेतना की भावना को कट्टरता का रूप मिले। प्रांत के मौजूदा विषमजातीय स्वरूप के पक्ष में बात यह है कि यह बहुभाषी लोगों को भागीदारी के समान अवसर प्रदान करता है। इससे तो अलगाववादी भावना के प्रसार पर काफी हद तक अंकुश लगेगा ही। मेरा विचार है कि जिस व्यवस्था का परिणाम ऐसा लाभप्रद हो, उसे बनाए रखना चाहिए। अत: मैं कर्नाटक की अलग होने की मांग का विरोध करता हूं।

3. मेरे साथियों ने कर्नाटक के अलग होने के दावे को सरसरी तौर पर इसलिए खारिज कर दिया कि कोई गवाह इसके समर्थन में सम्मेलन के सामने नहीं आया। मुझे इसके बारे में कोई अफसोस नहीं है, क्योंकि इस विषय पर मैं अपने साथियों की सिफारिश से सहमत हूं। लेकिन हैरानी इस बात की है कि सिंध के बारे में मेरे साथियों का निष्कर्ष अलग है। मेरी राय में कर्नाटक की तुलना में सिंध का कोई मामला नहीं बनता। इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि बंबई प्रेसिडेंसी में शामिल होने से सिंध को काफी लाभ हुआ है। काफी दूरी होने के बावजूद सिंध को परिवार के गौण सदस्य का दर्जा देने के बदले अति सम्मानजनक शर्तों पर एक पड़ोसी का ऊंचा दर्जा दिया गया है। सिंध के प्रशासनिक कार्यों की देखरेख एक कमिश्नर करता है, जिसक पद लगभग गवर्नर जैसा है। अत: कहना पड़ेगा कि सिंध ने अपनी स्वतंत्रता की गरिमा बनाए रखी है। उसे अपनी पुरानी और परंपरागत विधि संहिता बनाए रखने की अनुमति दी गई है। केवल प्रेसिडेंसी के लिए पास किया गया कोई भी नया कानून शायद ही कभी सिंध पर लागू किया गया हो, जब तक कि वह उसके लिए विशेष रूप से लाभकारी न समझा गया हो। सिंध के ट्रिब्यूनल प्रेसिडेंसी के ट्रिब्यूनलों के अधीन नहीं है। वे पूर्णत: स्वतंत्र हैं। उसकी लोक सेवा प्रेसिडेंसी की लोक सेवा से वस्तुत: अलग है और उसमें सिंध के ही लोग हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रेसिडेंसी के साथ जुड़ने से उसे कोई आर्थिक हानि हुई है। इसके विपरीत वह प्रेसिडेंसी के सहारे इतनी तेजी

से तरक्की करने में समर्थ हुआ है, जितनी वह अपने बलबूते पर नहीं कर सकता था। प्रेसिडेंसी के साथ मिलने से ही वह उसके विशाल संसाधनों का इतना प्रचुर उपयोग भी कर सका है। सरकार ने भी सिंध की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया है, जो दिया भी जाना चाहिए था। असल बात यह है कि सुधार लागू होने के बाद से सिंध ने बंबई सरकार पर जितना प्रभाव डाला है वह उसके आकार के अनुपात से बहुत अधिक है। इन तथ्यों को देखते हुए यह समझना मुश्किल है कि सिंध को अलग होने से इससे अधिक और क्या मिलेगा ? उसे प्रेसिडेंसी के साथ मिलने से कोई हानि नहीं हुई है और अलगाव के समूचे लाभ मिले हैं।

4. यह भी स्पष्ट है सिंध के सभी संप्रदायों ने मिलकर यह मांग नहीं की है। कमीशन और कमेटी के संयुक्त सम्मेलन के सामने जो सबूत पेश किए गए, उनसे सिंध के मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच तीव्र मतभेद का पता चला। जहां मुसलमान अलग होने के पक्ष में थे, वहां हिन्दू उसका विरोध कर रहे थे। इस प्रश्न पर जब मैंने सिंध के जनमत के इतिहास का अध्ययन किया तो मुझे ज्ञात हुआ कि सिंध के राजनीतिक रूप से प्रबुद्ध लोगों ने सिंध की स्थिति के बारे में केवल 1917 में एकजुट होकर प्रश्न उठाया था। अगस्त 1917 की घोषणा के बाद भावी सुधार योजना में सिंध के स्थान के बारे में विचार करने के लिए नवम्बर 1917 में सिंधियों का एक विशेष सम्मेलन हुआ। सिंध के जाने-माने मुसलमान नागरिक माननीय श्री जी. एम. भुरगरी सम्मेलन की स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। सम्मेलन के अध्यक्ष एक हिन्दू सज्जन श्री हरचंदराय विशिनदास थे। सम्मेलन के सामने चार विकल्प थे, अर्थात् : (1) सिंध को अलग प्रांत बनाना, (2) सिंध और बिलोचिस्तान को मिलाकर एक प्रांत बनाना, (3) सिंध को पंजाब के साथ मिलाना, और (4) सिंध का बंबई के साथ ही रहना। यह बात उल्लेखनीय है कि इस विशेष सम्मेलन ने चार विकल्पों में से तीन विकल्प अस्वीकार कर दिए। इनमें से सिंध को अलग प्रांत बनाने का प्रस्ताव भी शामिल था। सम्मेलन ने न केवल अलग प्रांत के प्रस्ताव को ठुकरा दिया, बल्कि हिन्दुओं और मुसलमानों के समर्थन से एक प्रस्ताव भी पास किया। इस प्रस्ताव के अनुसार सिंध के कमिश्नर का दर्जा कम करके उसे प्रेसिडेंसी के डिविज़नल कमिश्नर के बराबर करके सिंध और प्रेसिडेंसी के बीच घनिष्ठ मेल की सिफारिश की गई। हिन्दुओं और मुसलमानों का एक प्रतिनिधिमंडल भारत मंत्री श्री मोन्टेग्यू और वायसराय लार्ड रीडिंग से मिलने गया। कहा जाता है कि प्रतिनिधिमंडल ने जोर देकर कहा कि सिंध अलग प्रांत नहीं बनना चाहता। सम्मेलन के 1918, 1919 और 1920 में हुए बाद के अधिवेशनों में भी दोनों संप्रदायों के सदस्यों ने यही रुख अपनाया। असहयोग आन्दोलन की लहर के कारण 1920 के बाद सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मुसलमानों ने ही अपना रुख बदला है और वे ही स्वीकृत दृष्टिकोण से पीछे हटे हैं। अत: यह मांग संयुक्त मांग न होकर केवल एक वर्ग की मांग है, जो केवल मुस्लिम संप्रदाय द्वारा की गई है।

5. ऐसी वर्गीय मांग के बारे में सहानुभूतिपूर्वक विचार करने से पहले इस बात की तसल्ली कर लेनी चाहिए कि अलग होने का जो उद्देश्य बताया गया है, वह उचित है या नहीं। इस मांग को रखने वाले मुसलमानों के प्रतिनिधिमंडल ने और इसका विरोध करने वाले हिन्दुओं के प्रतिनिधिमंडल ने मांग और उसके विरोध का वास्तविक उद्देश्य प्रकट न करने की भरसक कोशिश की। फिर भी, जो लोग असलियत जानते थे, उन्होंने महसूस किया होगा कि दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी बात खुल कर नहीं बताई है। लेकिन इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से बताना ही चाहिए, ताकि इस पर इसके गुण-दोषों के अनुसार विचार किया जा सके। जहां तक मुझे जानकारी है, उसके आधार पर मैं इस उद्देश्य को स्पष्ट करना चाहता हूं। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच 'सदभावपूर्ण सौहार्द' के लिए मुस्लिम संप्रदाय के प्रतिष्ठित लोगों ने 20 मार्च 1927 को कुछ शर्तें रखीं जिन्हें 'दिल्ली मुस्लिम प्रस्ताव' कहते हैं। इन प्रस्तावों के अनुसार मांग की गई कि (1) सिंध को अलग प्रांत बनाया जाए, (2) उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत को अन्य प्रांतों के बराबर समझा जाए, और (3) पंजाब तथा बंगाल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात में हो। इन प्रस्तावों को सरकारी तौर पर देखने से ही पता चल जाता है कि इस योजना का उद्देश्य मौजूदा व्यवस्था में से यथासंभव अधिक से अधिक मुसलमान-बहुल प्रांत बनाना है। फिलहाल पंजाब और बंगाल ऐसे दो प्रांत हैं जहां मामूली सा मुस्लिम बहुमत है। इन प्रांतों में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व की मांग करने का उद्देश्य मुसलमानों के सांप्रदायिक बहुमत को राजनीतिक बहुमत बनाना है, ताकि इन प्रांतों में निश्चित रूप से मुस्लिम सरकार बन सके। बिलोचिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में मुसलमानों का भारी बहुमत है, लेकिन वे अभी भी उत्तरदायी सरकार में शामिल नहीं हैं। नतीजा यह है कि मुस्लिम बहुमत सत्तारूढ़ बहुमत नहीं है। इन प्रस्तावों का उद्देश्य इस विसंगति को दूर करना है, ताकि वे ऐसे चार मुस्लिम-बहुल प्रांत बना सकें जहां मुस्लिम सरकार बनाना सुनिश्चित हो। चूंकि सिंध में मुसलमानों की प्रधानता है, अतः सिंध को अलग प्रांत बनाने की मांग करना योजना में शामिल मुस्लिम प्रांतों की सूची में पांचवां प्रांत जोड़ना है। तो इन मुस्लिम प्रांतों को बनाने का उद्देश्य क्या है? खुद मुसलमानों की नज़रों में भी इसका उद्देश्य सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों जैसा ही है। इस योजना को तैयार करने वालों का कहना है कि यदि मुस्लिम प्रांतों का उनका प्रस्ताव मान लिया जाए, तो वे सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों की मांग छोड़ने और सभी प्रांतीय विधानमंडलों तथा केंद्रीय विधानमंडल में संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों को मानने के लिए तैयार है। तर्क की समानता से यह निष्कर्ष निकलता है कि मुस्लिम प्रांत बनाने का उद्देश्य मुस्लिम अल्पसंख्यकों की रक्षा करना है, क्योंकि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों का भी यही उद्देश्य था। योजना को सरसरी तौर पर देखने से यह पता नहीं चलता कि जिन प्रांतों में हिन्दुओं की प्रधानता है, वहां बहुसंख्यक हिन्दुओं के मुकाबले में अल्पसंख्यक मुसलमानों की रक्षा करने में मुस्लिम

प्रांतों की रचना कैसे सहायक होगी। ऐसा लगता है कि मुस्लिम अल्पसंख्यकों को सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों से जो सुरक्षा मिलती है या मिलती प्रतीत होती है, उसे खत्म करके यह योजना वस्तुत: उनकी स्थिति कमजोर कर रही है। लेकिन यदि हम योजना की गहराई से जांच करें,तो देख सकते हैं कि यह उतनी निर्दोष और बेकार नहीं है जितनी कि ऊपर से दिखाई देती है। मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए यह मूलत: एक बढ़िया ढाल है। यदि हिंदू प्रांतों में बहुसंख्यक हिंदू अल्पसंख्यक मुसलमानों पर अत्याचार करें,तो योजना पांच मुस्लिम प्रांतों में बहुसंख्यक मुसलमानों को अल्पसंख्यक हिंदुओं पर अत्याचार करने का अवसर प्रदान करती है। यह ईंट का जवाब पत्थर से देने की सुरक्षा पद्धति है। आतंक के बदले आतंक और अंतत: अत्याचार के बदले अत्याचार इसका मूल मंत्र है। पूरी योजना का और सिंध को अलग प्रांत बनाने का यही उद्देश्य है। यदि इस बारे में कोई शक हो तो मैं उसे नेहरू समिति की रिपोर्ट का हवाला देकर दूर करना चाहता हूं। रिपोर्ट में कहा गया है : "हम मानते हैं कि सिंध को अलग करने की मुस्लिम मांग सर्वाधिक संतोषजनक ढंग से नहीं की गई थी। यह सांप्रदायिकता पर आधारित थी और बेमतलब ऐसे दूसरे मुद्दों से जुड़ी हुई थी, जिनसे इसका कोई सरोकार नहीं था।" नेहरू समिति सिंध के अलग होने का असली कारण बताने से कतराई। इससे यह धारणा बनती है कि समिति को जो कारण पता चला होगा,वह निश्चय ही प्रशंसनीय नहीं होगा। लेकिन यदि हम इससे सहमत होना चाहते हैं,तो बेहतर यही है कि हम इसके बारे में बुरी से बुरी बात भी जान लें। अत: मैं इस पर से पर्दा हटा कर मौलाना अबुल कलाम आजाद को ही यह बताने का मौका दूंगा। मुस्लिम लीग के हाल ही में कलकत्ता में हुए अधिवेशन में उन्होंने एक भाषण दिया। रूखेपन और स्पष्टता के कारण इस भाषण की प्रशंसा की जानी चाहिए। भाषण के दौरान उन्होंने कहा: "लखनऊ समझौते द्वारा उन्होंने अपने हितों को बेच डाला। गत मार्च के दिल्ली प्रस्तावों ने भारत में मुसलमानों के वास्तविक अधिकारों की मान्यता का दरवाज़ा पहली बार खोला है। 1917 के समझौते के द्वारा पृथक निर्वाचन क्षेत्रों से उन्हें केवल मुस्लिम प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ,लेकिन मुसलमान बिरादरी के लिए,अस्तित्व के लिए जो बात महत्वपूर्ण थी वह थी उनके संख्याबल की मान्यता। दिल्ली प्रस्तावों ने ऐसे हालात पैदा किए,जिनसे उन्हें भावी हिन्दुस्तान में उचित हिस्सा मिलने की गारंटी मिलेगी। बंगाल और पंजाब में उनका मौजूदा मामूली-सा बहुमत केवल जनसंख्या संबंधी आंकड़ा था। लेकिन दिल्ली प्रस्तावों से उन्हें पहली बार पांच प्रांत मिले, जिनमें से कम से कम तीन प्रांतों (सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत और बिलोचिस्तान) में उनका असल में भारी बहुमत था। यदि मुसलमान इस महत्वपूर्ण कदम को नहीं समझे,तो वे जीने के काबिल नहीं थे (तालियां)। अब पांच मुस्लिम प्रांतों की तुलना में नौ हिंदू प्रांत होंगे और नौ प्रांतों में हिंदू जैसा व्यवहार करेंगे वैसा ही व्यवहार पांच प्रांतों में मुसलमान हिंदुओं के साथ करेंगे। क्या यह बड़ा फायदा नहीं था? क्या मुस्लिम

अधिकारों को मनवाने के लिए एक नया हथियार हाथ नहीं लग गया था?" (हिंदुस्तान टाइम्स, 3 जनवरी 1928)। कोई भी व्यक्ति जो सरल अंग्रेजी का सीधासादा अर्थ समझता है, सिंध के अलग होने की मांग के असली उद्देश्य के बारे में गलती नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि सिंध के भाग्य से असली उद्देश्य का कोई संबंध नहीं है। यह मुस्लिम अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए तैयार की गई योजना का एक भाग है और इसका आधार यह सिद्धांत है कि शांति बनाए रखने का सबसे अच्छा तरीका युद्ध के लिए तैयार रहना है।

6. मांग का असली उद्देश्य जानने के बाद प्रश्न यह है कि क्या हम इससे सहमत हों? कम से कम मैं तो इससे सहमत नहीं हो सकता और मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि कोई भी व्यक्ति जो अच्छा प्रशासन चाहता है, इससे सहमत नहीं होगा। नेहरू समिति ने जिस प्रकार सिंध को अलग करने के पक्ष में अपने विचार प्रकट किए हैं, उसी प्रकार यह भी कहा जाएगा कि "पेश करने के तरीके से प्रस्ताव के गुणदोष कम नहीं हो जाते।" मुझे इस रुख पर आपत्ति है। मेरा विचार है कि तरीके से प्रयोजन का पता चलता है। प्रयोजन कोई छोटी-मोटी बात नहीं है, बल्कि स्थिति का खाका बदलने के लिए काफी है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि किसी संस्था को चलाने वाली और उसकी दिशा निश्चित करने वाली ताकत का केंद्र वह प्रयोजन ही है जिसने संस्था को बनाया है। इस योजना का प्रयोजन निस्संदेह बहुत भयानक है। इसमें न्याय और शांति बनाए रखने के लिए बदले की भावना का सहारा लिया गया है। इस योजना में, दूसरे प्रांतों में उनके धर्मावलंबी साथियों द्वारा किए गए अत्याचारों या पापों के लिए निर्दोष अल्पसंख्यकों को - मुस्लिम प्रांतों में हिंदुओं और हिंदू प्रांतों में मुसलमानों को - सजा देने का मौका दिया गया है। जो पद्धति अल्पसंख्यकों को उनके अपने ही प्रांत में नागरिक के बदले बंधक समझने की अनुमति देती है, उसकी अपने आप निंदा होनी चाहिए। ये अल्पसंख्यक वे लोग हैं, जिनके अधिकार उनके गलत व्यवहार के कारण नहीं जब्त किए जाते बल्कि कहीं और उनके भाई-बंधुओं ने जो गलत व्यवहार किया होगा, उसके दंडस्वरूप समाप्त किए जाते हैं। और कौन कह सकता है कि जिस शिकायत के आधार पर अधिकार जब्त किए जाते हैं वह हमेशा सही और ठोस होगी? शिकायत से आदमी अक्सर केवल दुख या तकलीफ़ महसूस करता है, जिससे अल्पसंख्यकों के खिलाफ कोई भी छोटी या बड़ी बात प्रांतों के बीच लड़ाई का कारण बन जाती है। ऐसी योजना के परिणाम इतने भयंकर हैं कि इनके बारे में धैर्य से नहीं सोचा जा सकता। हिंदू प्रांतों में हिंदुओं को मुसलमानों पर अत्याचार करने के वैसे ही अवसर मिलने से योजना अच्छी नहीं हो जाती। इसमें तो मनमुटाव और विघटन के बीज छिपे हैं। यह योजना इतनी खराब है कि यदि मुसलमान इसके बिना अपने आप को सुरक्षित नहीं महसूस कर सकते तो मैं चाहूंगा कि स्वराज को तब तक के लिए टाल देना चाहिए, जब तक कि पारस्परिक विश्वास से उन्हें यह भरोसा न हो जाए कि वे इस योजना के बिना काम चला सकते हैं।

नेहरू समिति ने तर्क दिया है कि "भारत में जनसंख्या का जो वितरण आज है, उसके लिए इतिहास में हुई घटनाओं का लम्बा सिलसिला उत्तरदायी है" – और सांप्रदायिक प्रांत बनाने में, "हमें तथ्यों को केवल उनके सही रूप में समझना है।" यह बेशक सही है। लेकिन मुद्दा यह है कि ऐसे समय में जब सांप्रदायिक भावना पूरे उफान पर है और राष्ट्रीय भावना अत्यधिक उतार पर, तो क्या हमें ऐसे सांप्रदायिक प्रांत बनाने चाहिए। जब हिंदू और मुसलमान सांप्रदायिक भावना से ऊपर उठ जाएं और यह महसूस करने लगें कि वे मूलतः और अंततः भारतीय ही हैं, तो ऐसे प्रांत बनाए जा सकते हैं। जो भी हो, इस प्रश्न को तब तक स्थगित किया जा सकता है जब तक कि दोनों यह महसूस न करने लगें कि वे भारतीय पहले हैं और उसके बाद हिंदू तथा मुसलमान हैं। सिंध को अलग करने के प्रश्न पर मेरे साथियों ने जो सहमति व्यक्त की है, मैं अपने आपको उससे इसी आधार पर अलग करता हूं।

7. आप देखेंगे कि सिंध को प्रेसिडेंसी से अलग करने पर जो वित्तीय कठिनाइयां सामने आएंगी, उनके बारे में मैंने कुछ नहीं कहा है। इसका कारण यह नहीं है कि मैं उन्हें कोई महत्व नहीं देता। मैं उन्हें महत्वपूर्ण समझता हूं। लेकिन मेरा विचार है कि केवल वित्तीय कठिनाइयां ही निर्णायक नहीं हो सकतीं और यदि मैंने उनका संकेत नहीं किया है, तो इसका कारण मेरा यह विचार है कि वित्तीय कठिनाइयां दूर करने के बाद भी सिंध के अलग होने के बारे में मैंने जो आपत्ति की है, वह बनी रहेगी।

परिच्छेद II

प्रांतीय कार्यपालिका

अध्याय 1

दोहरा शासन बनाम एकीकृत शासन

8. मेरे साथियों ने सिफारिश की है कि नई शासन प्रणाली लागू होने के बाद, पांच वर्ष तक कानून और व्यवस्था को आरक्षित विषय रहने दिया जाए। यदि उनकी सिफारिश का केवल यही आशय होता कि थोड़ी सी प्रतीक्षा कर ली जाए और परिषद (काउंसिल) को मौका दिया जाए कि वह उस बीच अपने कामकाज को जमा सके, तो मैं अपने साथियों से असहमत न होता। लेकिन दुर्भाग्य से उनकी सिफारिश में इससे भी कुछ ज्यादा है। इसमें एक शर्त है कि, ''इस अवधि के बाद कानून और व्यवस्था का विषय हस्तांतरित किया जाए या नहीं इसका निर्णय उच्च सदन और गवर्नर की सहमति से विधान परिषद पर छोड़ देना चाहिए।'' मैं इस सिफारिश से सहमत नहीं हूं,क्योंकि इसका मतलब दोहरे शासन को अनिश्चित काल तक जारी रखना है। ऐसी सिफारिश का समर्थन तभी किया जा सकता है,जब हम यह मान लें कि दोहरा शासन व्यावहारिक शासन प्रणाली है और चूंकि यह पहले भी सफल रही है, अत: भविष्य में भी सफल हो सकती है। मेरे विचार से यह कल्पना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है।

9. दोहरी शासन प्रणाली के असंतोषजनक होने के कई कारण बताए गए हैं। यह सही है कि बचाव के उपाय के रूप में जो कुछ प्रतिबंध लागू किए गए थे,उनसे सरकार के हस्तांतरित विषयों के कार्य में बाधा पड़ी है। मंत्रियों के नियंत्रण में जो विषय हस्तांतरित किए गए थे, उन सबका संबंध जन कल्याण से था,जो कानून और व्यवस्था बनाये रखने से संबंधित विषयों से नितांत अलग है। असल में, अधिकतर ऐसे विषय ही हस्तांतरित किए गए थे,जो इसी प्रकार के थे। अत: नीति के अनुसार प्रेसिडेंसी की वित्त व्यवस्था मंत्री के अधीन होनी चाहिए थी। क्योंकि स्पष्ट है कि जब तक वित्त विभाग किसी नीति की सफलता

के लिए साधन तथा उपाय उपलब्ध न कराए तब तक उसके सफल होने की कोई संभावना नहीं है। वित्त विभाग से यह आशा तभी की जा सकती है, जब उसका संबंध सरकार के मंत्रीपक्ष से हो, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। वित्त विभाग के गठन और नियमन तथा कार्यों के लिए अधिनियम के अधीन नियमों द्वारा धारा 45 क (3) में व्यवस्था की गई थी। इसके अनुसार गठित विभाग न तो हस्तांतरित था और न ही आरक्षित। अपितु यह समान रूप से सरकार के दोनों पक्षों के लिए था। लेकिन जैसाकि हस्तांतरण नियामावली के नियम 36(1) में कहा गया था कि वित्त विभाग पर कार्यकारी परिषद् के किसी सदस्य का नियंत्रण होना चाहिए, अतः वह विभाग वस्तुतः आरक्षित विभाग बन गया था। जो कार्यकारी पार्षद विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी न हों, उसके हाथों में विभाग सौंपने का स्वाभाविक परिणाम यही है कि विभाग आरक्षित रहे। ऐसे विभाग का प्रमुख प्रायः आरक्षित विभागों जैसा ही कार्य करेगा, जो मंत्रियों के लिए हानिकर होगा। हस्तांतरित विषयों के अहित का एक और कारण वे अधिकार थे, जो इस संदर्भ में गवर्नर को दिए गए थे। धारा 52 (3) में कहा गया था कि जब तक असहमति का पर्याप्त कारण न हो, हस्तांतरित विषयों में गवर्नर मंत्रियों की सलाह से काम करेगा। लेकिन एक आम शिकायत यह रही है कि गवर्नर मूल मतभेदों की असाधारण स्थिति में तो हस्तक्षेप करते ही हैं, वे अन्य मामलों में भी हस्तक्षेप कम करने के बदले यह मानते हैं कि मंत्री केवल उनके सलाहकार हैं और वे उचित समझें तो उनकी सलाह को ठुकरा सकते हैं। इस गलत व्याख्या से मंत्रियों की स्थिति कार्यकारी पार्षदों की स्थिति से भी बदतर हो गई। कार्यकारी पार्षदों की राय को सामान्य मामलों में बहुमत के अतिरिक्त रद्द नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत धारा 52(3) की गवर्नरों द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार मंत्री गवर्नर की कृपा पर निर्भर थे और उन्हें वह सुरक्षा प्राप्त नहीं थी, जो कार्यकारी पार्षदों को प्राप्त थी। मंत्रियों की गतिविधियों को पंगु करने और उनके मुकाबले गवर्नरों की शक्ति को बढ़ाने में एक और बात सहायक हुई। गवर्नर को दिए गए अनुदेश पत्र में उसे प्रेसिडेंसी में सेवारत सेवाओं के सब सदस्यों के हितों की रक्षा का भार सौंपा गया था, ताकि वे वैध तरीकों से अपना कर्तव्य पूरा कर सकें और अपने सब मान्यता प्राप्तअधिकारों तथा विशेषाधिकारों का उपयोग कर सकें। यह कर्तव्य केवल सेवाओं के हितों की रक्षा करने तक सीमित था। लेकिन गवर्नरों ने इन हिदायतों की और विशद व्याख्या करके इस बात पर जोर दिया कि सेवा-संबंधी सब मामले, जिनमें मंत्रियों के विभागों में उनकी नियुक्ति, तैनाती और तरक्की भी शामिल है, गवर्नरों के अधीन होने चाहिए। बंबई में तो गवर्नर ने कार्यकारी पार्षदों के अधीन काम कर रहे सेवाओं के सदस्यों के बारे में भी इस अधिकार का दावा किया। यह जताने के लिए कि गवर्नर को यह अधिकार प्राप्त हैं, "नियुक्त करते हुए गवर्नर इन काउंसिल को प्रसन्नता है" के सामान्य रूप को बदल कर "नियुक्त करते हुए गवर्नर को प्रसन्नता है" लिखा जाने लगा। मंत्री के विभाग के सचिव की स्थिति ने भी मंत्री के अधिकार को कम करने और गवर्नर की निरंकुशता को बढ़ाने में सहायता की, क्योंकि जिन

मामलों में सचिव का मंत्रियों के निर्णय से मतभेद होता था, उन सब मामलों में वह अपने राजनीतिक प्रमुख को लांघकर सीधे ही गवर्नर की आज्ञा से निर्णय बदलवा सकता था।

10. निश्चय ही इन सब बातों का दोहरी शासन प्रणाली के संतोषजनक कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अक्सर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यदि ये कारण न होते तो दोहरा शासन व्यावहारिक शासन प्रणाली हो सकती थी और मैं इसी बात के प्रति सचेत करना चाहता हूं। मेरा विचार है कि दोहरी शासन प्रणाली अपने आप में अव्यावहारिक शासन प्रणाली है। सौभाग्य से यह राय मेरी अकेले की ही नहीं है। बंबई सरकार के कुछ सदस्य दोहरी शासन प्रणाली को जारी रखने का व्यक्तिगत रूप से समर्थन करते हैं। लेकिन बंबई सरकार ने 1919 में ही इसे अव्यावहारिक बता कर निकम्मा ठहरा दिया था और इसके शब्द उद्धहरण योग्य हैं:"सरकारी रिकार्ड को देखने से पता चलेगा कि सरकारी विभागों में शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न चर्चा और निपटान के लिए आया हो,जिस पर दूसरे विभाग के अधिकार क्षेत्र के विचार से सावधानीपूर्वक जांच करने की आवश्यकता न हो। समग्रत: सरकार का पहला कर्तव्य शांति और व्यवस्था बनाए रखना, शक्तिशाली से कमजोर की रक्षा करना और यह देखना है कि सभी समस्याओं के समाधान में प्रभावित अनेक विभिन्न वर्गों के परस्पर विरोधी हितों पर उचित ध्यान दिया जाए। इसका मतलब यह हुआ कि यदि किसी विभाग का प्रभारी मंत्री जो भी महत्वपूर्ण प्रस्ताव पेश करे,तो प्राय: वे सब के सब आरक्षित विभागों के प्रभारी अधिकारियों के पास भेजे जाऐंगे,क्योंकि शायद ही कोई ऐसा विषय हो,जो सरकार के दोनों भागों के अन्तर्गत न आता हो। अत: मंत्री के अधीन किसी हस्तांतरित विषय से संबंधित मामले को आरक्षित विषयों वाले विभाग के पास भेजे बिना ही निपटाने का सिद्धांत निराधार है।"

11. विषयों के विभाजन के कारण होने वाला दोहरापन ऐसा स्वाभाविक दोष है,जो दोहरे शासन को व्यावहारिक बनाता है । एक दोष और भी है। कार्यपालिका के लिए सामान्य नीति के अनुसार एकजुट होकर काम करना संभव नहीं है। सामान्य शासनादेश से पैदा होने वाली सामान्य निष्ठा से ही ऐसी एकजुटता आ सकती है। मंत्री विधान मंडल के सदस्यों में से नियुक्त किए जाते हैं। अत: वे इसके प्रति दायित्व समझने के लिए बाध्य हैं। उन्हें इसीलिए नियुक्त किया जाता है और यदि वे अपना दायित्व न समझें, तो अभीष्ट योजना पूरी नहीं होती। विधानमंडल से जोड़ने वाली प्रत्येक कड़ी उन्हें उनके सरकारी साथियों से अलग थलग ही करती है और नतीजा यह होता है कि दोहरे शासन में निहित दोहरापन उभरकर सामने आ जाता है। जब यह दोहरापन सरकार के दोनों आधे-अधूरे भागों में जड़ जमा लेता है, तो सरकार चलाना असंभव हो जाता है। मंत्रियों और कार्यकारी पार्षदों द्वारा परिषद् में भाषणों और वोट से एक-दूसरे का विरोध करने के अनेकों उदाहरणों से यह संभावना सिद्ध हो जाती है। दोहरे शासन में इस दोहरेपन पर मिलीजुली सरकार से नियंत्रण रखा जाता है। मिलीजुली सरकार पूर्णत: अलग-अलग शासनादेश वाले दो दलों के बीच थोपा गया और बनावटी मेल है,जिससे आसानी से गतिरोध पैदा हो सकता है। बंबई प्रेसिडेंसी में ऐसा गतिरोध नहीं हुआ है। इसका

मतलब यह नहीं है कि दोहरे शासन में यह दोष निहित नहीं है। इससे साफ-साफ पता चलता है कि इस मिली-जुली सरकार में मंत्री पार्षदों के आगे झुक गए थे।

12. इन निहित दोषों के होते हुए भी, कुछ लोगों की राय है कि इस प्रेसिडेंसी में दोहरा शासन सफल रहा है। इस राय को तभी माना जा सकता है, जब इसका मतलब यह हो कि गवर्नर संविधान को निलंबित करने या भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रदत्त आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं था, यह सही है। लेकिन प्रश्न यह नहीं है कि दोहरा शासन चला नहीं। प्रश्न यह है कि क्या दोहरा शासन उत्तरदायी शासन के रूप में चला, क्योंकि इस बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि 1919 में अन्य अनेक ऐसी वैकल्पिक शासन प्रणालियां थीं, जो स्वीकृति के लिए दोहरे शासन से होड़ कर रही थीं। कांग्रेस लीग योजना थी और प्रांतों के प्रमुखों की योजना थी। औरों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन दोहरे शासन को तरजीह देकर इन सब शासन प्रणालियों को अस्वीकार कर दिया गया था, क्योंकि ये उत्तरदायी शासन को कसौटी पर खरी नहीं पाई गई। अत: दोहरी शासन प्रणाली के मूल्यांकन का आधार केवल यही श्रेष्ठ कसौटी होनी चाहिए। यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखकर दोहरे शासन प्रणाली का मूल्यांकन करने की कोशिश करें, तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रांत में दोहरा शासन असफल रहा है। उत्तरदायी शासन का अर्थ है कि कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर बनी रह सकती है, जब तक उसे सदन में बहुमत प्राप्त हो। यही मंत्री वर्गीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत का सार है। अब यदि हम बंबई प्रेसिडेंसी में दोहरे शासन के कार्य को इस कसौटी पर कसें और हस्तांतरित विषयों से संबंधित प्रस्तावों पर जितनी बार परिषद् में विभाजन हुआ है, उस पर विचार करें, तो एक अजीब तमाशा दिखाई देता है। वह यह है कि सदन में बार-बार मंत्रियों की पराजय हुई है और फिर भी वे अपने पदों पर बने रहे हैं। जैसे कुछ हुआ ही न हो। यह शोचनीय स्थिति निम्नलिखित सारणी में दिखाई गई है।

वर्ष	विभाजनों की कुल संख्या	विभाजन जिनमें सरकार तटस्थ रही	सरकार की पराजय की संख्या	यदि सरकारी गुट को निकाल दें तो सरकार की पराजय की संख्या	सरकार की विजय की संख्या	दोनों पक्षों की बराबरी की संख्या
1921	3	-	2	2	1	-
1922	17	-	4	8	9	-
1923	4	1	1	2	1	-
1924	19	-	10	14	5	1
1925	30	1	-	11	18	-
1926	3	-	-	1	2	1
1927	26	-	3	10	16	-
1928	2	-	1	1	1	-

आंकड़ों से पता चलता है कि 1921 में तीन विभाजनों में से दो में मंत्रियों की हार हुई। 1922 में 17 में से 8 में, 1924 में 19 में से 14 में, 1925 में 30 में से 11 में, 1926 में 3 में से 1 में, 1927 में 26 में से 10 में और 1928 में 2 में से 1 में हार हुई। इस सब के होते हुए भी, इस प्रेसिडेंसी में एक बार भी किसी मंत्री ने त्यागपत्र नहीं दिया। इन तथ्यों को देखते हुए ऐसे किसी भी निष्कर्ष से सहमत होना असंभव है कि जिसका आशय हो कि दोहरा शासन उत्तरदायी शासन प्रणाली के रूप में चला है।

13. निश्चय ही इस बारे में आपत्ति की जा सकती है कि यदि मंत्रियों ने त्यागपत्र नहीं दिया,तो इसका कारण यह है कि इन विभाजनों का उद्देश्य परिषद द्वारा उनके प्रति अविश्वास प्रकट करना नहीं था। यदि ऐसा होता तो परिषद् उन मंत्रियों को धन देने से मना कर देती जिनके प्रति इसने अविश्वास प्रकट किया था। बंबई विधान परिषद इतनी कमजोर थी कि वह मंत्रियों पर प्रभावी ढंग से अपनी राय भी नहीं थोप सकती थी। यह एक सर्वविदित तथ्य है,जिसे बताने की जरूरत नहीं है। वह विभिन्न धड़ों व गुटों में बंटी हुई थी और वह सिद्धांतों के बदले व्यक्तियों का अनुकरण करती थी। उसके इस आत्मघाती तरीके ने इसे कार्यपालिका के हाथों का खिलौना बना दिया। स्थिति इतनी खराब थी कि समूचा सदन अपने उस विशिष्ट दायित्व का भी निर्वाह नहीं कर सका,जिसकी अपेक्षा अपने अधिकार के प्रति सजग किसी निर्वाचित सदन से की जाती है। कोई भी निर्वाचित सदन, चाहे उस पर कार्यपालिका का कितना ही कठोर अंकुश क्यों न हो, पद के लिए सदन के किसी सदस्य की उम्मीदवारी को तभी स्वीकार करेगा,जब वह इस बात का परिचय दे दे कि उसके भीतर भाषण की कुछ क्षमता है, किसी विषय के निपटारे के लिए उसके पास कुछ कौशल है, उसके पास कुछ हाजिरजवाबी है और इन सबसे बढ़कर कुछ ऐसी ठोस दूरदर्शिता है,जो आर्थिक तथा सामाजिक खुशहाली की तर्कसंगत नीति की नींव बन सकती है। इंगलैंड में भी, जहां केबिनेट का दबदबा यथासम्भव पूरा-पूरा है, कोई भी प्रधान मंत्री सरकार के अधीन पदों पर नियुक्ति के लिए ऐसे व्यक्ति को नहीं चुनेगा,जो हाऊस आफ कामन्स को स्वीकार न हो। बंबई विधान परिषद् इस संदर्भ में भी अशक्त थी। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक पदों पर हमेशा उपलब्ध सर्वोत्तम व्यक्ति नहीं चुने गये। लेकिन मान लीजिए कि परिषद सुगठित होती और कार्यपालिका पर अपनी इच्छा कारगर ढंग से लागू करती,तो क्या परिणाम होता? क्या इससे दोहरी शासन प्रणाली उत्तरदायी शासन के रूप में कार्य करती? मेरा जवाब है "कदापि नहीं"। क्योंकि कार्यपालिका के विरूद्ध विधायिका के किसी भी कारगर कदम का केवल एक ही परिणाम हो सकता है, और वह है गवर्नर द्वारा निलंबन और प्रमाणन की उन आपातकालीन शक्तियों का उपयोग, जो उसे अधिनियम के अधीन प्राप्त हैं। विधायिका द्वारा सख्त कदम उठाने का यही अनिवार्य परिणाम होता है। इसके प्रमाण वे सब प्रांत है,जहां संविधान निलंबित कर दिया गया है। लेकिन इसे स्वीकार करने का मतलब यह भी स्वीकार

करना है कि ज्योंही परिषद अपनी शक्तियों का पूरा-पूरा प्रयोग करना शुरू करेगी, दोहरी शासन प्रणाली लड़खड़ाएगी ही, अगर उसे गवर्नर की आपातकालीन शक्तियों का सहारा न मिले। अत: स्पष्ट है कि दोनों सूरतों में दोहरी शासन प्रणाली असफल हो जाती है। यह विधायिका की निष्क्रियता के कारण असफल होती है। जैसा कि बंबई प्रेसिडेंसी में हुआ। यह विधायिका की क्रियाशीलता के कारण असफल होती है, जैसा कि मध्य प्रांतों में हुआ। एक सूरत में विधायिका की कमजोरी के कारण कार्यपालिका को लापरवाही की आजादी मिल जाती है। दूसरी सूरत में विधायिका अपनी क्रियाशीलता से गवर्नर को गैर-जिम्मेदार कार्यपालिका बनाए रखने के लिए मजबूर करती है।

14. बहुत से लोगों ने यह सुझाव दिया है कि यदि गवर्नर ने धारा 52(3) के उपबंधों और संयुक्त संसदीय समिति की सलाह के अनुसार संवैधानिक प्रमुख की भूमिका स्वयं निभाई होती, तो दोहरी शासन प्रणाली बेहतर तरीके से चलती। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूं। पहले तो इस दावे की पुष्टि के लिए तथ्यों का ऐसा कोई आधार नहीं है कि गवर्नर संवैधानिक प्रमुख की भूमिका निभाने के लिए बाध्य था। अक्सर यह भुला दिया जाता है कि भले ही दोहरी शासन प्रणाली उत्तरदायी शासन प्रणाली के रूप में चुनी गई थी, जिसका तात्पर्य मंत्रियों के साथ गवर्नर का संबंध संवैधानिक प्रमुख का होना था। लेकिन संयुक्त रिपोर्ट में स्पष्ट कहा गया था कि उसका दर्जा घटाकर वैसा नहीं किया जाना था। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा, "हम नहीं चाहते कि गवर्नर शुरू से ही केवल संवैधानिक गवर्नर की हैसियत से रहे, जो अपने मंत्रियों का निर्णय स्वीकार करने के लिए बाध्य हो। हमने उसके लिए नियंत्रण का अधिकार आरक्षित किया, क्योंकि हम उसे प्रशासन के लिए सामान्यत: उत्तरदायी मानते हैं। संयुक्त संसदीय समिति ने यह सिफारिश भी नहीं की, कि वह संवैधानिक गवर्नर के रूप में कार्य करे। समिति ने अपनी रिपोर्ट के पैरा 5 में स्पष्ट रूप से कहा कि गवर्नर मंत्रियों की सहायता व उनका मार्गदर्शन करेगा और यथासंभव उनकी सलाह को स्वीकार करेगा तथा उनकी नीति को बढ़ावा देगा। इस कथन का कोई औचित्य नहीं है कि समिति चाहती थी कि वह संवैधानिक प्रमुख की भूमिका निभाए। वस्तुत: ऐसा आशय अधिनियम के उपबंधों के विरूद्ध होगा, क्योंकि इन उपबंधों के अनुसार गवर्नर की तानाशाही शक्तियां जानबूझ कर आरक्षित की गई थीं। संयुक्त रिपोर्ट या संसदीय समिति की रिपोर्ट उनके प्रयोग को रद्द नहीं करती। इस प्रकार, यदि गवर्नर ने स्वयं शासन किया है और अपने माध्यम से मंत्रियों को शासन नहीं करने दिया है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है। लेकिन यदि यह मान लिया जाए कि गवर्नर को संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करना चाहिए था, तो पुन: सवाल उठता है कि क्या इससे दोहरी शासन प्रणाली उत्तरदायी शासन हो सकती थी? इस सवाल का भी मेरा जवाब है 'नहीं'। क्योंकि मैं जो स्थिति समझता हूं उसके अनुसार यदि आप गवर्नर की शक्ति छीन लें और उसे संवैधानिक प्रमुख बना दें, तो आप शासन के

आरक्षित पक्ष के अस्तित्व को जनता द्वारा निर्वाचित सदन के आक्रमण के लिए छोड़ देते हैं। गवर्नर की सुरक्षा से वंचित आरक्षित पक्ष के पास इस संकट से बचने का केवल एक ही उपाय है और वह है परिषद की इच्छानुसार शासन के लिए सहमत होना। दूसरे शब्दों में, यदि आप उन्हें गवर्नर की पहुंच से दूर कर दें, तो उन्हें हस्तांतरित पक्ष के बराबर रखने के अतिरिक्त आपके पास कोई और विकल्प नहीं है। इसे दूसरे ढंग से हम ऐसे भी कह सकते हैं कि यदि आपकी इच्छा गवर्नर की हैसियत घटाकर संवैधानिक प्रमुख बनाने की है, तो पहले दोहरे शासन का अंत करना चाहिए।

15. अभी तक मैंने इस दृष्टिकोण का विरोध किया है कि दोहरी शासन प्रणाली ऐसी नहीं है कि उसे कुछ अन्य कारणों ने अव्यावहारिक बना दिया है। साथ ही मेंने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि यह शासन प्रणाली अपने निहित दोषों के कारण न केवल अव्यावहारिक है, बल्कि उत्तरदायी शासन के रूप में चलने में भी असमर्थ है। इसमें कोई शक नहीं कि पूर्ण दोहरेपन वाला दोहरा शासन, जिसमें दो अलग-अलग शासन और दो अलग-अलग विधायिकाएं हों, उस आलोचना से मुक्त है, जो प्रचलित दोहरे शासन वाले दोहरेपन के संदर्भ में की जाती है। एक में विधायिका कार्यपालिका के अधीन है और दूसरे में कार्यपालिका विधायिका अधीन। लेकिन दोहरे शासन वाले दोहरेपन का विकल्प भारत शासन ने 1919 में अस्वीकार कर दिया था। इसके बारे में भी वही आपत्ति की जाती है, जो मार्ले-मिन्टो सुधारों द्वारा स्थापित शासन प्रणाली के बारे में की जाती है। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में जितने जोरदार ढंग से यह आपत्ति की गई है, उतनी कभी नहीं की गई है। भारत में राजनीतिक जीवन के उदय के समय ऐसी प्रणाली को दुबारा अपनाने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। अत: मैं ऐसी प्रणाली का सहारा लेने के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। दोहरे शासन को खत्म करके सारे विषय मंत्रियों को सौंपना ही एकमात्र विकल्प बचा है।

16. अभी तक मैंने अपने उन साथियों की सिफारिशों के विरोध के सामान्य कारण बताए हैं, जिन्होंने दोहरे शासन को चालू रखने की स्वीकृति दी है। अब मैं विशेष मुद्दे अर्थात् कानून और व्यवस्था के सतत् आरक्षण के बारे में अपने विरोध के कारण बताता हूं। किसी मंत्री को कानून और व्यवस्था का कार्यभार सौंपने के विरोध में मुख्य तर्क यह है कि मंत्री मतदाताओं की इच्छा के अधीन होता है और परिषद् में प्रतिकूल मतदान द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह विभाग का काम निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाएगा। अत: डर है कि इस स्थिति के परिणामस्वरूप उस विभाग की सेवाओं की स्थिति भ्रामक हो जाएगी। चूंकि मंत्रियों को मालूम नहीं होता कि कब उनका समर्थन किया जाएगा और कब उनकी निंदा की जाएगी, अत: इस अनिश्चितता से उनका काम ठप्प हो जाएगा और शांति और सुशासन का गंभीर अहित होगा। यह भी कहा गया है कि अर्से से हिन्दू-मुस्लिम दंगों का सिलसिला आम बात हो गई है और इन्हें देखते हुए हमें कानून और व्यवस्था का

कार्यभार किसी मंत्री को नहीं सौंपना चाहिए। कारण यह है कि मंत्री जनमत के ज्वार-भाटे से डांवाडोल होता रहता है, और वह साम्प्रदायिक पूर्वाग्रहों से प्रभावित हो सकता है। चाहे वे हिन्दुओं के हों या मुसलमानों के।

17. साफ बात यह है कि इस तर्क का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, यद्यपि मेरे साथी इससे काफी प्रभावित हुए लगते हैं। यह तो नौकरशाही का घिसापिटा तर्क है। इसे मानने का मतलब यह मानना है कि नौकरशाही का शासन सबसे अच्छा शासन है। भारत में लोग दुर्भाग्य से नौकरशाही के शासन को इतने समय से जानते हैं कि कोई भी ऐसे तर्क से धोखा नहीं खा सकता। यह इतना निरंकुश है कि इसे स्वीकार करना हर प्रकार के उत्तरदायी शासन को नकारना होगा। उत्तरदायी शासन का पिछला इतिहास कुछ भी रहा हो, यह मानना पड़ेगा कि इसने भारत में डेरा जमा लिया है। यदि समय के साथ-साथ कोई परिवर्तन हो, तो वह इस सिद्धांत के विस्तार की दिशा में ही होना चाहिए। अत: ऐसी कोई भी योजना, जो इस मूल सिद्धांत के विस्तार में बाधक है, शासन और जनता के बीच गंभीर संघर्ष पैदा करेगी। मुझे नौकरशाही के तर्क के अनुसार चल कर अनावश्यक रूप से ऐसा संघर्ष पैदा करने का कोई कारण नजर नहीं आता। क्योंकि मेरे विचार से ऐसा कोई अनुभव नहीं है, जिससे यह डर हो कि मंत्री सदन में अपने अनुयायियों के होहल्ले के आगे झुक जाएंगे या उनके अनुयायियों का रवैया द्वेषपूर्ण होगा। उनको लेकर ऐसी कोई आशंका उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। 1922 में जब गांधीजी का प्रभाव अपने चरम शिखर पर था, तो असहयोग आंदोलनकारियों द्वारा स्थानीय बोर्डों तथा म्युनिसिपैलिटियों पर अधिकार कर लिए जाने के बाद उन्हें निलंबित कर दिया गया था। इससे हम कह सकते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर अपने मतदाताओं की इच्छा-अनिच्छा का विचार किए बिना स्वतंत्र रूप से कार्यवाही करने के लिए मंत्रियों पर भरोसा किया जा सकता है। मुझे विश्वास है कि सरकार के सदस्य इस बात की गवाही देंगे कि बंबई विधान परिषद ने सदा अपेक्षित संयम से काम लिया है, जो उत्तरदायित्व-बोध के साथ प्राप्त होता है। लेकिन यदि कोई यह मानने को मजबूर हो कि सांप्रदायिक भावना और सांप्रदायिक संघर्ष के समय सदन शांत नही रह सकता, तो यह हस्तांतरण के विरूद्ध तर्क नहीं है। क्योंकि इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि चाहे दूसरे संप्रदाय के प्रति किसी संप्रदाय का रवैया कैसा भी हो, अव्यवस्था में उसका कोई ऐसा निहित स्वार्थ नहीं होता, जिसके कारण वह अपने मान्यताप्राप्त प्रतिनिधियों को इतना गैरजिम्मेदारी का पाठ पढ़ाये कि वे शांति तथा सद्भाव के विरूद्ध ही अपने कदम उठाने लगें। अत: जो लोग कानून और व्यवस्था के आरक्षण का समर्थन करते हैं, उनके दिल और दिमाग पर अनदेखा, अनजाना और अपरीक्षित डर बैठा हुआ है। मेरे साथी हस्तांतरण की सिफारिश न करने में निस्संदेह बहुत फूंक-फूंक कर कदम उठा रहे हैं। लेकिन मुझे विश्वास नहीं है कि वे ऐसा करके अति विवेकपूर्ण रास्ते पर चल रहे हैं। कारण यह है कि अत्यधिक

सावधानी ऐसा प्रयोग करने की अनुमति नहीं देती, जिससे पता चल सके कि डर असली है या नहीं, जबकि अति विवेक ऐसा प्रयोग करने की मांग करता है। कानून और व्यवस्था को हस्तांतरित करने के विरुद्ध अब जिस अनजाने डर की दुहाई दी जा रही है, इसी डर की दुहाई 1919 में मंत्रियों को वे विषय सौंपने के विरुद्ध दी गई थी, जो अब उनके अधीन हैं। लेकिन सेक्रेटरी आफ स्टेट और भारत शासन दोनों ने इन तर्कों की उपेक्षा की और यह जोखिम उठाने की अनुमति प्रदान की। कानून और व्यवस्था के बारे में मैं वैसा ही रवैया अपनाना चाहता हूं।

18. लेकिन एक अन्य कारण से भी हमें यह प्रयोग करना चाहिए। बुद्धिमानी इसी में है कि हम इसे अविलम्ब करें। स्पष्ट है कि किसी विषय के हस्तांतरण के साथ सेवाओं में भारतीय कर्मचारियों की संख्या बढ़ जाएगी। हो सकता है कि यूरोपीय कर्मचारियों की अपेक्षा भारतीय कर्मचारी कम कुशल हों और वे कम अनुभवी तो हैं ही। कानून और व्यवस्था के हस्तांतरण को टालने का अर्थ है संक्रमण की हर अवस्था से जुड़े खतरों को बढ़ाना अत: तुरंत ऐसा कदम उठा कर उस स्थिति से उभरना सर्वाधिक सुरक्षित उपाय है, क्योंकि अभी हमारे पास अनुभवी प्रशिक्षित सिविल अधिकारी हैं। यथासंभव कम से कम अव्यवस्था के साथ नये संविधान का संचालन करने में उनकी निष्ठापूर्ण सहायता पर भरोसा किया जा सकता है। मेरे लिए यह खुशी की बात है कि यह सुझाव एक महत्वपूर्ण अधिकारी ने दिया है। वस्तुत: यह सुझाव एक अनुभवी सिविल अधिकारी का है, जिसने अपने विचार एक नोट के रूप में श्री बार्कर को सूचित किए थे। श्री बार्कर ने इसे अपनी पुस्तक ''फ्यूचर ऑफ गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया एंड दि आई.सी.एस.'' में पुन: प्रस्तुत किया है।

श्री बार्कर ने कहा है, ''एक अनुभवी सिविल अधिकारी द्वारा लिखे गए नोट से मैं ऐसी आलोचना की कुछ पंक्तियां देना चाहता हूं . . . नोट के लेखक का सबसे पहला तर्क है कि कानून और व्यवस्था को बनाये रखने और मालगुजारी तथा काश्तकारी के अधिकारों से संबंधित मामले हस्तांतरित किए जाने चाहिए।'' उनका कहना है कि, ''इन विभागों का प्रशासन भारत में सेवाओं की सबसे योग्य तथा शक्तिशाली शाखा- इंडियन सिविल सर्विस- द्वारा किया जाता है। उनके प्रशासन के सिद्धांत काफी पहले निर्धारित किए गए हैं और भली प्रकार समझे-बूझे हैं। इस सेवा की अपनी महान परंपरा है, जिससे सुनिश्चित है कि प्रशासन को सर्वोत्तम सहायता तथा सुस्पष्ट सलाह मिलेगी। . . .

यह भी मानी हुई बात है कि भारत के लोग बहुत शांतिप्रिय हैं और उन पर आसानी से शासन किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि जाति या धर्म को प्रभावित करने वाली बातों से वे कभी-कभी उत्तेजित हो सकते हैं। अत: कानून और व्यवस्था कायम रखने का काम बहुत कठिन नहीं है। . . . यह तर्क कि मालगुजारी और काश्तकारी के मसले विधायिका में प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गों के हितों की अपेक्षा जनता के हितों को अधिक प्रभावित

करते हैं (और इसलिए, ऊपर वर्णित पांचवें नियम के अनुसार, इसका हस्तांतरण नहीं होना चाहिए) प्रांतों के लिए प्रस्तावित मताधिकार और निर्वाचन की योजना से बिल्कुल मेल नहीं खाता . . . . . जो व्यक्ति खंडों में विभक्त प्रणाली का प्रबल समर्थक है और विभागों के विशेष रूप से कानून और व्यवस्था तथा मालगुजारी प्रशासन संबंधित विभागों के हस्तांतरण से डरता है, वह भी स्वीकार करता है कि वह अपनी ही योजना से डरा हुआ है। भले ही मैं दोहरे शासन का समर्थक नहीं हूं, फिर भी मुझे यह प्रयोग करने में डरना नहीं चाहिए। कारण यह है कि मुझे आशा है कि मंत्रियों में इतनी सहज बुद्धि, सद्भावना और धैर्य होना ही चाहिए,जो किसी भी योजना की सफलता के लिए अति आवश्यक है, चाहे वह दोहरे शासन से संबंध रखे या न रखे।

19. कानून और व्यवस्था के हस्तांतरण के बारे में अल्पसंख्यकों की चिंता को मैं भली प्रकार समझता हूं। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि वे आरक्षण से किस प्रकार फायदे की उम्मीद करते हैं। यदि नौकरशाह कोई भारतीय हो,तो व्यक्तिगत पक्षपात के विचार से, कानून और व्यवस्था के प्रभारी के रूप में किसी नौकरशाह और मंत्री में कोई अंतर नहीं होगा। यदि प्रभारी कोई यूरोपीय हो,तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह तटस्थ होगा। लेकिन इससे तो कोई फायदा नहीं हुआ,क्योंकि इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि तटस्थ व्यक्ति पक्षपातरहित होगा ही। इसके विपरीत तटस्थ व्यक्ति की अपनी रुचि और पूर्वाग्रह भी होते हैं और यदि उसकी ऐसी कोई रुचि नहीं है,तो वह उपेक्षा कर सकता है। अतः कानून और व्यवस्था के आरक्षण के लिए आतुर अल्पसंख्यकों के लिए यूरोपीय नौकरशाह अनिश्चित लाभ वाला सिद्ध होगा। मेरी समझ में यह नहीं आता कि अल्पसंख्यकों के कुछ प्रतिनिधि क्यों इस बात को अनुभव नहीं कर पाते कि नौकरशाही के मुकाबले मंत्री स्तर की प्रणाली उन्हें कहीं अधिक लाभ पहुंचाती है। कार्यपालिका के कामों पर नियंत्रण की शक्ति ही अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की सबसे अच्छी गारन्टी है। नौकरशाही तंत्र पर इस नियंत्रण का कोई प्रभाव नहीं होता। यदि यह अल्पसंख्यकों की रक्षा करता है,तो केवल इसलिए कि यह ऐसा करना चाहता है। लेकिन यदि कभी वह कोई कार्रवाई न करना चाहे तो अल्पसंख्यकों के पास कोई उपाय नहीं है। दूसरे शब्दों में, मंत्री पर हुक्म चलाया जा सकता है,लेकिन नौकरशाह को सलाह भी नहीं दी जा सकती। नौकरशाह और मंत्री के शासन में मुझे यही महत्वपूर्ण अंतर मालूम होता है। यद्यपि मेरा संबंध उस अल्पसंख्यक वर्ग से है,जिसके सदस्यों के साथ इन्सानों से भी बदतर सलूक किया जाता है, फिर भी मैं कहता हूं कि व्यक्तिगत रूप से मैं नहीं समझता कि कानून और व्यवस्था के हस्तांतरण से अल्पसंख्यकों को कैसे नुकसान होगा। मेरा विचार है कि यदि विधायिका में अल्पसंख्यकों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो,तो यह उनके हित में होगा कि कानून और व्यवस्था को हस्तांतरित कर दिया जाए। ऐसे हस्तांतरण से उन्हें उस विषय के प्रशासन पर

नियंत्रण की शक्ति मिल जाती है, जो उन्हें आरक्षण की स्थिति में नहीं मिलती। कहा जाता है कि मालिक की देखरेख में एक बदमाश व्यक्ति बिना देखरेख वाले ईमानदार व्यक्ति से बेहतर काम करता है। मैं सोचता हूं कि अल्पसंख्यकों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इस कथन में पर्याप्त सच्चाई है या नहीं। और मैं समझता हूं कि यदि वे विचार करेंगे तो उन्हें महसूस होगा कि ऐसी जिम्मेदारी से मुक्त अत्यधिक अनुकरणीय व्यक्ति की अपेक्षा वे ऐसे निम्न श्रेणी के अधिकारियों को पसंद करेंगे जिन पर वे प्रभाव डाल सकें।

20. अल्पसंख्यक लोग हस्तांतरण की तुलना में आरक्षण को क्यों पसंद करते हैं? इसका एक और महत्वपूर्ण कारण है । विधायिका में उनका प्रतिनिधित्व इतना कम है कि वे महत्वहीन हो जाते हैं। अल्पसंख्यकों को एक तरफ आरक्षण और प्रतिनिधित्व के अभाव तथा दूसरी तरफ हस्तांतरण और पर्याप्त प्रतिनिधित्व में से चुनाव करना है। यहां भी पहले विकल्प की अपेक्षा दूसरा विकल्प उनके लिए अधिक लाभदायक समझा ही जाना चाहिए। अत: कानून और व्यवस्था के हस्तांतरण का विरोध करने के बदले पर्याप्त प्रतिनिधित्व पर जोर देना अल्पसंख्यकों के हित में होगा। लेकिन यदि अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के बाद भी यह डर दूर नहीं किया जा सकता कि कानून और व्यवस्था के खराब प्रशासन से उनको हानि हो सकती है तो मैं अपनी सिफारिश में एक शर्त जोड़ने के लिए तैयार हूं। इसके अनुसार यदि विधान परिषद् में कोई 40 प्रतिशत अल्पसंख्यक भी वोट द्वारा यह तय करें कि कानून और व्यवस्था को आरक्षित विषय होना चाहिए, तो इसे हस्तांतरित विषयों की सूची में से निकाल दिया जाएगा। मैं इस प्रस्ताव को बहुमत के प्रस्ताव से तरजीह देता हूं क्योंकि मुझे विश्वास है कि यदि 20 अगस्त 1917 की घोषणा में उल्लिखित उत्तरदायी शासन का सिद्धांत लागू करना है, तो कभी न कभी कानून और व्यवस्था के विषय को हस्तांतरित विषय बनाना होगा। प्रस्ताव तुरंत हस्तांतरण करने के मार्ग में बाधक नहीं है, साथ ही यदि अनुभव से पता चले कि इसके बारे में जो डर था वह सही है, तो यह हस्तांतरण को रद्द करने की संभावना को भी नहीं नकारता।

अध्याय 2

कार्यपालिका की कार्यप्रणाली

21. मंत्री स्तर के दायित्व पर आधारित एकीकृत शासन प्रणाली को लागू करने से चार महत्वपूर्ण प्रश्न उभरते हैं। इनमें से पहले प्रश्न का संबंध कार्यपालिका के स्थायित्व से, दूसरे का कार्यपालिका में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व से, तीसरे का कार्यपालिका का उत्तरदायित्व लागू करने से और चौथे का कार्यपालिका के सदस्यों के बीच पारस्परिक संबंध से है।

22. पहले प्रश्न के बारे में कहा जाता है कि विधायिका के सदस्यों के सांप्रदायिक

पूर्वाग्रह के कारण विधायिका में गुटबंदी होगी ही। मंत्रियों का लगाव सिद्धांतों के बदले संप्रदाय के प्रति अधिक हो सकता है। इससे मंत्रिमंडल सांप्रदायिक निष्ठा की अनिश्चित नींव पर टिका होता है और निष्ठा की मात्रा सांप्रदायिक लाभ के अनुपात में घटती-बढ़ती रहती है। अत: यदि कोई संप्रदाय सिद्धांतों का ध्यान रखे बिना अपनी इच्छानुसार निष्ठा-परिवर्तन करना चाहे, तो मंत्रिमंडल उतनी ही जल्दी टूट सकते हैं, जितनी जल्दी बनते हैं। इस बुराई से बचने के लिए सुझाव है कि परिषद में विभिन्न समूहों द्वारा चुने गए व्यक्तियों में से मंत्रिमंडल बनाया जाए और एक बार मंत्रिमंडल बनने के बाद परिषद की अवधि के दौरान उसे हटाया न जाए। मैं मानता हूं कि अस्थिर या अस्थायी कार्यपालिका की आशंका सही हो सकती है। लेकिन मैं नहीं समझता कि इसके लिए किसी उपाय की या जैसा उपाय सुझाया गया है, उसकी जरूरत है। भारत अकेला ऐसा देश नहीं है, जहां विधायिका में गुटबंदी की भावना दिखाई देती है। फ्रांस का चेम्बर आफ डेपुटीज़ गुटबंदी की भावना का ज्वलंत उदाहरण है, जहां मंत्रिमंडल प्राय: भंग होते रहते हैं। इस पर भी फ्रांसीसी यह महसूस करते हैं कि स्थिति खराब तो है, लेकिन इतनी असह्य नहीं है कि इसके लिए किसी उपाय या इलाज की जरूरत हो। यदि यह मान लिया जाए कि आशंका सच हो जाती है और स्थिति असह्य हो जाती है, तो भी मुझे विश्वास है कि उपाय सही नहीं है। इसमें दो राय नहीं है कि इस उपाय से मंत्रियों की उत्तरदायित्व की भावना बहुत निर्बल हो जाएगी। मुझे डर है कि यह योजना गुटों में मेल-मिलाप कराने के बजाए उन्हें कट्टर बनायेगी और गुटबन्दी की जड़ों को सदा सर्वदा सींचती रहेगी। इस प्रकार यह उपाय या इलाज रोग का उपचार करने के बदले उसे और बढ़ा देगा। मुझे तो मौजूदा निर्वाचन-क्षेत्रों का पुनर्निर्माण ही सही उपाय प्रतीत होता है।

23. मैं देश की कार्यपालिका में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को मान्यता देने का घोर विरोध करता हूं। ऐसा करने से शासन-तंत्र के एक सबसे महत्वपूर्ण अंग को सबसे भयानक रोग ग्रस लेगा। कैबिनेट में प्रतिनिधित्व के हकदार जितने संप्रदायों को मान्यता देनी होगी, उनकी संख्या के आधार पर यह दुहरा या तिहरा शासन होगा। यह शासन निस्संदेह सांप्रदायिक स्वरूप का दोहरा शासन होगा और आज के राजनीतिक स्वरूप के दोहरे शासन से कुछ भिन्न होगा। लेकिन इस कारण यह राजनीतिक स्वरूप के दोहरे शासन से बेहतर नहीं हो जाएगा। एक प्रणाली के निहित दोष दूसरी में भी निहित हैं और यदि संवैधानिक पुनर्निर्माण का हमारा उद्देश्य एकीकृत शासन है, तो दोहरे शासन के राजनीतिक रूप की तरह ही उसके सांप्रदायिक रूप को भी तुरंत ठुकरा देना चाहिए। राजनीतिक स्वरूप के दोहरे शासन को अस्वीकार करने की अपेक्षा सांप्रदायिक स्वरूप के दोहरे शासन को अस्वीकार करने का असल में बड़ा कारण है। राजनीतिक स्वरूप के दोहरे शासन में सिद्धांतों पर आधारित शासन की संभावना बनी रहती है। लेकिन सांप्रदायिक स्वरूप के दोहरे शासन का परिणाम तो निश्चय ही वर्ग की

विचारधारा पर आधारित शासन होगा।

24. ग्रेट ब्रिटेन और स्वशासी डोमिनियनों के संवैधानिक कानून का मूलभूत सिद्धांत है कि प्रत्येक मंत्री न्यायालयों के प्रति जवाबदेह होता है। असल में, इस विवेकपूर्ण सिद्धांत के कारण ही ब्रिटिश प्रजा, चाहे वह स्वदेश में हो या डोमिनियनों में, मंत्रियों के दोषपूर्ण कार्यों से अपनी जान-माल की रक्षा कर पाती है। अवैध कार्यों के लिए कार्यपालिका की वैध जिम्मेदारी के मामले में केवल भारत का ही ग्रेट ब्रिटेन और डोमिनियनों से विचित्र विरोध है। सर इलियाजाह इम्पे की अध्यक्षता वाली न्यायपालिका और वारेन हेस्टिंग्स के समर्थन वाली कार्यपालिका के बीच एक खासा संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के दौरान भारत में कार्यपालिका ने 1780 में ही न्यायालयों के नियंत्रण से अपने आपको मुक्त करा लिया। वह उन्मुक्ति तब से अब तक चली आ रही है और अब इसे भारत शासन अधिनियम की धारा 110 और 111 में शामिल किया गया है। अब तक इस उन्मुक्ति को इसलिए बर्दाश्त किया गया कि यह स्थानीय थी, सामान्य नहीं। इसमें व्यवस्था की गई थी कि भारत में अवैध कार्यों के लिए कार्यपालिका के जिन सदस्यों पर भारत में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था, उन पर इंग्लैंड में मुकदमा चलाया जा सकता था। जवाबदेही की यह पद्धति दूरस्थ तो थी,लेकिन प्रभाव में कम नहीं थी,क्योंकि पुराने शासन के अधीन कार्यपालिका का लगभग प्रत्येक सदस्य यूरोपीय होने के नाते इंग्लैंड वापिस जाता था। अब कार्यपालिका के गठन में परिवर्तन हो गया है। इसके अधिकतर कर्मचारी भारतीय हैं और चूंकि उनमें से किसी के इंग्लैंड जाने की संभावना बहुत कम है, अत: उनकी जिम्मेदारी उन पर वस्तुत: कभी भी डाली नहीं जा सकती। आज जो स्थिति है, उसमें मंत्रियों के गलत कार्यों के विरुद्ध तात्कालिक या दूरगामी कोई उपाय नहीं है। इस स्थिति को चालू रहने देना संवैधानिक शासन की नींव को ही नष्ट करना है। अत: मैं सिफारिश करता हूं कि भारत सरकार अधिनियम की धारा 110 और 111 में संशोधन करना चाहिए,ताकि मंत्रियों के आदेश से किए गए अवैध कार्यों के लिए ब्रिटिश प्रजा, चाहे भारतीय हो या यूरोपीय, न्यायालय का दरवाजा खटखटा सके। मंत्रियों के संबंध में कानून में ऐसे परिवर्तन के लिए 1919 में अनुरोध किया गया था। लेकिन उस समय यह अनुरोध स्वीकार नहीं किया गया,क्योंकि ऐसा समझा गया था कि इसे स्वीकार करने से मंत्रियों और कार्यकारी पार्षदों के बीच आपत्तिजनक भेदभाव पैदा हो जाएगा। प्रांतों में पूर्णत: उत्तरदायी शासन लागू होने के बाद अब इस आपत्ति में कोई दम नहीं है।

25. मैं अवैध कार्यों के लिए मंत्रियों की वैध जिम्मेदारी को लागू करने के विचार का जोरदार समर्थन करता हूं। अत: मेरा सुझाव है कि संविधान में एक ट्रिब्यूनल के गठन की व्यवस्था की जानी चाहिए। इसके सदस्य विधायिका के सदस्य या अंशत: विधायिका और अंशत: न्यायापालिका के सदस्य हो सकते हैं। इस ट्रिब्यूनल में गैरकानूनी कार्यों या राष्ट्र

हित के प्रतिकूल कार्यों के लिए मंत्रियों पर महाभियोग चलाया जा सकता है। मैं जानता हूं कि मंत्रियों को उत्तरदायित्व के चलन के कारण महाभियोग का चलन बंद हो गया है। लेकिन मैं समझता हूं कि भारत में मंत्रियों का उत्तरदायित्व अभी पनप ही रहा है और जब तक विधायिका तथा कार्यपालिका इसके निहितार्थ से परिचित न हो जाए,तब तक सत्ता के असंयम पर अंकुश लगाने का प्रत्यक्ष साधन मुहैया कराना बेहतर है। कारण यह है कि सत्ता उन हाथों में रहेगी,जिन्हें इसका अभ्यास नहीं है और जो जाति तथा पंथ के प्रति अतिशय निष्ठा के कारण इसका दुरुपयोग कर सकते हैं। बचाव का उपाय कभी भी इसलिए फालतू नहीं हो जाता कि अक्सर इसका प्रयोग ही नहीं किया जाता।

26. कार्यपालिका के सदस्यों के बीच संबंध निश्चित करते समय देखना होगा कि क्या प्रत्येक सदस्य केवल अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हो या प्रत्येक सबके कार्यों के लिए उत्तरदायी हो, अर्थात् उत्तरदायित्व व्यक्तिगत हो या संयुक्त। यह ऐसी समस्या है जिसके बारे में कोई सिद्धांत नहीं बघारा जा सकता। फिर भी, मैं संयुक्त उत्तरदायित्व का समर्थक हूं। मैं जानता हूं कि इस पद्धति के अधीन दोषी मंत्री को दंड देने के मामले में विधायिका लगभग असहाय है। संयुक्त उत्तरदायित्व की स्थिति में विधायिका उस मंत्री को बर्खास्त नहीं कर सकेगी,जिसके कार्यों से वह सहमत न हो। जब तक विधायिका उसके साथियों से भी पिंड छुड़ाने के लिए तैयार न हो तब तक वह औपचारिक रूप से उसकी निंदा भी नहीं कर सकेगी। संसदीय कार्यपालिका युक्त कोई भी विधायिका ऐसा करने का दुस्साहस नहीं कर सकती। क्योंकि यदि वह ऐसा करती है और कार्यपालिका को अपदस्थ करती है तो कार्यपालिका भी विधायिका को भंग करने की मांग करके विधायिका का तख्ता पलट देगी। इस दोष के होते हुए भी मैं दो कारणों से संयुक्त उत्तरदायित्व के पक्ष में हूं। आधुनिक राज्य में प्रशासी निकाय के रूप में कार्यपालिका का कानून को लागू करने का कार्य गौण कार्य हो गया है।इसका मुख्य कार्य नीति निर्धारित करना और विधायिका के विचारार्थ प्रस्ताव प्रस्तुत करना है। वस्तुत: यह कार्य इतना जरूरी है कि यदि कार्यपालिका इसे न करे तो विधायिका की उपयोगिता काफी कम हो जाएगी। कार्यपालिका नीति-निर्धारण का काम कर सके, इसके लिए उसके सदस्यों में दृष्टिकोण की समानता होनी चाहिए। कार्यपालिका में पूर्ण सामंजस्य के बिना दृष्टिकोण की ऐसी समानता संभव नहीं है। मुझे लगता है कि केवल संयुक्त उत्तरदायित्व से ऐसा सामंजस्य सुनिश्चित हो सकता है। संयुक्त उत्तरदायित्व की सिफारिश करने का दूसरा कारण यह है कि मुझे आशंका है कि व्यक्तिगत उत्तरदायित्व जाति और धर्म की सीमाओं को लांघ कर एक सांझे राजनीतिक मंच के विकास में कभी सहायक नहीं होगा। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व गुटों को कायम रखेगा और प्रेसिडेंसी को हमेशा गुटों की मिलीजुली सरकार का दंड भोगना पड़ेगा। ये गुट नये-नये गठबंधन करके प्रशासन को अस्थिर बनाए रखेंगे और विचारों की नीति की उपेक्षा जोड़तोड़ की नीति को तरजीह देकर

प्रशासन के काम की निष्ठा पर घातक प्रभाव डालेंगे। संयुक्त उत्तरदायित्व के अंतर्गत कोई दल विभिन्न विचारधाराओं वाली कई इकाइयों का समूह हो सकता है। प्रत्येक इकाई के सदस्य न केवल एकीकृत नीति तैयार करने के लिए बाध्य होंगे, बल्कि उससे जुड़े रहने के लिए भी मजबूर होंगे। दल का कार्यक्रम गुट के कार्यक्रम से अधिक व्यापक होता है। जो लोग भारत की स्थिति को समझते हैं वे दल के कार्यक्रम का पालन करने की आदत से जो शिक्षा मिलती है, उसकी जरूरत को महसूस करते हैं।

27. संयुक्त उत्तरदायित्व कैसे प्राप्त किया जाए यह एक महत्वपूर्ण बात है। सुस्पष्ट कानूनी व्यवस्था द्वारा ऐसा करने से प्रशासन के प्रमुख या विधायिका की पूरी कार्यपालिका को बर्खास्त किए बिना किसी मंत्री को बर्खास्त करने की आजादी समाप्त हो जाएगी। अत: इसे परिपाटी के लिए छोड़ देना बेहतर होगा। अब भी प्रश्न बना रहता है कि परिपाटी को व्यवहार में कैसे लाया जाए। मुझे लगता है कि यदि गवर्नर द्वारा मंत्रियों का चुनाव किए जाने के स्थान पर किसी मंत्री को ही अपने साथी चुनने का काम सौंप दिया जाए, तो इस प्रकार बनी कैबिनेट संयुक्त उत्तरदायित्व के आधार पर काम करने के लिए बाध्य होगी।

इससे मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों को बदले बिना किसी विशेष मंत्री को हटाने की गुंजाइश भी बनी रहेगी। अत: मेरा सुझाव है कि गवर्नर को हिदायत दी जाए कि वह सीधे ही अलग-अलग मंत्रियों की नियुक्ति न करके एक मुख्यमंत्री को चुने और सरकार बनाने का काम उस पर छोड़ दे।

28. मेरे साथियों ने सिफारिश की है कि प्रेसिडेंसी के प्रशासन के लिए 7 मंत्री होने चाहिएं। जहां तक मंत्रियों की संख्या निश्चित करने का संबंध है, मैं इस सिफारिश से सहमत नहीं हूं। हो सकता है कि प्रेसिडेंसी की भावी सरकार 7 से कम मंत्रियों से काम चला सके या 7 से अधिक मंत्रियों की आवश्यकता महसूस करे। चूंकि विधायिका के सदस्यों के समर्थन के बिना प्रांत में सरकार चलाना संभव नहीं है, अत: हो सकता है कि विधायिका के सदस्यों की व्यक्तिगत आकांक्षाएं पूरी करने के लिए सरकार को बिना विभाग के मंत्री नियुक्त करने पड़ें। इन परिस्थितियों में मुझे तो यही ठीक लगता है कि मंत्रियों की संख्या का प्रश्न तत्कालीन विधायिका के फैसले के लिए ही छोड़ देना चाहिए।

अध्याय 3

गवर्नर की स्थिति और अधिकार

29. मौजूदा संविधान के अंतर्गत प्रांत के गवर्नर की स्थिति सुस्पष्ट नहीं है। प्रांत की सरकार के प्रति बिना किसी उत्तरदायित्व के वह प्रांत में क्राउन (ब्रिटिश सम्राट) का प्रतिनिधित्व करने वाला संवैधानिक प्रमुख नहीं है। न ही उसकी स्थिति ऐसी है कि वह

प्रांत के शासन की बागडोर पूर्णत: संभाल सके। वह दोनों नावों पर सवार रहता है। गवर्नर या शासन-तंत्र के कुशल संचालन की दृष्टि से गवर्नर की ऐसी स्थिति जिसमें उसे एक तानाशाह और संवैधानिक प्रमुख की दोहरी भूमिका निभानी मड़े, कोई अच्छी स्थिति नहीं है। गवर्नर की स्थिति के बारे में जैसी भी कठिनाइयां रही हों, वे 1919 में लागू किए गए संविधान के अनुकूल थीं। चूंकि संविधान ने पूर्णत: उत्तरदायी सरकार की स्वीकृति नहीं दी थी, अत: गवर्नर की स्थिति, निस्संदेह, संवैधानिक प्रमुख की नहीं थी। दूसरी ओर, चूंकि प्रांत के कुछ विभागों के कार्य का संचालन उत्तरदायी मंत्रियों को सौंप दिया गया था, अत: गवर्नर की पहले वाली अनुत्तरदायी प्रमुख की स्थिति नहीं रही थी। इस प्रकार एक विवेकपूर्ण सिद्धांत के आधार पर गवर्नर की स्थिति में परिवर्तन किया गया था। इस सिद्धांत के अनुसार गवर्नर के कार्यकारी अधिकार कम किए गए और उसी अनुपात में उत्तरदायी सरकार को बढ़ावा दिया गया। गवर्नर की स्थिति और उत्तरदायित्व के हस्तांतरण के बीच सामंजस्य स्थापित करने का जो सिद्धांत 1919 में निर्धारित किया गया था, उसके तर्क का अनुसरण करते हुए मैं सिफारिश करता हूं कि प्रांत के गवर्नर की स्थिति संवैधानिक प्रमुख की कर दी जाए। असल में गवर्नर की स्थिति के बारे में इसके अतिरिक्त ऐसा कुछ सोचा भी नहीं जा सकता,जो पूर्णत: उत्तरदायी शासन-प्रणाली के अनुकूल हो।

30. जहां तक उसकी शक्तियों का संबंध है; क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में प्रांत की कार्यपालिका में उसे कैबिनेट के लिए नियुक्तियां करने की शक्ति प्राप्त रहेंगी। इसी हैसियत से उसे प्रशासन की किसी शाखा से संबंधित मामले में मंत्री द्वारा प्रस्तावित किसी आदेश को स्वीकृति देने या न देने का अधिकार होगा। जहां तक विधायिका में सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में उसकी शक्तियों का संबंध है, उसे परिषद द्वारा पास किए गए बिलों को (1) अनुमति देने, (2) हिज मेजेस्टी की स्वीकृति मिलने तक अनुमति रोके रखने; और (3) अनुमति देने से इनकार करने का अधिकार प्राप्त होगा।

31. गवर्नर को दिए गए इन अधिकारों के प्रयोग के लिए शर्त यह होनी चाहिए कि इनका प्रयोग विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से होगा। इसका यह मतलब नहीं है कि वह मंत्रियों से असहमत नहीं हो सकता। इसके विपरीत, उसे आजादी होगी कि वह अपने मंत्रियों को बता सके कि वह उनकी नीतियों का समर्थन नहीं करता। यदि कोई मंत्री ऐसी नीति के बारे में अड़ा रहता है,जिसका गवर्नर विरोध करता है, तो वस्तुत: उसे मंत्री को बर्खास्त करने की आजादी होगी। संवैधानिक प्रमुख के नाते उस पर ऐसा कोई बंधन नहीं लगाया जा सकता कि वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्री की सलाह के अनुसार चले। उसके बंधन का मूलमंत्र मतदाताओं की इच्छा है। यदि वह किसी मंत्री की सलाह से सहमत होता है, तो इसका कारण यही है कि मंत्री मतदाताओं की इच्छा का प्रतिनिधि समझा जाता है। लेकिन ऐसे अवसर भी आ सकते हैं,जब उसे संदेह हो कि मंत्री मतदाताओं

की इच्छा का सही प्रतिनिधित्व कर रहा है या नहीं। इसके परिणामस्वरूप सब उत्तरदायी सरकारों के संविधान न केवल इस संभावना को स्वीकार करते हैं बल्कि उसे मतदाताओं की इच्छा जानने के लिए सब संभव साधन प्रदान करते हैं। इस उद्देश्य से प्रत्येक उत्तरदायी सरकार का संविधान गवर्नर को अनुमति देता है कि वह मंत्रियों को बर्खास्त करके ऐसे नये मंत्री नियुक्त कर सके जो उससे सहमत हों। आशा की जाती है कि विधायिका इन मंत्रियों का समर्थन करेगी। यदि विधायिका नये मंत्रियों का समर्थन करने से इनकार करे तो सब उत्तरदायी सरकारों के संविधानों में एक और उपाय भी है और वह है समर्थन के लिए मतदाताओं से अपील करना। प्रांत के गवर्नर को इन सब संसाधनों के प्रयोग की अनुमति होनी चाहिए। लेकिन यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि कोई संविधान उसे इससे अधिक शक्ति नहीं देता। यदि मतदाताओं की इच्छा जान लेने पर पाया जाए कि जनमत गवर्नर के विरुद्ध है, तो प्रत्येक उत्तरदायी सरकार के संविधान में उसके लिए झुकने, पदत्याग करने या लड़ने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। प्रांत के गवर्नर को इन संसाधनों से संतुष्ट रहना चाहिए। मौजूदा संविधान के अनुसार उसे विधायिका द्वारा पास न किए गए विधेयकों को प्रमाणित करने, विधायिका द्वारा अस्वीकृत खर्च की मंजूरी देने या मंत्रियों को बर्खास्त करके संविधान को निलंबित करने और सारा कामकाज स्वयं संभालने की शक्ति प्राप्त है। ऐसी निरंकुश शक्तियां उसे किसी भी परिस्थिति में नहीं मिल सकतीं। अत: गवर्नर को संवैधानिक प्रमुख बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रमाणन और निलंबन की शक्तियां ले ली जाएं। इस प्रकार विधायिका के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह के बिना स्वतंत्र रूप से काम करना उसके लिए असंभव हो जाएगा।

32. जिस धारा के अनुसार गवर्नर मंत्रियों की सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य हो, उसकी सुस्पष्ट भाषा निश्चित करना महत्वपूर्ण है। इस संबंध में धारा 52(3) की शब्दावली बहुत अस्पष्ट प्रतीत होती है। इसकी शब्दावली इतनी अनिश्चित है कि उससे अभीष्ट उद्देश्य पूरा नहीं होता। 'गवर्नर मंत्रियों की सलाह से कार्य करेगा' कहने के बदले यह कहना बेहतर होगा कि 'गवर्नर का कोई भी आदेश तब तक वैध नहीं होगा, जब तक कि मंत्री भी उस पर हस्ताक्षर न करे'। ऐसी भाषा का बंधनकारी बल स्पष्ट है। तदनुसार मैं धारा की भाषा में ऐसा परिवर्तन करने की सिफारिश करता हूं।

33. गवर्नर की शक्तियों की परिभाषा के साथ-साथ कार्यपालिका में उसका स्थान भी स्पष्ट हो ही जाना चाहिए। प्रांत के कार्य-संचालन से मुक्त होने के बाद गवर्नर का कार्य कार्यकारी के बदले पर्यवेक्षी हो जाता है। उसका मुख्य काम यह देखना है कि जिन लोगों को उत्तरदायित्व सौंपा गया है, वे संविधान में उनके मार्गदर्शन के लिए उल्लिखित सिद्धांतों का उल्लंघन न करें। यह काम करने के लिए उसे स्थानीय राजनीति से अलग-थलग रहना चाहिए। पक्षपातरहित पर्यवेक्षण के लिए यह अलगाव नितांत आवश्यक है। उसे अलग रखने

का सबसे अच्छा तरीका कार्यपालिका से अलग रखना है। राजनीतिक विवादों में प्रत्यक्ष रूप से गवर्नर का भाग लेना, उसके निष्पक्ष निर्णय के प्रति जनता के विश्वास को जितनी ठेस पहुंचाएगा, उतनी ठेस और कोई चीज नहीं पहुंचाएगी। इसमें कोई शक नहीं है कि विधायिका और कार्यपालिका के बीच के विवादों से उसके संबंध का जनता पर वैसा ही प्रभाव पड़ेगा। यदि गवर्नर को अपना कार्य इस प्रकार करना है कि वह न्यायसंगत प्रतीत हो, तो उसका दलगत भावना से ऊपर उठना बहुत जरूरी है। इस उद्देश्य से उसे कार्यपालिका से वैसे ही मुक्त कर देना चाहिए जैसे विधायिका से अलग किया गया है। अत: मैं सिफारिश करता हूं कि गवर्नर को न तो कार्यपालिका का भाग होना चाहिए और न ही उसे इसकी अध्यक्षता का अधिकार होना चाहिए। गवर्नर के हस्तक्षेप के बिना प्रधानमंत्री कार्यपालिका की बैठकें बुलाएगा और उनकी अध्यक्षता करेगा।

परिच्छेद III

प्रांतीय विधायिका

अध्याय 1

मताधिकार

34. मेरे साथियों की सिफारिश है कि शहरी क्षेत्रों में मताधिकार की व्यवस्था यथावत रहने दी जाए और ग्रामीण क्षेत्रों में मताधिकार के लिए लगान संबंधी सीमा को घटाकर आधा कर दिया जाए। मैं इससे सहमत नहीं हो सकता। मेरे साथियों ने मताधिकार के प्रश्न के बारे में सोचा है,जैसे यह अधिकार का नहीं रियायत का सवाल है । किसी भी देश में ऐसा दृष्टिकोंण मेरे ख्याल से इतना घातक है कि इसे राजनीतिक समाज के आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि प्रतिनिधित्व के अधिकार की संकल्पना को असंगत कहकर ठुकरा दिया जाय, यदि प्रतिनिधित्व के नैतिक दावे को काल्पनिक या भावनात्मक अवरोध मात्र मान लिया जाए, यदि मताधिकार को एक ऐसा विशेषाधिकार मान लिया जाए, जिसे राजनीतिक सत्ताधारी उसके संभावित उपयोग के अपने आकलन के अनुसार जब चाहें दे दें या न दें तो यह निश्चित है कि मताधिकारहीन लोगों की राजनीतिक मुक्ति पूर्णतः उन लोगों की मुट्ठी में बंद हो जाएगी जिन्हें मताधिकार प्राप्त है। ऐसे निष्कर्ष को स्वीकार करना तो यह स्वीकार करना है कि दासता में कोई बुराई नहीं। क्योंकि दासता के मूल में भी यह कल्पना होती है कि दासों का कोई अधिकार नहीं होता सिवाय उसके जो सत्ताधारी वर्ग अपनी इच्छा से उसे दे दे। ऐसे किसी निष्कर्ष वाले सिद्धान्त के लिए तो कहना ही पड़ेगा कि वह किसी भी जन-निर्वाचित शासन प्रणाली के लिए घातक विष है। अतः मैं उसे पूर्णतः अस्वीकार करता हूं।

35. मताधिकार के प्रश्न के बारे में मेरे साथी सोचते हैं कि यह तो सिर्फ इतनी सी बात है कि कागज का एक ऐसा टुकड़ा मतपेटी में डालने का अधिकार दिया जाए,जिस पर कुछ नाम लिखे हों। यदि ऐसा न होता तो साक्षरता को मताधिकार का मापदंड बनाने पर जोर न देते। मताधिकार के बारे में इस प्रकार का दृष्टिकोण निश्चित रूप से छिछला व

उथला है, क्योंकि उसमें इस अधिकार के उद्देश्य के प्रति पूर्ण भ्रांति है। यदि बहुसंख्यकों के दिमाग में यह बात साफ होती कि मताधिकार की सही तस्वीर क्या है, तो वे मताधिकार के महत्व को समझते। वह मतपत्र पर निशान भर लगा देना नहीं है। 'वह तो ऐसी व्यवस्था का प्रतीक है, जिसमें उन शर्तों के नियमन में सीधी तथा सजग साझेदारी हो जिन पर सहजीवन आधारित होगा और कल्याण का झंडा लहराया जायेगा'। एक बार यदि मताधिकार की इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया जाए, तो उसका अर्थ होगा कि उस प्रत्येक व्यस्क को मताधिकार दिया जाए, जो पागल नहीं है। सहजीवन से हर व्यक्ति जुड़ा रहता है और चूंकि उसके परिणामों का प्रभाव हर व्यक्ति पर पड़ता है, अत: हर व्यक्ति को उसकी शर्तों को तय करने का अधिकार मिलना ही चाहिए। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति जितना गरीब है, उतनी ही अधिक जरूरत मताधिकार देने की है। कारण, हर उस समाज में, जो व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित है, वहां मालिकों और मजदूरों के बीच सहजीवन की शर्तें प्रारम्भ से ही मजदूरों के प्रतिकूल तय होती हैं। यदि इस बात की गारंटी देनी है कि मजदूरों के कल्याण पर मालिकों का खतरा न मंडराए, तो उनके सहजीवन की शर्तों को निरन्तर पुन: पुन: तय करना ही होगा। परन्तु यह तभी संभव है, जब मताधिकार का नाता सम्पत्ति से तोड़ा जाए और उसे सभी सम्पत्तिविहीन वयस्कों से जोड़ा जाए। अत: स्पष्ट है कि दोनों ही दृष्टिकोणों से वयस्क मताधिकार का दम भरने वाला निष्कर्ष अकाट्य है। मैं उस निष्कर्ष को स्वीकार करता हूं और सिफारिश करता हूं कि 21 वर्ष से अधिक उम्र वाले सभी वयस्कों को, चाहे वे नर हों या नारी, मताधिकार प्रदान किया जाए।

36. राजनीतिक न्याय ही वयस्क मताधिकार का एकमात्र आधार नहीं है। राजनीतिक औचित्य भी उसका समर्थन करता है। मुसलमान जैसे अल्पसंख्यक समुदाय सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों का आग्रह इस कारण भी करते हैं कि उन्हें इस बात की आशंका है कि संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों में बहुसंख्यक समुदाय के मतदाता निर्वाचन पर इतना अधिक प्रभाव डालेंगे कि उन लोगों को चुन लिया जाएगा, जो अल्पसंख्यकों के दृष्टिकोंण से अवांछनीय हैं। मैंने प्रतिवेदन में आगे कहा है कि ऐसी आशंका को वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करके कारगर ढंग से निर्मूल किया जा सकता है। बहुसंख्यकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है कि वयस्क मताधिकार महत्वपूर्ण है और वह सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों का विकल्प है। बहुसंख्यकों का विचार है कि सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों की व्यवस्था एक अच्छाई है और उसे बनाए रखना उचित है। वे सोचते हैं कि वयस्क मताधिकार एक बुराई है और उस पर अंकुश लगना ही चाहिए। इस बारे में मेरा विचार इसके ठीक विपरीत है। मैं कहता हूं कि सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों की व्यवस्था एक बुराई है और वयस्क मताधिकार एक अच्छाई। जो मुझसे सहमत हैं, वे मानेंगे कि वयस्क मताधिकार लागू किया जाए, केवल इसलिए नहीं कि वह एक सनातन अच्छाई है, बल्कि इसलिए भी कि यह हमें सांप्रदायिक

निर्वाचक मंडलों की बुराई से मुक्ति दिलाएगा। बल्कि वे लोग भी जिनकी राजनीतिक आस्था में वयस्क मताधिकार के लिए कोई जगह नहीं है, उन्हें भी इस दृष्टिकोंण को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। क्योंकि यह तो एक सीधी सी बात है कि बड़ी बुराई से छोटी बुराई कहीं भली और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वयस्क मताधिकार, यदि वह कोई बुराई है भी, सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों के मुकाबले छोटी बुराई है। वयस्क मताधिकार का समर्थन न केवल राजनीतिक न्याय अपितु राजनीतिक औचित्य भी करता है और जनमत का बहुत बड़ा अंश भी उसकी मांग कर रहा है। नेहरू कमेटी की रिपोर्ट भी वयस्क मताधिकार को लागू करने के पक्ष में है। उसमें ब्राह्मण से इतर तथा दलित वर्गों को छोड़कर भारत के सभी राजनीतिक दलों के दृष्टिकोणों का समावेश है। दलित वर्ग भी वयस्क मताधिकार पर आग्रह कर रहे हैं। सिंध मोहम्मडन एसोसिएशन, एक मुस्लिम सदस्य और बंबई सरकार के एक गैर-ब्राह्मण सदस्य ने भी इसका समर्थन किया है। इस तरह जनमत का एक बहुत बड़ा भाग वयस्क मताधिकार का समर्थन करता है। मेरे साथियों ने ऐसा कोई कारण नहीं बताया है कि उन्होंने इस विशाल जनमत की क्यों अनदेखी की है।

37. ऐसा लगता है कि वयस्क मताधिकार के विरोध में मेरे साथियों के मन पर दो बातों ने भारी दबाव डाला है। एक तो देश में विद्यमान निरक्षरता का पैमाना है। देश में आम जनता निरक्षर है, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। परंतु इस तथ्य का मताधिकार के प्रश्न से कोई सरोकार है, इस दृष्टिकोंण को मैं सही नहीं मानता। पहली बात तो यह है कि निरक्षर व्यक्ति की निरक्षरता उसकी कोई गलती नहीं है। बंबई सरकार काफी लम्बे अर्से तक लोक शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लेने से इंकार करती रही है और जब उसने लिया,तो जानबूझकर ऐसी व्यवस्था की कि शिक्षा का लाभ केवल कुछ खास वर्गों को मिला और आम जनता उससे वंचित रह गई।*

38. 1854 के बाद ही इस सरकार ने वर्ग-शिक्षण से हटकर जन-शिक्षण का समर्थन किया। लेकिन जन-शिक्षा के प्रसार में सरकार ने कोई खास रुचि नहीं दिखाई है। उसने केवल कुछ प्रस्ताव पास कर दिए। शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता के रूप में सरकार ने सदा भारी कंजूसी बरती है। यह शरारत है,जो सरकार सदा कराधान के पक्ष में कर रही है, वह अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के बारे में माननीय गोखले के उस प्रस्ताव को कैसे नकार सकती है,जिसमें कराधान का भी जिक्र था। सुधारों के कारण शायद ही कोई फर्क पड़ा हो। प्रेसिडेंसी में अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा अधिनियम पास होने के अलावा जन-शिक्षा की दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हुई। इसके विपरीत, स्थानीय प्राधिकारियों को शिक्षा का कार्य सौंपे जाने से इसका स्तर गिरा है। इसकी व्यवस्था ऐसे लोगों के हाथ में चली गई है, जो

---

* कहीं ऐसा न हो कि इस तथ्य को अफसाना समझ लिया जाए। मैं बंबई प्रेसिडेंसी की 1950-51 की बोर्ड आफ एजूकेशन की रिपोर्ट के अंश प्रस्तुत करता हूं। ये अंश रिपोर्ट के अंत में परिशिष्ट के पृष्ठ 118-122 में छपे हैं। - संपादक

अपेक्षाकृत या तो कोई दिलचस्पी नहीं लेते या इस क्षेत्र में अनभिज्ञ हैं। ऐसे लोग मुश्किल से ही शिक्षा सुधार में रुचि लेते हैं।

39. जहां तक दलित वर्गों को साक्षर बनाने का प्रश्न है, सच्चाई तो यह है कि उन्हें इससे वंचित रखा जा रहा है। उनकी शिक्षा के मार्ग में अस्पृश्यता एक ऐसी दीवार है, जिसे लांघा नहीं जा सकता। इसके आगे सरकार भी झुक गई है और उसने भारत में सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षाओं की वेदी पर पब्लिक स्कूलों में दलित वर्गों के दाखिले के अधिकारों की बलि दे दी है। 1856 के प्रस्ताव में बंबई सरकार ने धारवाड़ के एक स्कूल में दाखिले के लिए एक महार लड़के की याचिका रद्द कर दी थी और कहा था : "पत्राचार में चर्चित प्रश्न में एक विकट व्यावहारिक कठिनाई है---

"1. इस बात में कोई शक नहीं कि अमूर्त न्याय महार याचिकादाता के पक्ष में है। सरकार का विश्वास है कि जिन पूर्वाग्रहों ने उसको धारवाड़ में वर्तमान शिक्षा साधनों के लाभ पाने से इस समय रोका है, हो सकता है कि उन्हें बहुत पहले मिटा दिया गया हो"

"2. लेकिन सरकार का यह दायित्व है कि वह इस बात को ध्यान में रखे कि यदि वह युगों से चले आ रहे पूर्वाग्रहों को मिटाने के लिए किसी एक व्यक्ति या कुछ लोगों के हित में तुरंत हस्तक्षेप करेगी तो शायद उससे शिक्षा के ध्येय को भारी क्षति होगी। जिस असुविधा की चक्की में याचिकादाता पिस रहा है, उसका सूत्रपात इस सरकार के कार्यकाल में नहीं हुआ है। वह ऐसी असुविधा है जिसे सरकार उसके पक्ष में हस्तक्षेप करके तुरंत दूर नहीं कर सकती, जैसी कि याचना उसने की है।"

26 साल बाद जो हंटर कमीशन बना, उसने यह अवश्य कहा कि सरकार इस सिद्धान्त का पालन करे। किसी भी सरकारी कालेज या स्कूल में किसी को दाखिले के लिए केवल जाति के आधार पर इंकार न किया जाए। लेकिन उसने भी यह कहना जरूरी समझा था कि इस सिद्धान्त का "समुचित सावधानी से पालन किया जाए"। इस सावधानी का नतीजा यह निकला कि उस सिद्धान्त को लागू ही नहीं किया गया। 1921 में तत्कालीन शिक्षा मंत्री डा. परांजपे ने जरूर एक साहसिक कदम उठाया । परन्तु उनके इस कदम के पीछे कोई आधिकारिक आदेश नहीं था। इसलिए स्कूलों में दलित वर्गों के दाखिले के बारे में उनके परिपत्र की उपेक्षा की जा रही है। नतीजा यह है कि निरक्षरता अब भी दलित वर्गों के जीवन का दयनीय अंग बनी हुई है।

40 अत: अक्सर उछाले जाने वाले इस सवाल के जवाब में कि निरक्षर लोगों को मताधिकार कैसे दिया जाए , मेरा उत्तर है कि उनकी निरक्षरता के लिए कौन जिम्मेदार है? यदि निरक्षरता का दायित्व सरकार का है, तो मताधिकार के लिए साक्षरता की शर्त रखना बहुसंख्य लोगों को मताधिकार से वंचित करना है। निरक्षरों का उसमें अपना कोई दोष नहीं क्योंकि उनके लिए जिस साक्षरता की व्यवस्था की गई, उसे प्राप्त करने का उन्हें कभी अवसर

ही नहीं मिला। यदि इस बात को मान भी लिया जाए कि निरक्षरता दूर होने पर ही मताधिकार मिलेगा,तो इसकी क्या गारंटी है कि निरक्षरता दूर करने के लिए यथाशीघ्र प्रयत्न किए जाएंगे? राष्ट्र निर्माण के अन्य प्रश्नों की भांति ही शिक्षा का प्रश्न भी अन्ततः धन के प्रश्न से जुड़ा है। जब तक पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं होता, शिक्षा का प्रसार भी नहीं हो सकता। यह धन कहां से आए, यह भी एक सवाल है और उसे हल किया जाना है। यह निर्विवाद है कि मौजूदा मताधिकार के जरिए जिस परिषद का निर्वाचन होगा, वह कभी भी इस समस्या का हल नहीं खोज सकती। सीधी सी बात है कि शिक्षा के लिए धन धनवानों पर कर लगा कर ही प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान परिषद पर धनवानों का ही नियंत्रण है। निश्चय ही धनवान उस समय तक निर्धनों के लाभ के लिए अपने ऊपर कर लगवाने पर राजी नहीं होंगे जब तक कि उन्हें विवश न कर दिया जाए। ऐसी विवशता की स्थिति तभी लाई जा सकती है,जब कि परिषद के गठन में आमूल परिवर्तन हो। इससे वहां निरक्षरों तथा निर्धनों के पक्ष में भरपूर आवाज उठाई जा सकेगी। जब तक ऐसा नहीं होगा, निरक्षरता का प्रश्न कभी हल नहीं हो सकता। उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित रखना घोर अन्याय की स्थिति पैदा करना है। पहले लोगों को निरक्षर रखना और फिर उनकी निरक्षरता को उन्हें मताधिकार से वंचित रखने का आधार बनाना घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। लेकिन वास्तव में यह समस्या इससे भी विकराल है। अपनी निरक्षरता को दूर करने का उनके पास एकमात्र उपाय मताधिकार है। उन्हें निरक्षर रखना उनकी निरक्षरता को सदा के लिए बनाए रखना है और उनके मताधिकार प्राप्ति के अवसर को अनन्त काल तक स्थगित करना है।

41. कहा जा सकता है कि सवाल इस बात का नहीं है कि निरक्षरता के लिए कौन जिम्मेदार है। सवाल यह है कि क्या निरक्षर लोगों को मताधिकार प्रदान किया जाए। मेरा जवाब है कि यह साक्षरता या निरक्षरता का प्रश्न नहीं है। प्रश्न केवल बुद्धिमता का हो सकता है। जो साक्षरता को कसौटी मानने का आग्रह करते हैं और जो यह आग्रह करते हैं कि मताधिकार पाने से पूर्व साक्षर बनना होगा, वे मेरे विचार में दो गलतियां कर रहे हैं। उनकी पहली गलती यह मान्यता है कि एक निरक्षर व्यक्ति निश्चित रूप से बुद्धिमान नहीं हो सकता। परन्तु यह सर्वविदित है कि कोई निरक्षर व्यक्ति भी बहुत बुद्धिमान हो सकता है। यह कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में अनुभवों से यह निष्कर्ष प्रमाणित हो जाएगा कि भारत सहित सारे संसार में निरक्षर व्यक्ति भी इतनी बुद्धि रखते हैं कि सोच समझ कर अपनी कामकाज चला सकें। बहरहाल कानूनी मान्यता है कि एक उम्र के बाद हर व्यक्ति में इतनी बुद्धिमत्ता आ जाती है कि वह अपना कामकाज संभालने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। मताधिकार के उपयोग में निरक्षर व्यक्ति आसानी से गलती कर सकता है, परंतु बंबई के विकास विभाग ने भी निर्णय की उतनी ही बड़ी गलतियां की हैं। भले ही उनके लिए वे निंदनीय हैं, परंतु साथ ही साथ उन्हें सहन किया जाता है। और भले ही वे उससे भी बड़ी गलतियां कर बैठें,

बेहतर यही होगा कि उन्हें मताधिकार मिले। क्योंकि स्वतंत्र तथा जन-निर्वाचित सरकार के प्रति समूची आस्था का मूलाधार यह दृढ़ धारणा है कि आजादी की गलतियों से कोई व्यक्ति जितना गंवाता है, उससे कहीं अधिक वह अनुभव से प्राप्त करता है। अत: समझ में नहीं आता कि जो सत्य अराजनीतिक क्षेत्र के व्यक्तियों के बारे में मान्य है, वह राजनीतिक क्षेत्र के बारे में मान्य क्यों नहीं होना चाहिए। उनकी दूसरी गलती यह मान्यता है कि निरक्षर की तुलना में साक्षरता साक्षर व्यक्ति को कहीं उच्च स्तर की बुद्धिमत्ता या ज्ञान अनिवार्यत: प्रदान करती है। इस संबंध में ब्राइस का कथन उद्धृत किया जा सकता है।'माडर्न डेमोक्रेसीज़' (आधुनिक लोकतंत्रों) के अपने सर्वेक्षण में उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि पढ़ने व लिखने की योग्यता कहां तक नागरिक योग्यता में सहायक होती है और उसका उत्तर इस प्रकार दिया है : ''व्यावहारिक दृष्टि से एकमात्र यही कसौटी उपलब्ध है, हम उसे पर्याप्त कसौटी मान लेते हैं। क्या वास्तव में ऐसा है भी? हममें से कुछ को स्मरण होगा कि इंग्लैंड में साठ वर्ष पहले देहात के लोग चतुर होते थे। वे अनपढ़ थे पर सहज बुद्धि के धनी थे। अपनी कुशाग्र बुद्धि और ठोस विवेक के आधार पर वे मतदान के लिए पूर्ण सक्षम थे, वैसे ही जैसे कि उनके नाती-पोते अखबार पढ़ने और सिनेमा देखने के बाद आज हैं -- यूनानी मतदाता नागरिक मताधिकार के लिए अधिक सक्षम थे, आज के आधुनिक लोकतंत्रों के मतदाताओं से। इन यूनानी मतदाताओं ने और उनमें से कुछ ने तो राजनीति छपी या लिखी पुस्तक आदि से नहीं सीखी। बल्कि कुशल वक्ताओं को सुनकर और आपस में वार्ता द्वारा सीखी थी। पढ़ने से अधिक लाभ आपसी वार्ता से होता है। वार्ता में मन अधिक सक्रिय रहता है क्योंकि सुनते समय मस्तिष्क कम निष्क्रिय रहता है। चिन्तन का महत्व है, पढ़ने का नहीं। चिंतन से मेरा मतलब है तथ्यों को हृदयंगम करने की शक्ति और उसके आधार पर तर्क की शक्ति। बातचीत में बुद्धि की नोक-झोंक चलती है और उसके लिए कुछ मानसिक चेष्टा होती ही है। -- लेकिन इस युग में चिन्तन का स्थान पठन ने ले लिया है। जो व्यक्ति केवल अपनी पार्टी का समाचार-पत्र पढ़ता है और अन्य प्रकार की खिचड़ी सामग्री के साथ राजनीति के उसके दांवपेचों का ज्ञान प्राप्त करता है और अपराधों तथा फुटबाल मैचों का विवरण पढ़ता है, वह यह जानेने की कोशिश ही नहीं करता कि सवाल के दूसरे पहलू भी हैं और उनके बारे में कभी-कभार ही पूछता है। वह यह जानने की कोशिश ही नहीं करता कि जो कुछ अखबार में छपा है, उसके सबूत क्या हैं? चूंकि मुद्रित सामग्री किसी अज्ञात शक्ति की प्रतिनिधि दीख पड़ती है, अत: वह वार्ता में सुनी बात की अपेक्षा छापी गई बात पर अधिक सहजता से विश्वास कर लेता है। वह उसके ऐसे बयानों पर विश्वास कर लेता है जो शायद निराधार और मनगढ़ंत होते हैं। यदि वह वर्कशाप या आय-व्यय लेखा कार्यालय के अपने किसी साथी से उन्हें सुनेगा तो विश्वास नहीं करेगा। इसके अलावा ज्ञान तो ज्ञान है। उसके वृक्ष पर तो अच्छाई के फल भी होते हैं और बुराई के भी। यह जरूरी नहीं कि मुद्रित सामग्री

में पाठक को सच अधिक मिले और झूठ कम। इसमें अपवाद वे पाठक होते हैं, जो विशद अध्ययन करते हैं और विवेक क्षमता रखते हैं। पार्टी का मुखपत्र कुछ तथ्यों को दबा देता है और कुछ को तोड़-मरोड़ कर पेश करता है। अत: वह सबसे घटिया मार्गदर्शक है, क्योंकि असत्य को बार-बार लगातार दोहरा कर वह अधिक प्रभाव डाल सकता है। कोई व्यक्ति या संस्था उतना प्रभाव नहीं डाल सकती। मुद्रण के आविष्कार से पूर्व आध्यात्मिक फतवों से लैस केवल धर्मोपदेशक ही इतना प्रभाव डाल सकते थे। केवल अपनी पार्टी के समाचार-पत्रों से मार्गदर्शन ग्रहण करने वाले आधुनिक मतदाता की दशा अपने दादा से बेहतर नहीं है। आज से 80 वर्ष पूर्व उसका दादा अपने जमींदार अथवा नियोजक के और आयरलैंड में अपने पुरोहित के इशारे पर वोट देता था। कम से कम दादा इस बात से तो अवगत होता था कि वह किसका अनुयायी है, जबकि समाचार-पत्र में विवाद के केवल एक पक्ष को पढ़ने वाला उसका पौत्र स्वार्थी तत्वों के भ्रमजाल में फंस जाता है। अपने भोलेपन के कारण वह मुखपत्रों के मालिकों के इस भ्रमजाल को लोकमत अथवा लोक-कल्याण मान बैठता है। इस प्रकार कोई लोकतंत्र जिसमें केवल पढ़ने की शिक्षा दी जाती है, चिंतन और मनन की नहीं, वह केवल पढ़ने की योग्यता के बल पर उच्च कोटि का तो नहीं हो जाएगा।''

42. मुझे ऐसा लगता है कि आम भारतवासी की निरक्षरता के सवाल को जरूरत से ज्यादा उछाला जा रहा है। इंग्लैंड के मतदाता को लीजिए और मतदाता के रूप में उसके आचरण को देखिए। हम क्या पाएंगे? उसके बारे में टाइम्स के 21 अगस्त 1924 के साहित्यिक परिशिष्ट में यह छपा है:

''अधिकांश लोगों को इसमें कोई खास दिलचस्पी नहीं होती। केवल उन्हीं के मतों से राजनीतिक मसले तय होते हैं, परन्तु वे राजनीति के बारे में कौरे हैं। यह एक क्षोभकारी पर सुस्थापित आलोचना है कि प्रशुल्क सुधार और कराधान, या विदेश नीति संबंधी निर्णय में उन लोगों का हाथ होता है, जिन्होंने जीवन भर गंभीर राजनीति पर दर्जन भर स्तम्भ भी नहीं पढ़े होंगे। आठ साल पहले के पुराने संकीर्ण मतदाताओं में से कम से कम दो तिहाई ने सामयिक मसलों पर राजनीतिक भाषण बड़े चाव से पढ़े थे। आज उनकी संख्या पांच प्रतिशत भी नहीं है, जो वाद-विवाद या अग्रलेख पढ़ते हैं। शेष कितने भी मेधावी हों पर उनकी संख्या नगण्य है। समग्र रूप से लोकतंत्र बौटिल्स की भांति कुत्सित एवं अश्लील मनोरंजन से संतुष्ट है। उसी की भांति वह अपनी अक्ल अपने समाचार-पत्र के हवाले कर देता है, जो उसके रविवारों को कहीं अधिक विकृत एवं घटिया बना देता है। इतने विकृत रविवार तो उसने अपने बैपटिस्ट मंत्री के अधीन भी नहीं बिताए थे। यह है वह वातावरण जिसकी जहरीली गैसों से अपनी संस्कृति को बचाने का व्यर्थ प्रयास स्कूल करते हैं।''

43. निश्चय ही यदि ब्रिटिश लोकतंत्र अर्थात ब्रिटिश साम्राज्य उक्त प्रकार के वोटरों के शासन से संतुष्ट है, तो यह दलील दी जा सकती हैं कि वयस्क मताधिकार का विरोध

करने वाले भारतीय न केवल अन्यायी और स्वप्नदर्शी हैं, बल्कि वे जरूरत से ज्यादा विरोध कर रहे हैं। उन पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि वे जनसाधारण की निरक्षरता की आड़ में राजनीतिक सत्ता हड़पना चाहते हैं। यह आग्रह किया जाता है कि राजनीतिक विचारधाराओं की सूक्ष्मताओं का विशद ज्ञान और उनमें भेद करने की क्षमता राजनीतिक सूझबूझ की जरूरी कसौटियां हैं। इसे कम से कम बाल की खाल निकालना तो कहा ही जा सकता है। किसी भी मतदाता को चाहे वह किसी भी देश का हो, छोटे-छोटे राजनीतिक मसलों के बारे में कभी भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं दी जा सकती। न ही ऐसा सूक्ष्म ज्ञान जरूरी है। मतदाता से अधिक से अधिक यह अपेक्षा की जा सकती है कि उसमें मोटे मसलों को समझने की शक्ति हो। वह ऐसे उम्मीदवार का चयन कर सके, जो उसकी राय में उसका हित साधन कर सके। मैं दावे से कह सकता हूं कि औसत भारतीय में यह क्षमता है।

44. वयस्क मताधिकार को अस्वीकार करने के लिए मेरे साथियों ने जिस दूसरी बात को प्रमुखता दी, वह है इंग्लैंड जैसे देशों का उदाहरण। उनकी दलील है कि 1429 में 40 शिलिंग पूर्ण स्वामित्व वाला मताधिकार था। उसका विस्तार करके 1832 में उसे वयस्क मताधिकार में परिणत कर दिया गया। उस समय 5 लाख से भी कम व्यक्तियों को संसद-सदस्यों के निर्वाचन के लिए वोट देने का अधिकार था। लेकिन उस साल के कानून के अनुसार मतदाताओं की संख्या बढ़ाकर लगभग 1000,000 कर दी गई, 1867 तक मताधिकार की सीमा घटाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया। 1867 के कानून द्वारा यह संख्या बढाकर 2500,000 कर दी गई। इसके 17 साल बाद जब 1884 का कानून बना तो यह संख्या बढ़ाकर फिर 5500,000 कर दी गई। फिर अगले 34 साल तक तब तक वयस्क मताधिकार नहीं दिया गया, जब तक कि 1918 का लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम पारित नहीं हुआ। राजनीतिज्ञों का एक ऐसा वर्ग है, जो सामाजिक क्षेत्र में घोर अनुदार और राजनीतिक क्षेत्र में आमूल परिवर्तनवादी है। वह उक्त तथ्य का इस्तेमाल अपनी इस दलील के समर्थन में करता है कि विधायिका को पूर्ण सत्ता दी जा सकती है, भले ही वह पूरी तरह प्रतिनिधि विधायिका न हो। अपने विरोधियों की दलील के उत्तर में भी वह उक्त तथ्य प्रस्तुत करता है। विरोधी कहते हैं कि इतने सीमित प्रतिनिधित्व वाली विधायिका को सत्ता सौंपना अल्पतंत्र को सत्तारूढ़ करना होगा। दूसरे लोग अपनी दलील इस तरह पेश करते हैं कि मताधिकार के मामले में हम धीरे-धीरे ही कदम उठाएं, जैसाकि अन्य देशों में हुआ है। दूसरे वर्ग के लोगों की आलोचना के बारे में मेरा उत्तर है कि हम इसी खास मामले में ही अंग्रेजों के पिछलग्गू क्यों बनें? यह पक्की बात है कि अंग्रेजो ने अपने देश में मताधिकार के विषय में कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं किए थे। जहां तक प्रश्न है कि वहां मताधिकार का विस्तार लम्बे-लम्बे अंतरालों के बाद हुआ, तो इसके पीछे तो अंग्रेजों के सत्तारूढ़ वर्ग की स्वार्थी प्रवृत्ति थी। साथ ही इस बात का भी कोई औचित्य नजर नहीं आता कि हम भी

उतने ही चरणों से होकर गुजरें जितनों से दूसरे देश गुजरे हैं और हम भी वैसा ही ड्रामा करें। ऐसा करने का मतलब हुआ कि उस लाभ को ठुकरा दिया जाए,जो बाद में जन्म लेने वालों के लिए सदा ही सुलभ होता है। दूसरे वर्ग की आलोचना का मेरा उत्तर है कि तथ्य के रूप में उनका कथन सही है। उस समय भी संसद ने प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य की पूर्ण शक्तियों का उपयोग किया,जब उसने जनसंख्या के अल्प प्रतिशत का प्रतिनिधित्व किया। परन्तु प्रश्न यह है कि राष्ट्र को क्या परिणाम भुगतना पड़ा? लार्ड शैफ्टसवरी ने सुधारविहीन संसद द्वारा रचे गए सामाजिक विधान के इतिहास का वर्णन किया है। जो व्यक्ति उस इतिहास से परिचित है, वह कभी नहीं चाहेगा कि इस देश में उस प्रयोग को दोहराया जाए। यह परिणाम इंग्लैंड में प्रचलित सीमित मताधिकार का अनिवार्य परिणाम था। इन आलोचकों ने जिन तथ्यों पर बल दिया है, वे मेरे विचार में सीमित मताधिकार पर टिकी सरकार का समर्थन नहीं करते। ऐसी सरकार इस दृष्टि से निम्नन्तर श्रेणी की सरकार है कि वह अल्पतंत्र के शासन को बढ़ावा देती है। संयुक्त रिपोर्ट तैयार करने वालों ने तो ऐसे परिणाम की कभी कल्पना तक नहीं की थी। वस्तुत: इस बुराई के प्रति वह इतने सजग थे कि अपनी रिपोर्ट के पैरा 262 में उन्होंने खासतौर पर कहा कि विचारार्थ विषयों में कानूनी कमीशन को मताधिकार तथा निर्वाचन क्षेत्रों के गठन पर भी विचार करना चाहिए। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को बनाए रखने का महत्वपूर्ण विषय भी इसमें शामिल होना चाहिए। ''दरअसल हम मानते हैं कि विस्तृत मताधिकार वह आधार है, जिस पर स्वराज की इमारत खड़ी होनी ही चाहिए। हमारा कोई इरादा नहीं कि हमारे सुधारों की परिणति केवल यह हो कि हम नौकरशाही के स्थान पर अल्पतंत्र के हाथ में सत्ता सोंप दें।''

45. लेकिन इसका इलाज क्या है कि देश में अल्पतंत्र न आए? जहां तक मैं समझता हूं, इसका एकमात्र उपाय वयस्क मताधिकार की व्यवस्था करना है। यह कहना संगत ही होगा कि 1928 के श्रीलंका आयोग के सदस्य भी संयुक्त रिपोर्ट तैयार करने वालों की भांति इस बारे में सजग थे, ''अल्पसंख्या वाले इन मतदाताओं को एक उत्तरदायी सरकार प्रदान करने का अर्थ होगा कि सत्ता अल्पतंत्र को सौंप दी जाएगी और इस बात की कोई गारंटी नहीं होगी कि शेष लोगों के हितों के बारे में सत्तारूढ़ लोग परामर्श करेंगे''। उन्होंने यह कहना जरूरी समझा, ''महामहिम की सरकार न केवल श्रीलंका के धनी तथा अधिक उच्च शिक्षा प्राप्त वर्गों की न्यासी है, बल्कि किसान, कुली एवं उन सभी निर्धन वर्गों की भी है जो बहुसंख्यक हैं।'' उनकी मान्यता थी, ''यदि बहुसंख्य वर्ग के हितों को अल्पसंख्य वर्ग के निरंकुश नियंत्रण में सौंप दिया गया,तो वह विश्वासघात होगा।'' उनका निष्कर्ष था, ''राज्य-परिषद के निर्वाचन में मतदाताओं के लिए साक्षरता की शर्त नहीं होनी चाहिए।'' उन्होंने कहा, ''हमारे विचार में उत्तरदायी सरकार के विकास के लिए जरूरी है कि जन-साधारण को और अधिक अवसर दिया जाए कि वह सरकार पर प्रभाव डाल सके। यह उचित

भी है और विवेकपूर्ण भी, कि मताधिकार को शिक्षित वर्गों तक सीमित नहीं रखा जा सकता।'' यदि श्रीलंका के लिए वयस्क मताधिकार का सुझाव दिया जा सकता है, तो भारत के लिए क्यों नहीं? यह एक सहज प्रश्न है। साथ ही दोनों देशों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक अवस्थाएं एक-दूसरे से इतनी अधिक मिलती-जुलती हैं कि मताधिकार के मामले में दोनों में अंतर करना भेदभावपूर्ण होगा, जबकि इस अंतर को न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता। समानता को छोड़ भी दें, तो केवल गुण-दोषों के आधार पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि दोनों में किसी एक को वयस्क मताधिकार के प्रयोग के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाए तो वे हैं भारत के लोग और खासतौर से उस बंबई प्रेसिडेंसी के लोग जहां ग्राम पंचायतों में वयस्क मताधिकार प्रणाली पहले से ही प्रचलन में है।

अध्याय 2

निर्वाचन-क्षेत्र

46. मौजूदा विधान परिषद में 114 सदस्य हैं। इनमें से 26 मनोनीत हैं और 86 निर्वाचित हैं। मनोनीत सदस्यों की दो श्रेणियां हैं: (क) श्रेणी में सरकारी सदस्य हैं, जो सरकार के आरक्षित पक्ष के आधे का प्रतिनिधित्व करते हैं; (ख) श्रेणी में वे गैर-सरकारी सदस्य हैं जो (1) दलित वर्ग, (2) श्रमिक वर्ग, (3) आंग्ल-भारतीयों, (4) भारतीय ईसाइयों तथा (5) कपास के व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। निर्वाचित सदस्यों में से (1) कुछ को वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्रों से चुना जाता है, जो जमीदारों, वाणिज्य तथा उद्योग के हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बनाये गये हैं, (2) कुछ को आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्रों से चुना जाता है, जो मराठा और सम्बद्ध जातियों तथा शेष जातियों के लिए होते हैं, (3) कुछ को सांप्रदायिक निर्वाचक- मंडलों से चुना जाता है, जो मुसलमानों तथा यूरोपीयों के लिए बनाये गए हैं। प्रश्न यह है कि क्या निर्वाचन के इस ढांचे को बिना परिवर्तन के यूं ही चलने दिया जाए? किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले यह जरूरी है कि इस पर सैद्धांन्तिक और व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए।

मनोनीत सदस्य

47. जहां तक मनोनीत सदस्यों का सवाल है, यह कहा जाता है कि परिषद में उनका रंगरूप प्रतिनिधि के रूप से कोसों दूर होता है। जिस प्रकार उत्तरदायी स्वशासन का मूलमंत्र होता है कि कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी हो, ठीक उसी प्रकार प्रतिनिधि-शासन का मूलमंत्र होता है कि विधायिका जनता के प्रति उत्तरदायी हो। ऐसा उत्तरदायित्व

तभी मिल सकता है, जब विधायिका का निर्वाचन जनता करे। मनोनयन प्रणाली न केवल सदन के प्रतिनिधि-स्वरूप को डस लेती है, अपितु कार्यपालिका को अनुत्तरदायित्व की ओर धकेलती है। कार्यपालिका की सलाह पर ही मनोनयन के अधिकार का प्रयोग किया जाता है। उसके बल पर वह विधायिका के कोई 25 प्रतिशत सदस्यों को नियुक्त कर लेती है। इसका परिणाम यह होता है कि सदन के अधिकतर भाग की स्थिति सेवकों की हो जाती है, आलोचकों की नहीं। मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य सरकार के सेवक नहीं होते, यह कहने से इस दृष्टिकोण का महत्व कम नहीं हो जाता। क्योंकि मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों को कभी भी खरीदा जा सकता है और कार्यपालिका के पास ऐसे अनेक तरीके हैं, जिनके द्वारा वह निर्वाचित सदस्य पर प्रभाव डालकर उनकी आजादी को खरीद सकती है। उनमें से कुछ तरीके हैं कि किसी सदस्य को उपाधियों और सम्मान से अलंकृत कर दिया जाए या उसके दोस्तों तथा रिश्तेदारों को संरक्षण प्रदान कर दिया जाए। लेकिन मनोनीत गैर-सरकारी सदस्यों की ऐसी दयनीय आश्रित स्थिति होती है कि कार्यपालिका को उन्हें खरीदने की जरूरत ही नहीं पड़ती। उनके पास कोई स्वाधीनता होती ही नहीं कि उसे बेचा जाए। वे कार्यपालिका के पुतले हैं और उन्हें शर्त नहीं तो किसी वायदे पर ही स्थान दिया जाता है कि वे कार्यपालिका के सहयोगी के रूप में कार्य करें। न ही कार्यपालिका मनोनीत सदस्यों के आगे असहाय है। कार्यपालिका वायदे से मुकरने का साहस कर सकती है। कार्यपालिका को पुनःमनोनयन का अधिकार है और वह उसका पुनःमनोनयन न करके कठोरतम दंड दे सकती है और ऐसी मिसाल हैं जहां उसने ऐसा दंड दिया है। सम्राट के वीटो अधिकार की भांति ही पुनःमनोनयन का अधिकार है। इसलिए हर मनोनीत सदस्य दुम दबाकर रहता है और कार्यपालिका के इशारों पर नाचता है।

48. मनोनयन प्रणाली का एक और दोष सामने आता है। मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य कतिपय समुदायों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन समुदायों के प्रतिनिधित्व के लिए जो निर्वाचन प्रणाली तैयार की गई, वह पर्याप्त नहीं समझी जाती। मनोनीत सरकारी सदस्य तो सरकार के हितों के समर्थन के लिए नियुक्त किए जाते हैं। खेदजनक बात यह है कि जहां मनोनीत सरकारी सदस्य सरकार के हितों का पोषण करते हैं, वहां मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य अपने उन वर्गों के हित का पोषण नहीं कर पाते, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। वास्तव में एक मनोनीत गैर-सरकारी समुदाय की कोई सेवा नहीं कर सकता, क्योंकि अक्सर सरकार पर दबाव डाल कर ही समुदाय का हितसाधन किया जा सकता है। यह तभी संभव है, जब कार्यपालिका की बराबर आलोचना की जाए और उसे विपक्ष के मत पड़ने के परिणामों का अहसास हो। परन्तु मनोनीत सदस्य के हाथ में यह साधन नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही ऐसा है। उसके कारण कार्यपालिका को उसके समर्थन का भरोसा रहता है और वह उसके हित के प्रति उदासीन रहता है। मनोनीत सदस्य को कोई आजादी नहीं मिलती।

अतः वह उन लोगों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं करा सकता जिनका वह प्रतिनिधि कहलाता है। इस तरह मनोनयन द्वारा किया गया प्रतिनिधित्व कोई प्रतिनिधित्व नहीं होता, वह तो निरा नाटक होता है।

49. मनोनयन प्रणाली का एक गंभीर दोष यह है कि मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य मंत्री पद के हकदार नहीं हो सकते। सिद्धान्त रूप में कोई बंधन नहीं होना चाहिए कि विधायिका के किसी सदस्य को किसी प्रशासन का मंत्री चुने जाने का अधिकार नहीं है। ऐसी धारणा यदि है भी कि ऐसे अधिकार की सीमाएं हैं, तो वे सीमाएं अच्छे और दक्ष प्रशासन के हित में होनी चाहिए। केवल यही बात नहीं है कि सीमाओं का यह प्रयोजन नहीं है। यह प्रतिबंध विभिन्न समुदायों पर उनके प्रतिनिधित्व की शैली में अंतर के कारण अलग-अलग प्रभाव डालता है, उन कतिपय समुदायों पर भी जिन्हें इस प्रतिबंध से मुक्त रहना चाहिए। दलित वर्ग जैसे कुछ समुदायों को अपने कल्याण के लिए सरकार की सीधी कार्रवाई की बहुत जरूरत है। यह हकीकत है कि सरकार के भरसक प्रयास के बाद भी उनके हालात पूरी तरह और शीघ्र ही सुधर नहीं सकते। लेकिन इसके बावजूद यह निर्विवाद है कि बुद्धिमत्तापूर्ण विधान लोगों के लिए अति लाभकारी होगा। दरअसल ये सभी वर्ग आजन्म रूढ़िगत बुराइयों तथा सामाजिक विषमताओं की चक्की में पिसते रहते हैं। उसका दायित्व समाज पर है । उससे छुटकारा दिलाने के लिए विधान बहुत कुछ कर सकता है। लोगों के हालात बदलने के लिए कानून की क्या भूमिका है, इसे तो समूची दुनिया जानती है। लेकिन सामाजिक प्रगति के लिए यह कर्तव्य तब तक समझ में नहीं आ सकता, जब तक कि दलित जातियों में से किसी व्यक्ति को देश की मंत्री परिषद में शामिल नहीं किया जाता। इसलिए मनोनयन प्रणाली की निंदा की ही जानी चाहिए। इसका एकमात्र प्रभाव यह पड़ा है कि उसने ऐसे लोगों की जमात खड़ी कर दी है कि जो निर्वाचकों के बजाए पद प्राप्ति की ही चिन्ता में लगे रहते हैं।

निर्वाचित सदस्य

50. *वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्र* : यह मार्ले-मिंटो सुधारों की विरासत है। मार्ले-मिंटो योजना एक छलावा थी, क्योंकि उसके अनुसार नौकरशाही ने ऐसी जोड़तोड़ करने का प्रयास किया कि उनकी हुकूमत भी बनी रहे और मताधिकार तथा निर्वाचन-क्षेत्रों का आयोजन इस प्रकार किया जाए कि विधान-मंडलों को लोक राज का मुखौटा पहना दिया जाए। ऐसी योजना लागू करने के लिए ये वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्र अति अनुकूल थे। परन्तु मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना छलावा नहीं थी। उसमें लोक राज की कल्पना थी। अतः आशा की जाती थी कि ऐसे वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्रों को समाप्त करने का सुझाव दिया जाएगा। लेकिन इन वर्गों के जोरदार प्रभाव के कारण रिपोर्ट तैयार करने वालों को इस बात के लिए राजी कर लिया गया कि वे इन निर्वाचन-क्षेत्रों को बनाए रखे जाने की सिफारिश करें। साउथबरो कमेटी

ने इस सिफारिश को मूर्त रूप दिया। इन वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्रों को बनाए रखने का कोई भी कारण क्यों न रहा हो, इसमें कोई शक नहीं कि यह लोक राज की मूल भावना के विपरीत है। इसका वर्गीय रूप ही इसको ठुकरा दिए जाने का एक पर्याप्त कारण है। विधायिका जैसी विचारशील सभा में जहां लोकहित के मामलों पर लोकमत के आधार पर निर्णय होता है, उसके लिए यह निहायत जरूरी है कि परिषद के जो सदस्य निर्णय में भाग लें, वे लोकमत के प्रतिनिधि हों। वास्तव में उनके अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति को सदन में चर्चित मसलों पर निर्णायक वोट देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। लेकिन वर्ग हितों के प्रतिनिधि तो केवल अपने वर्ग के मतों तथा पूर्वाग्रहों को प्रस्तुत करते हैं। अत: उन्हें तो ऐसे मसलों के निर्णय में भाग लेने का अधिकार कदापि मिलना ही नहीं चाहिए जिनका संबंध उनके वर्ग के हितों से न हो। वर्गीय स्वरूप होने पर भी विधायिका के सदस्य होने के नाते वे उन सभी मुद्दों पर मतदान करते हैं, जिनका उनके वर्ग से कुछ लेना देना नहीं। मेरे विचार में यह लोकराज के सिद्धान्त के नितांत प्रतिकूल है। यह दलील दी जा सकती है कि ऐसे वर्ग-हितों के प्रतिनिधि ऐसे वर्गीय विषयों पर अपनी राय विशेष रूप में दे सकते हैं, जिनके बारे में वर्गेतर सदन को जानकारी नहीं होती, लेकिन यह याद रखने की बात है कि लोकतंत्र का सर्वोच्च सिद्धान्त है स्वराज और इसके लिए यह जरूरी है कि सभी मसलों पर अंतिम निर्णय जन-निर्वाचित सदस्यों के द्वारा किया जाए, न कि विशेषज्ञों के द्वारा। फिर भी यह उचित नहीं है कि सदा ही ऐसे लोगों की सलाह का सदन में कोई मूल्य ही नहीं होता क्योंकि उनकी सलाह सदा ही वर्ग-विचारधारा का विशद विवेचन होती है, न कि विवादास्पद सूत्र का संभल-संभल कर किया गया विवेचन।

51. यह मान लेने पर भी कि इन वर्गों के हितों की रक्षा के लिए और उनकी ओर से सदन को सलाह देने के लिए यह जरूरी है, यह सिद्ध करना होगा कि सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों के जरिए इन हितों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल सकेगा। जो तथ्य हमारे सामने हैं, उनको देखते हुए तो ऐसा लगता है कि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल सकता है। इनामदारों के ही मामले को लें। उनके अपने विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के जरिये उन्हें तीन स्थान दिए गए हैं, फिर भी आम निर्वाचन क्षेत्रों के जरिये उन्हें 12 स्थान मिल सके हैं। दरअसल, परिषद में अन्य जमींदार सदस्यों के साथ सदन में अपनी एकजुटता के बल पर संख्या की दृष्टि से वे अपने आपको इतना सुदृढ़ समझते हैं कि केवल कुछ महीने पहले ही उन्होंने अपने वर्ग के नेता के लिए एक मंत्री पद की मांग की। साथ ही यह भी सच नहीं है कि वर्गीय निर्वाचन-क्षेत्रों के अभाव में परिषद में इन वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं होगा। उस वर्ग का सदस्य भी उनके हितों का संरक्षण कर सकेगा, भले ही उसका चुनाव आम निर्वाचन-क्षेत्र से हुआ हो। यह बात स्पष्ट हो जाएगी, यदि हम ध्यान दें कि जो सदस्य विधायिका में स्थान पाता है, भले ही वह प्रत्यक्ष रूप से अपने निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधि होता है, फिर

भी वह अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं अपना और उस हद तक अपने वर्ग का भी प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में मानव प्रकृति के अनुसार 'स्व' का अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधित्व करने की किसी सदस्य की यह प्रवृत्ति स्वयं को इतनी दृढ़ता से उजागर करती है कि वह प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व को महत्वहीन बना देती है और उसे ऐसा करना भी चाहिए। यथा, कोई भी इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि वाणिज्यमंडल का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई यूरोपीय सज्जन केवल वाणिज्य के हितों का ही प्रतिनिधित्व करेगा और वह यूरोपीय समाज के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करेगा,क्योंकि उसे वाणिज्यमंडल ने चुना है, सामान्य यूरोपीय समाज ने नहीं। यह स्वाभाविक बात है कि किसी व्यक्ति का 'स्व' का क्षेत्र उसके निर्वाचन-क्षेत्र से अधिक निकट होता है। एक आम कहावत है कि कमीज की अपेक्षा किसी व्यक्ति की खाल उसके अधिक निकट होती है और यही बात विधायिका के सदस्यों पर भी लागू होती है। इसमें उनकी नेकनीयती पर कोई छींटाकशी नहीं है। इस तथ्य की अनुमति होने पर अंग्रेजों ने वर्गीय निर्वाचन क्षेत्रों का विचार त्याग दिया। अंग्रेजों की भी कभी यह इच्छा थी कि हाउस आफ कामन्स में जहाजरानी व्यवसाय, ऊनी वस्त्र व्यवसाय और लिनेन व्यवसाय के अलग-अलग प्रवक्ता हों। मेरी समझ में यह नहीं आता कि जब अन्यत्र इस व्यवस्था को तज दिया गया है,तो उसे भारत में क्यों जारी रखा जाए?इन वर्गों का तो इससे कोई हितसाधन नहीं होता। यह राज्य व्यवस्था के लिए भी हानिकर है। प्रश्न केवल यह है कि व्यावसायिक और विशिष्ट वर्गों के प्रतिनिधि आम निर्वाचन-क्षेत्रों से चुनाव लड़ सकते हैं या नहीं। किसी बात की मुझे तो ऐसी कोई जानकारी नहीं है, जो इन वर्गों के लिए निर्वाचन की दौड़ में कोई दिक्कत पैदा कर सकेगी। ऐसी कोई दिक्कत नहीं है। आम चुनाव में सरदारों तथा इनामदारों की सफलता इसे सिद्ध कर चुकी है। जब इनामदार और सरदार चुने जा सकते हैं तो फिर व्यवसाय और उद्योगों के प्रतिनिधियों के लिए क्या कठिनाई है।

52. *आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र :* आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के विरुद्ध तीन तर्क दिए जा सकते हैं। एक यह है कि यह बहुसंख्यकों को निर्वाचन का लाभ देना चाहती है। यह तय है कि प्रेसिडेंसी के मराठीभाषी क्षेत्र में मराठा और उनसे सम्बद्ध जातियों को जनसंख्या और मतसंख्या की दृष्टि से बहुमत प्राप्त है। इसलिए उन्हें किसी राजनीतिक संरक्षण की जरूरत नहीं है,परंतु इस बात का अनुभव किया जाना चाहिए कि एक शक्ति वह होती है जिसे अपनी शक्ति का ज्ञान और भान होता है। दूसरी शक्ति वह होती है, जो इतनी सुप्त तथा दबी होती है कि उसके शक्तिधारियों को पता ही नहीं होता कि उसका उपयोग किया जा सकता है। दोनों में आकाश -पाताल का अंतर होता है। मराठों तथा सम्बद्ध जातियों को उनकी शक्ति का ज्ञान नहीं है, यह बात उस समय काफी स्पष्ट हो जाती है, जब हम मराठों तथा सम्बद्ध जातियों की मत संख्या की तुलना उन निर्वाचन-क्षेत्रों में जहां उनके लिए सीटों का आरक्षण है, चुनाव लड़ने वाले विभिन्न उम्मीदवारों के बीच उनके प्रतिनिधियों की स्थिति से करते

हैं। इनमें से प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में मराठा मतदाताओं की संख्या अन्य जातियों के मतदाताओं से बढ़कर है। इसके बावजूद 1923 और 1926 के चुनावों में उनके लिए नियत सात सीटों में से वे तीन पर विजयी नहीं हो सकते थे, यदि ये सीटें उनके लिए आरक्षित न की जाती। दरअसल यह आश्चर्य की ही बात है कि मतदाता सूची में जिस जाति के उम्मीदवारों की संख्या सबसे अधिक है, प्रतिनिधित्व की दृष्टि से उसका स्थान लगभग सबसे नीचे यानी रसातल में है। इस आश्चर्यजनक तथ्य से यह प्रकट होता है कि इस बहुसंख्य जाति को अपनी शक्ति का ज्ञान व भान नहीं है। उस पर कोई बाहरी प्रभाव पड़ रहा है।

53. आरक्षित स्थान प्रणाली से विशेष रूप से प्रभावित होने वाले उच्च वर्गों के लोगों का दूसरा एतराज यह है कि यह प्रणाली उनके लिए अन्यायपूर्ण है, क्योंकि वे सीधी चुनावी लड़ाई में चुनाव नहीं जीत पाते। यह सत्य है कि इस 'प्रतिनिधित्व के अधिकार' में सामान्य और विशेष प्रणाली के कारण ऊंची जातियों पर यह अंकुश लगा हुआ है कि उन्हें नीची जातियों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार नहीं है, पर इसका क्या कोई कारण है कि प्रतिनिधित्व के सामान्य अधिकार से भिन्न 'प्रतिनिधित्व के विशेष अधिकार' को निरंकुश अधिकार बना दिया जाए? आधुनिक राजनेताओं ने अपनी पूरी प्रतिभा मताधिकार पर प्रतिबंध लगाने का कारण खोजने में खपा दी है। मेरी दृष्टि से इस बात की और अधिक आवश्यकता है कि हम दूसरों का प्रतिनिधित्व करने के किसी उम्मीदवार के अधिकार पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास क्यों करें। इस बात में कोई तुक नजर नहीं आती कि प्रतिनिधित्व अधिकार के निहित अर्थों में उसे स्वीकार करने की शर्त की व्याख्या क्यों न की जाए। यह अधिकार का उल्लंघन नहीं होगा कि विधायिका के लिए चुने जाने के लिए कुछ शर्तें हों, उदाहरणार्थ, किसी स्थानीय प्राधिकरण में कुछ वर्षों की सेवा की गई हो और जो शर्त पूरी न कर पाएं, उनकी उम्मीदवारी रद्द कर दी जाए। यह मान्यता पूरी तरह न्यायसंगत होगी कि परिणामों की दृष्टि से विधायिका का सेवा कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि इससे पूर्व कि प्रतिनिधित्व के दावे को स्वीकार किया जा सके, रुचि तथा अनुभव का प्रमाण देना ही होगा। ऊंची जातियों द्वारा नीची जातियों का प्रतिनिधित्व किए जाने के अधिकार को सीमित करने संबंधी तर्क में यही कसौटी अपनाई गई है। प्रतिनिधित्व के अधिकार की मान्यता से पूर्व उसमें केवल यह शर्त रखी गई है कि समाज की ओर कुछ रुझान होना चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अपेक्षा अनावश्यक है। क्योंकि उम्मीदवार जिस जनसमूह का प्रतिनिधित्व करना चाहता है, उसके प्रति उसका सामाजिक रवैया, रुचि और अनुभव से अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में तो केवल रुचि और अनुभव विनाश का कारण होंगे, यदि उनके साथ सही प्रकार के सामाजिक रवैये का गठबंधन और अंकुश नहीं होगा। इस बात में कोई शक नहीं है कि ऊंची जातियों का सामाजिक बर्ताव नीची जातियों के साथ सही नहीं है। यह भी संदेह की बात नहीं है कि इन जातियों की प्रशंसा में देश में सदा-सर्वदा यह कहा जाता है कि बौद्धिक

रूप से वे भारत की अत्यधिक शक्तिशाली जातियां हैं। पर इतना ही सच यह भी है कि उन्होंने अपनी बौद्धिक शक्तियों का सदुपयोग कभी भी नीची जातियों के हित में नहीं किया, बल्कि उन्होंने जनसाधारण से सदा घृणा की है, उन्हें अपमानित और बहिष्कृत किया है और भले ही उन्हें अपने से भिन्न जाति का न माना हो पर भिन्न वर्ग का तो माना ही है। किसी भी वर्ग को दूसरे वर्ग पर शासन करने का अधिकार नहीं है। भारत की ऊंची जातियों जैसे वर्ग को तो शासन करना ही नहीं चाहिए। अपनी आचार संहिता के नाम पर वे अति विशिष्ट वर्ग बन बैठ हैं। अपने पूर्वाग्रहों के दलदल में वे आकंठ डूबे हैं। जनसाधारण की इच्छाओं को उन्होंने कभी समझा ही नहीं। जनसाधारण से उन्हें कुछ लेना देना नहीं है। उनके हित भी अलग हैं। इसलिए इस मांग में कोई अनौचित्य नहीं है कि जो उम्मीदवार दूसरों का प्रतिनिधित्व करना चाहता है, वह ऐसा होना चाहिए जिसके लक्ष्य, उद्देश्य और प्रयोजन वैसे ही हों जैसे उनके जिनका वह प्रतिनिधित्व करना चाहता है।

54. आरक्षित निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के बारे में तीसरी आपत्ति यह है कि इसके कारण अदक्षता आती है,क्योंकि रेखा से नीचे का उम्मीदवार रेखा से ऊपर के उम्मीदवार को लांघकर सीट हथिया लेता है। यह आलोचना भी सही है। परन्तु इस संबंध में भी अन्य विचारणीय बातें हैं,जिन्हें ध्यान में रखा ही जाए। सबसे पहले मैं प्रोफेसर डाइसे को उद्धृत करूंगा। उन्होंने ठीक ही कहा है, 'संवैधानिक व्यवस्था का बुनियादी उद्देश्य कभी भी नहीं रहा है कि बौद्धिक क्षमता वाली यथासंभव सर्वोत्तम संसद बने। दरअसल यह बात प्रतिनिधि सरकार के विचार के प्रतिकूल होगी कि ऐसी संसद के गठन का प्रयास किया जाए,जो बुद्धिमत्ता की दृष्टि से राष्ट्र के जनसाधारण से कहीं ज्यादा बेहतर हो।' लेकिन यह मान भी लिया जाए कि बौद्धिक वर्गों के स्थान पर अबौद्धिक वर्गों के उम्मीदवारों के आ जाने से नुकसान होगा,तो भी पिछड़ी जातियों के सहज आदर्शवाद से उस नुकसान की भरपाई जरूरत से ज्यादा हो जाएगी। इसमें संदेह नहीं कि उच्च वर्गों के प्रतिनिधि तुच्छ से तुच्छ चिंताओं से घिरे रहते हैं और बहुधा अपने वर्ग के धंधों में उलझे रहते हैं, राष्ट्र की उन्हें चिंता नहीं होती। उनका जीवन अति व्यस्त या धनलोलुपतापूर्ण इतना वैयक्तिक, इतना आत्म-केन्द्रित और आत्म-तुष्ट होता है कि उनके लिए सामाजिक प्रगति की संकल्पना पानी के बुलबुले से अधिक नहीं होती, किन्तु निम्न वर्ग के लोगों को हर समय अपनी कठिनाइयों का अहसास रहता है,जिनका निराकरण केवल सामाजिक परिवर्तन से ही संभव है। जहां परस्पर निर्भरता की चेतना का जन्म सहकारिता की जरूरत से होता है और वह उदारता उत्पन्न करती है, वहां संस्कारविहीन शक्तियों तथा अविकसित गुणों वाली भावना उनकी इच्छाओं को भड़काती है। प्रगति संबंधी प्रेरक शक्ति के लिए हमें निम्न वर्ग का मुंह जोहना पड़ेगा। पिछड़ी हिन्दू जातियों के लिए सीटों का आरक्षण करके हम राष्ट्र सेवा के लिए अति सशक्त सामाजिक शक्तियां जुटा सकते हैं। उनके अभाव में कोई भी संसदीय सरकार विपन्न ही समझी जाएगी।

55. *सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल :* जिन संप्रदायों के हित के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था की गई है, उनके लिए एक भरोसे का प्रतिनिधित्व आवश्यक और अनिवार्य है। इसमें कोई विवाद नहीं होना चाहिए। बहरहाल अगले कुछ समय तक जिस मुद्दे पर आपत्ति उठाई जा सकती है, वह है कि क्या यह सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों के जरिये ही हो? सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों के विरोधियों का आरोप है कि देश के विभिन्न भागों में काफी अर्से से जो सांप्रदायिक दंगे होते रहे हैं, उनकी जिम्मेदारी सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों पर है। सीधे-सीधे तो यह पता नहीं चलता है कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों और सांप्रदायिक दंगों में क्या सीधा संबंध हो सकता है? इसके विपरीत दलील दी गई है कि मुसलमानों की मांग पूरी करने के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल बनाकर असंतोष और वैमनस्य का एक कारण दूर कर दिया गया है। किन्तु यह उतना ही सच है कि साम्प्रदायिक निर्वाचक-मंडलों के कारण सांप्रदायिक दंगे कम नहीं हो सके, बल्कि संभवत: कुछ बढ़े ही हैं, क्योंकि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल सांप्रदायिक भावनाएं भड़काते ही हैं और वे ऐसी स्थिति पैदा करते ही हैं कि दोनों संप्रदायों के नेताओं के बीच एक दूसरे के प्रति जिम्मेदारी की भावना नहीं रहती। नतीजा यह होता है कि अपने संप्रदाय के लोगों को शांति की राह दिखाने के लिए बजाए वे भीड़ के क्षणिक आवेश में बह जाते हैं।

56. मुसलमान इस व्यवस्था को कायम रखने पर जोर देते रहे हैं और वे अपने इस दृष्टिकोंण के लिए तीन आधार बताते हैं।

57. पहली बात वे यह कहते हैं कि मुस्लिम संप्रदाय के हित अन्य संप्रदायों के हित से भिन्न हैं और इन हितों की रक्षा के लिए उनके पास पृथक निर्वाचक-मंडलों की जरूरत है। इस सवाल के अलावा कि क्या अलग हितों की रक्षा के लिए अलग निर्वाचक-मंडल आवश्यक हैं, यह निश्चय करना भी आवश्यक है कि क्या कोई ऐसे हित हैं भी जिनके बारे में कहा जा सके कि वे इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे किसी अन्य संप्रदाय के हित नहीं हैं। धर्मनिरपेक्षता धर्मसापेक्षता से भिन्न क्षेत्र है। धर्मनिरपेक्षता में हर मामले का सरोकार सभी से सामान्यत: होता है। यथा टैक्स दिया जाए या नहीं, देना है तो कितना और उसकी दर क्या हो? क्या राष्ट्रीय खर्च किसी एक मद की तुलना में दूसरी मद के लिए खासतौर पर निर्धारित किया जाए? क्या शिक्षा नि:शुल्क और अनिवार्य हो? क्या सरकारी भूमि सीमित पट्टे पर दी जाए या दखलकारी पट्टे पर? क्या उद्योगों को सरकारी सहायता दी जाए? क्या किसी क्षेत्र विशेष में ज्यादा पुलिस तैनात की जाए? क्या सरकार श्रमिक वर्गों की गरीबी को देखते हुए उनके लिए सामाजिक बीमा की योजना तैयार करे, जिसके अधीन बीमारी, बेरोजगारी और मौत की दशा में सुविधा दी जाये, क्या अवैतनिक मजिस्ट्रेटों की नियुक्ति से न्याय व्यवस्था का सर्वाधिक हित-साधन हुआ है? क्या और बेहतर नतीजों के लिए चिकित्सा आचार या

विधि-आचार संहिता में सुधार की आवश्यकता है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो परिषद के सामने विचारार्थ सामान्य रूप से आते हैं। इस प्रश्नावली में क्या कोई ऐसा प्रश्न है,जिसके बारे में यह कहा जा सके कि यह केवल मुस्लिम संप्रदाय से संबंधित है? यह सही है कि मुस्लिम संप्रदाय शिक्षा और जनसेवा के प्रश्न के प्रति रुचि रखता है। परन्तु इस बारे में भी यह कहना ही पड़ेगा कि अकेला मुस्लिम संप्रदाय ही ऐसा नहीं है,जिसकी इन विषयों के प्रति विशेष रूचि है। गैर-ब्राह्मण और दलित वर्ग भी इस मसले में उतनी ही गहन रुचि रखते हैं। यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि बंबई विधान परिषद में प्रस्तुत विश्वविद्यालय सुधार विधेयक पर इन तीनों ने एकजुट होकर प्रयास किया। मुसलमानों के अलग हितों की बात करना कपोल कल्पना है। असल बात यह है कि अलग हित जैसी कोई चीज नहीं है, कतिपय मामलों के बारे में विशेष चिन्ता हो सकती है।

58. चलो हम यह मान भी लें कि अलग हित हैं,पर सवाल यह है कि क्या सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों और आरक्षित सीटों की व्यवस्था के मुकाबले पृथक निर्वाचक-मंडलों की व्यवस्था से इन हितों की रक्षा बेहतर तरीके से हो सकती है? मेरा उत्तर यही है कि किसी अल्पसंख्यक संप्रदाय के पृथक या विशेष हितों की रक्षा पृथक निर्वाचक-मंडलों के मुकाबले सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों या आरक्षित सीटों की व्यवस्था द्वारा बेहतर तरीके से हो सकती है। यह स्वीकार करना होगा कि मुख्यत: कुछ अनुत्तरदायी अतिवादियों के कारण ही किसी हित पर आंच आती है। अत: हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों को देश की परिषदों में आने ही न दें। यदि दोनों संप्रदायों के ऐसे अनुत्तरदायी व्यक्तियों को देश की परिषदों से परे रखना है,तो उसके लिए सर्वोत्तम प्रणाली यही है कि मुसलमान उम्मीदवार हिन्दुओं के मतों से निर्वाचित किए जायें और हिन्दू उम्मीदवार मुसलमानों के मतों से। सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों के बजाए संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों को तरजीह दी जानी चाहिए,क्योंकि पृथक निर्वाचक-मंडल प्रणाली के मुकाबले वे उस नतीजे को प्राप्त करने के लिए अधिक उपयुक्त हैं। जो भी हो, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों को पृथक निर्वाचक-मंडल प्रणाली की अपेक्षा संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली से अधिक लाभ मिलता है। पृथक निर्वाचक-मंडल प्रणाली से अल्पंसख्यकों को केवल अपना निजी कोटा मिलता है। उससे अधिक कुछ नहीं। सदन के बाकी सदस्यों की उनके प्रति कोई निष्ठा नहीं होती। अत: वे अल्पसंख्यकों की इच्छापूर्ति की कामना से द्रवित नहीं होते। इस तरह अल्पसंख्यकों को केवल अपने साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। प्रतिनिधित्व की कोई भी प्रणाली अल्पसंख्यक को बहुसंख्यक नहीं बना सकती। अत: निश्चित है कि बहुमत उन पर हावी हो जाएगा। दूसरी ओर संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों तथा आरक्षित सीटों की व्यवस्था के अधीन अल्पसंख्यक न केवल अपने कोटे के स्थान पा सकेंगे,बल्कि उन्हें कुछ और भी लाभ मिल सकेगा। क्योंकि बहुसंख्यकों का हर सदस्य, जो आंशिक रूप से

अल्पसंख्यकों के वोटों के बल पर जीतेगा, भले ही अल्पसंख्यकों का सदस्य न हो पर वह अल्पसंख्यकों का हितैषी सदस्य होगा। इस तरह मेरे विचार में यह एक बहुत बड़ा लाभ होगा। वह मिश्रित निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली को पृथक निर्वाचक-मंडल प्रणाली से बढ़िया बनाता है। वह अल्पसंख्यकों का रक्षा-कवच हो सकता है। ऐसा लगता है कि मुस्लिम अल्पसंख्यक यह सोचते हैं कि परिषद कार्डिनलों की निर्वाचित सभा जैसी है, जिसे पोप के चुनाव के लिए बुलाया जाता है। वह तो धर्म-गुरुओं की सभा है जिसे धार्मिक विवादों के निपटारे के लिए बुलाया जाता है। यदि ऐसा होता, तो उनका यह आग्रह आचरण का विवेकपूर्ण मार्ग होता कि भले ही चन्द व्यक्ति हों, पर वे लौह पुरुष हों। परन्तु अब समय आ गया है, जब इस समुदाय को यह सोचना चाहिए कि यह सभा किसी धर्म-सभा से बहुत भिन्न है। यह एक धर्मनिरपेक्ष संस्था है। वह धर्मनिरपेक्ष मामलों को तय करती है। ऐसे मामलों के निर्णय में फैसला सदा बहुसंख्यकों के पक्ष में होता है। यदि यह बात सही है, तो क्या ऐसी प्रणाली स्वयं अल्पसंख्यकों के हित में नहीं होगी, जो उसके सदस्यों के अलावा अन्य सदस्यों को भी उनके हितों का समर्थन करने के लिए मजबूर करती है।

59. पृथक निर्वाचक-मंडलों के लिए, जो दूसरा मूल आधार बताया जा रहा है, वह है कि मुसलमान अपने आप में एक संप्रदाय हैं। वे अन्य संप्रदायों से भिन्न हैं, न केवल धार्मिक दृष्टि से अपितु अपने इतिहास, अपनी परम्पराओं, अपनी संस्कृति, अपने पर्सनल कानूनों, अपनी सामाजिक रीति-रिवाजों की दृष्टि से भी। उनके कारण जीवन के बारे में उनका दृष्टिकोण इतना अधिक भिन्न हो गया है कि किन्हीं सांझे सामाजिक संबंधों, सहानुभूतियों अथवा सुविधाओं का उन पर रत्ती भर प्रभाव नहीं पढ़ा है। वास्तव में उनकी एक पृथक जाति है। वे अपने बारे में ऐसा सोचते हैं, भले ही वे इस देश में सदियों से रहते चले आ रहे हैं। इसी धारणा के आधार पर यह दलील दी जाती है कि यदि उन्हें अन्य संप्रदायों के साथ संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र में भाग लेने के लिए विवश किया जाता है, तो उसके फलस्वरूप जो राजनीतिक घुलन-मिलन होगा, उससे उनके संप्रदाय की विशिष्टता पर आंच आएगी। यह धारणा कहां तक सही तस्वीर पेश करती है, उस पर मैं विचार नहीं करना चाहता। इतना कहना काफी होगा कि मेरे विचार से यह ऐसी धारणा नहीं है, जिसके बारे में कहा जा सके कि वह जीवन के प्रति ईमानदार है। लेकिन यदि जान लिया जाए कि वह सही है और यह भी मान लिया जाए कि मुस्लिम संप्रदाय की खासियत को बनाए रखना एक ऐसा आदर्श है, जो इस संप्रदाय को स्वीकार्य है, तो भी हमारी समझ में नहीं आता कि इस प्रयोजन के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचक-मंडलों को क्यों आवश्यक समझा जाए? भारत एकमात्र ऐसा देश नहीं है जहां भिन्न-भिन्न जातियों के लोग रहते हैं और वहां सांझी सरकार बनाने की बात कही जाती है। ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन ही कनाडा और दक्षिण अफ्रीका ऐसे दो देश हैं जहां दो अलग-अलग प्रजातियों के लोग सांझी शासन प्रणाली की खोज कर रहे हैं। जैसे भारत में हिन्दू

और मुसलमान हैं, वैसे ही दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश और डच हैं और कनाडा में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी हैं। वे अलग-अलग जातियां हैं और उनकी अपनी अपनी अलग-अलग संस्कृतियां हैं। परन्तु इनमें से किसी ने भी कभी संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों के बारे में इस आधार पर आपत्तियां नहीं उठाईं कि चुनाव के लिए दो जातियों की सांझेदारी की सांझी व्यवस्था उनकी विशिष्टताओं को बनाए रखने के लिए हानिकर है। ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर भी ऐसे उदाहरणों की कोई कमी नहीं है, जहां भिन्न-भिन्न जातियों के लोग संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों में भाग ले रहे हैं। पोलैण्ड में पोल, रुथेनियाई, यहूदी, गोरे-रूसी, जर्मन और लिथुआनियाई हैं। लातविया में लातवियाई, रूसी , यहूदी जर्मन, पोल, लिथुआनियाई और एरुथोनियाई हैं। एस्थोनिया में जर्मन, यहूदी, स्वीड, रूसी, लातवियाई और तातारी हैं। चेकोस्लोवाकिया में चेक, चेकस्लोवाक, जर्मन, मय्यार, रुथेनियाई, यहूदी और पोल हैं। आस्ट्रिया में जर्मन, चेक और स्लोबैन हैं। जबकि हंगरी में, हंगेरियाई, जर्मन, स्लोवाक, रुथेनियाई, क्रोएशियन और सर्बियाई हैं। ये सभी समूह केवल संप्रदाय नहीं हैं। ये जातियां हैं। प्रत्येक की अपनी-अपनी अलग-अलग विशिष्टता है। वे एक ही सरकार के अधीन मिलजुल कर रहती हैं, फिर भी उनमें से किसी ने भी संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों के बारे में इस आधार पर आपत्ति नहीं की कि उनमें भाग लेने से उनकी विशिष्टता लुप्त हो जाएगी।

60. पर इस तर्क की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए गैर-मुस्लिम संप्रदायों का उदाहरण देना आवश्यक नहीं हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहां विश्व के अन्य भागों में मुस्लिम अल्पसंख्यकों ने कभी भी अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिए सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की जरूरत महसूस नहीं की। इसके बारे में नहीं कहा जा सकता कि वह तो अन्य संप्रदायों के साथ राजनीतिक संसर्ग से लगने वाली छूत की बीमारी है। ऐसा लगता है कि इस बात का पर्याप्त ज्ञान नहीं है कि भारत ही एक ऐसा देश नहीं है, जहां मुसलमान अल्पंसख्या में हैं। ऐसे अन्य देश भी हैं जहां उनकी ऐसी ही स्थिति है। अल्बानिया में मुसलमानों की तादाद काफी ज्यादा है। बल्गारिया, यूनान और रुमानिया में वे अल्पसंख्यक हैं और यूगोस्लाविया तथा रूस में वे अति अल्प संख्या में हैं। क्या वहां मुस्लिम संप्रदायों ने सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों की जरूरत पर बल दिया है? राजनीतिक इतिहास के सभी अध्येता यह जानते हैं कि इन देशों के मुसलमानों ने पृथक् निर्वाचक-मंडलों के बिना काम चलाया है। ना ही उन्हें प्रतिनिधित्व के किसी निश्चित अनुपात का आश्वासन दिया गया है। फिर भी भारत में ऐसा मतैक्य है कि भारत में अभी राजनीति में सम्पूर्ण धर्मनिरपेक्षता की स्थिति नहीं आ पाई है। अतः यहां मुसलमानों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व की गारंटी मिलनी चाहिए, वरना कहीं ऐसा न हो कि बहुमत के विद्वेष के कारण राजनीतिक फलक से उनका नामोनिशान ही मिट जाए। दुनिया के अन्य भागों के मुस्लिम अल्पसंख्यक अपना काम इस आश्वस्त कोटे के बिना ही चला रहे हैं। इसलिए मेरे विचार में भारत में मुसलमानों द्वारा

प्रस्तुत तर्क अपने लक्ष्य से काफ़ी भटक गया है और मेरे विचार में उसका कोई औचित्य नहीं है।

61. मुसलमानों के लिए पृथक सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों को बनाये रखने के पक्ष में तीसरा तर्क यह दिया जाता है कि इस बात का अंदेशा है कि मिले-जुले निर्वाचन-क्षेत्र में मुसलमानों की वोट-शक्ति को गैर-मुस्लिम वोट शक्ति इतनी क्षीण कर देगी कि मिले-जुले निर्वाचन क्षेत्र से चुना गया ऐसा मुस्लिम प्रतिनिधि मुसलमानों का सच्चा प्रतिनिधि न होकर कमजोर प्रतिनिधि होगा और गैर-मुस्लिम संप्रदायों के हाथों की कठपुतली होगा। यह आशंका सही दीख पड़ती है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु थोड़े बहुत विवेक से यह समझा जा सकता है कि यह निराधार है। यदि बहुसंख्य गैर-मुस्लिम मतदाता किसी मुसलमान उम्मीदवार को चुनते हैं, तो जो परिणाम मुसलमान सोचते हैं, वह सही हो सकता है यदि गैर-मुस्लिम ऐसी कोई शरारत करने पर तुल जाए। परन्तु वास्तविकता यह है कि आम चुनाव के समय बहुत से गैर-मुस्लिम उम्मीदवार होंगे। ऐसी स्थिति में सभी गैर-मुस्लिम मतदाताओं की पूरी शक्ति मुसलमान उम्मीदवारों पर केन्द्रित नहीं होगी। ना ही गैर-मुस्लिम उम्मीदवार मुस्लिम उम्मीदवारों पर ध्यान केन्द्रित करके गैर-मुस्लिम मतदाताओं को अपने वोट बर्बाद करने देंगे। इसके विपरीत वे यदि सभी को नहीं, तो अनेक मतदाताओं को अपने लिए जुटा लेंगे। यदि यह विश्लेषण सही है तो इसका अर्थ होगा कि बहुत कम गैर-मुस्लिम मतदाता मुस्लिम उम्मीदवार को वोट देने के लिए बच रहेंगे। इस तरह मुसलमानों की यह आशंका कि गैर-मुस्लिम मतदाता बड़े पैमाने पर कोई कार्यवाही मुस्लिम उम्मीदवारों के विरुद्ध करेंगे, नितांत निर्मूल धारणा है। स्वयं मुसलमान भी इस बात पर यकीन नहीं करते जैसा कि 'दिल्ली' प्रस्तावों से प्रकट होता है। इन प्रस्तावों के अनुसार जिनका जिक्र इस प्रतिवेदन में किया जा चुका है, मुसलमानों ने इस बारे में सहमति प्रकट की है कि वे सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों को छोड़ देंगे और संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों को अपना लेंगे बशर्ते कि सांप्रदायिक प्रांतों की उनकी मांग पूरी कर दी जाए और पंजाब तथा बंगाल में उन्हें मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व के बारे में कतिपय अन्य रियायतें दे दी जाएं। अब यदि मान लिया जाए कि इन सांप्रदायिक प्रांतों का अपने से बाहर कोई मतलब नहीं है और हमें यही धारणा बनानी होगी, तो यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रांत में मुसलमान अल्पसंख्यक इस प्रकार के संरक्षण से संतुष्ट होंगे, जिसे वे संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्रों से प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए सवाल यह है कि सांप्रदायिक प्रांतों को जोड़े बिना संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र पर्याप्त क्यों नहीं होने चाहिए, जब उनके बारे कहा जाता है कि सांप्रदायिक प्रांतों को जोड़ने से वे पर्याप्त होंगे। चलिए इस बात को छोड़ भी दें, तो यदि इस मुस्लिम दृष्टिकोण में कोई सार है कि वोटों का काटा जाना ऐसी बुराई है, जो संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली से स्वयं चिमड़ जाती है, तो मेरे विचार में उसका इलाज सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों को बनाए रखना नहीं है। उसका इलाज है कि वयस्क

मताधिकार को लागू करके मुस्लिम निर्वाचकों की संख्या को यथासंभव पूर्णतम क्षमता तक बढ़ाया जाए। इसका प्रभाव यह होगा कि मुस्लिम संप्रदाय की मतदाता संख्या पर्याप्त रूप से बढ़ जाएगी। उससे गैर-मुस्लिम वोटों के मिश्रण से संभावित तरलीकरण का दुष्प्रभाव नहीं हो पाएगा।

62. इन सब तथ्यों से पता चलता है कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों का समर्थन किसी भी युक्तिसंगत आधार पर सही नहीं उतरता। इसका आधार केवल भावुकता और भावना है। मैं यह नहीं कहता कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान में भावना और भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। मैं यह भलीभांति समझता हूं कि सरकार के प्रति आस्था विश्वास पर टिकी होती है और विश्वास का मूल है-भावना। ऐसी आस्था को प्राप्त किया जाए, यदि उसे राज्य व्यवस्था को हानि पहुंचाए बिना प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व बुनियादी तौर पर इतना गलत है कि उसके मामले में भावना के वशीभूत हो जाना बुराई को अमर करना होगा। उसके विरोधी भी इस प्रणाली के मूल दोष को नहीं देख पाये हैं। लेकिन इसमें मूल दोष है, यह उस हर व्यक्ति के सामने प्रत्यक्ष हो जाएगा, जो उसके कार्यान्वयन की ओर ध्यान देगा। यह स्पष्ट है कि मुस्लिम प्रतिनिधि गैर-मुस्लिमों के लिए कानून बनाते हैं। वे गैर-मुस्लिमों से एकत्रित राजस्व का निपटारा करते हैं। वे गैर-मुस्लिमों के लिए शिक्षा-नीति का निर्धारण करते हैं। वे यह तय करते हैं कि गैर-मुस्लिम कौन-कौन सा कितना कर प्रदान करें। ये वे कुछ अति महत्वपूर्ण फैसले हैं, जो मुसलमान विधायक करते हैं और उनके द्वारा गैर-मुस्लिमों के हित को प्रभावित करते हैं। एक सवाल उठाया जा सकता है कि किस अधिकार से वे ऐसा करते हैं? ध्यान रहे कि इसका जवाब यह नहीं है कि गैर-मुस्लिमों के प्रतिनिधि चुने जाने के अधिकार से वे ऐसा करते हैं। उत्तर है कि मुस्लिमों के प्रतिनिधि चुने जाने के अधिकार से। राजनीतिक जीवन का यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि 'शासन' शासित वर्ग की सहमति से ही होना चाहिए। ऊपर मैंने किस आधार पर कहा है कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल उस सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं? आधार यह है कि यह सहमति के बिना शासन है। यह राजनीतिक न्याय के समूचे विवेक के प्रतिकूल है कि ऐसी प्रणाली का अनुमोदन किया जाए, जो एक समुदाय के लोगों को यह अनुमति देती है कि वे स्वयं को दूसरे समुदायों के मताधिकार के आगे समर्पित किए बिना उन पर शासन करे। यदि जैसाकि मुसलमान कहते हैं कि उनकी एक विशिष्ट जाति है और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में अन्य जातियों के दृष्टिकोण से भारी अन्तर हैं, तो प्रणाली में निहित खतरा इतना भयानक हो जाता है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

63. परिषद के वर्तमान गठन में यही खामियां हैं। इसका गठन 1919 में साउथबरो कमेटी ने किया था। कमेटी द्वारा तैयार किए गए ढांचे के स्वरूप को भारत सरकार ने दिनांक 23 अप्रैल, 1919 के अपने 1919 के डिस्पैच संख्या 4 में स्पष्ट कर दिया था। डिस्पैच भारत-

मंत्री के नाम था। उसमें कहा गया था:

"इसमें पहले कि हम (साउथबरो कमेटी) की रिपोर्ट पर ब्यौरेवार विचार करें, कुछ महत्व का एक प्रारंभिक प्रश्न सामने आ जाता है। जैसा कि आप देखेंगे कि कमेटी के कार्य को बहुत अधिक सीमा तक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दिशा में नहीं मोड़ा गया है। उनके सामने जो विभिन्न समस्याएं आईं, उन पर विचार करते समय उन्होंने अपने समाधान को सामान्य तर्कों पर आधारित करने के बजाए आमतौर से किसी समझौते पर पहुंचने की कोशिश की।"

64. मेरे साथियों ने मौजूदा ढांचे के मूल महत्व पर विचार करने का कष्ट नहीं उठाया है। इस बात में तो कोई शक नहीं कि उन्होंने यह सिफारिश की है कि मनोनयन की प्रणाली समाप्त कर दी जाए। मैं उनकी इस बात से सहमत हूं। लेकिन उसके अलावा उन्होंने निर्वाचन के समूचे ढांचे को ज्यों का त्यों रखा है,जैसे कि उस पर कोई एतराज ही न हो। इस बारे में मैं उनसे सहमत नहीं हूं। मैं कह चुका हूं कि यह समूचा ढांचा ही दोषपूर्ण है और इसमें आमूल परिवर्तन किया ही जाना चाहिए। मैं यह कहना चाहूंगा कि सुधारों का लक्ष्य अगस्त 1917 की घोषणा में बताया गया है। उसमें स्वशासी संस्थाओं की स्थापना के लक्ष्य की घोषणा की गई है। उस समय निर्वाचन का जो ढांचा खड़ा किया गया था, वह इसकी प्राप्ति की दिशा में केवल अधूरा ढांचा था। उसका औचित्य केवल इसलिए था कि उसमें स्वीकार किया गया था कि नौकरशाही के राज से लोक राज तक का संक्रमण काल जरूरी था। निर्वाचन के वर्तमान ढांचे को केवल इस अनुमान पर जारी रखा जा सकता है कि विभक्त शासन की वर्तमान प्रणाली चलती रहेगी। प्रतिनिधित्व की वर्तमान प्रणाली पूर्ण शासन से तनिक भी मेल नहीं खाएगी। अत: उसे तो ठुकरा ही दिया जाए।

65. मौजूदा प्रतिनिधित्व प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने का एक और भी कारण है। सर्वत्र प्रतिनिधि सरकार का मतलब है पार्टी की सरकार। वास्तव में तो पार्टी की सरकार प्रतिनिधि सरकार का ऐसा अनिवार्य पुछल्ला है कि बखूबी कहा जा सकता है कि प्रतिनिधि सरकार केवल पार्टी सरकार के माध्यम से ही चल सकती है। सर्वोत्तम प्रकार की पार्टी सरकार वह होती है,जो द्विदलीय प्रणाली के अधीन चले और स्थिर तथा उत्तरदायी सरकार सुनिश्चित कर सके। कार्यपालिका को उस हद तक उत्तरदायी बनाया जाए,जितना कानून द्वारा उसे विधायिका के प्रति जिम्मेदार बनाया जा सकता है। परन्तु यदि विधायिका का गठन इस प्रकार किया गया हो कि वह कार्यपालिका पर अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्रभाव न डाल सके, तो यह दायित्व नाममात्र का होगा। स्थिर सरकार के लिए आवश्यक है कि कोई अनिश्चितता न रहे। कार्यपालिका के लिए अति आवश्यक है कि वह अपनी कार्यप्रणाली को इस प्रकार निर्धारित करे कि वह सदा किसी व्यवस्थित योजना नीति का पालन करे। लेकिन इसके लिए बहुमत का अडिग समर्थन चाहिए। ऐसा केवल तभी हो सकता है, जब

द्विदलीय प्रणाली हो। यह समूह-प्रणाली में संभव नहीं है। समूह-प्रणाली के अधीन कार्यपालिका मतैक्य वाली बृहद सभा नहीं होगी, बल्कि उन समूहों के नेताओं के सिद्धान्तों की पैबन्द लगी गुदड़ी होगी जो सत्ता के फेर में अपनी निष्ठा दांव पर लगाने के लिए राजी हो गये हैं। ऐसी प्रणाली कदापि स्थिर सरकार के लिए जरूरी सतत समर्थन का आश्वासन नहीं दे सकती। इसका कारण यह है कि वहां निजी लाभ के लिए सदा ही समूहों के हेरफेर का लोभ बना रहता है। वर्तमान परिषद, प्रतिनिधित्व प्रणाली के कारण बर्क के शब्दों में, "यह भानमती का पिटारा है जो आडी-टेढ़ी व उल्टी-पल्टी बढईगिरी का नमूना है, बेतुकी पच्चीकारी की खिचड़ी है, बिना सीमेंट का फूलपत्तीदार फर्श है और है सरकार के मित्रों और खुले शत्रुओं का बेतुका जमावड़ा"। छुईमुई और रेत के महल जैसी यह विधायिका द्विदलीय शासन प्रणाली को शायद ही स्वीकार कर सके। पार्टी प्रणाली के बिना न तो स्थिर और न ही उत्तरदायी सरकार होगी। निर्वाचन-क्षेत्रों का गठन करते समय समूह-प्रणाली के मूल की छानबीन करनी ही होगी। इसका कारण है, बहरहाल निर्वाचन-क्षेत्र वे सांचे हैं जिनमें परिषद को ढाला जाता है। यदि परिषद का पुनर्गठन इस प्रकार करना है कि वह दक्षता से काम कर सके, तो जाहिर है कि सांचे का पुनर्निर्माण करना ही पड़ेगा।

66. निर्वाचन प्रणाली को नया रूप देने के सुझाव देते समय मैंने तीन बातों का ध्यान रखा है: (1) भारत के बहुत से राजनेताओं के इस घातक भोलेपन से गुमराह न हों कि निर्वाचन प्रणाली केवल क्षेत्रीयता पर आधारित हो और देश की सामाजिक परिस्थितियों से उसका कोई रिश्ता नाता न हो; (2) विशेष प्रतिनिधित्व के लिए किसी ऐसे आर्थिक या सामाजिक हित को मान्यता न दी जाए, जो क्षेत्रीय निर्वाचन-क्षेत्रों के जरिए प्रतिनिधित्व पा सकता हो; और (3) यदि किसी हित को विशेष प्रतिनिधित्व का पात्र समझा जाता है, तो प्रतिनिधित्व का तरीका ऐसा हो कि ऐसे हित के प्रतिनिधियों को अलग समूह बनाने की छूट न हो।

67. इन तीन बातों में से दूसरी प्रत्यक्षत: मताधिकार पर आधारित है। रिपोर्ट के एक और भाग में मैंने वयस्क मताधिकार को लागू करने की सिफारिश की है। मुझे यकीन है कि इसे स्वीकार कर लिया जाएगा। मैंने अपनी सिफारिशों का आधार इसी को बनाया है। लेकिन यदि ऐसा नहीं होता है और यदि सीमित मताधिकार प्रथा जारी रहती है, तो उस स्थिति में भिन्न सिफारिशें करनी होंगी। इनका भी मैंने प्रस्ताव किया है। उपरोक्त कारणों से और अंतिम उल्लेख के अनुसार मेरा सुझाव है कि :

(1) यदि वयस्क मताधिकार स्वीकार कर लिया जाता है, तो मुसलमानों, दलितों और आंग्ल-भारतीयों के अतिरिक्त अन्य वर्गों को क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व दिया ही जाएगा।

(2) यदि मताधिकार सीमित रखा जाता है, तो मुसलमानों, दलितों और आंग्ल-भारतीयों मराठों और सम्बद्ध जातियों तथा श्रमिकों को छोड़कर बाकी के लिए मतदान क्षेत्रीय ही होगा।

(3) ऐसा विशेष प्रतिनिधित्व सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों और आरक्षित सीटों के जरिये दिया जाएगा। श्रमिकों को यह रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियनों से बने निर्वाचन क्षेत्र के जरिये दिया जाएगा।

68. इन सुझावों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मैं इसके पक्ष में हूं कि समूची वर्गीय निर्वाचक-मंडल प्रणाली को समाप्त कर दिया जाए, यथा (1) इनामदारों और सरदारों, (2) व्यापार तथा वाणिज्य, चाहे भारतीय हो या यूरोपीय, (3) भारत के ईसाइयों, और (4) उद्योग के लिए। इसे सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों के साथ मिला दिया जाए। ऐसी कोई बाधा नहीं है, जो साधारण मार्ग से परिषदों में उनकी आवाज को सुने जाने से रोक सके। दूसरी बात यह है कि हालांकि मैं कुछ वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का समर्थन करता हूं, परन्तु मैं पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों के जरिए उन्हें प्रतिनिधित्व दिए जाने के विरुद्ध हूं। क्षेत्रीय निर्वाचन-क्षेत्र और पृथक निर्वाचक-मंडल दो चरम सीमाएं हैं, जिनसे बचना ही होगा। इस अति अलोकतांत्रिक देश में लोकतंत्र शासन प्रणाली लागू करने के लिए प्रतिनिधित्व की जो योजना बनाई जाए, उसमें उक्त निर्वाचन क्षेत्रों के लिए कोई स्थान होना ही नहीं चाहिए। आदर्श मार्ग है आरक्षित सीटों वाला संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र। इससे कम पर्याप्त नहीं होगा और इससे अधिक सुप्रशासन के लक्ष्यों को ही विफल कर देगा। यूरोपीय समुदाय के मामले को मैं प्रत्यक्ष कारणों से अपवाद मानता हूं। उनके लिए विशेष निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था की जा सकती है। लेकिन वे निश्चय ही सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र होंगे, वर्गीय निर्वाचक-मंडल नहीं।

अध्याय 3

सीटों का बंटवारा

1. अल्पसंख्यकों में सीटों का बंटवारा

69. मेरे साथियों ने विभिन्न अल्पसंख्यकों के लिए सीटों का जो कोटा निश्चित किया है, उसकी सारणी इस प्रकार है :

अल्पसंख्यक	सीटों की संख्या 140 में से		
	सामान्य	और	विशेष
1 यूरोपीय	2		5
2 आंग्ल-भारतीय	2		शून्य
3 भारतीय ईसाई	11		शून्य
4 दलित वर्ग	10		शून्य
5 मुस्लिम	43		2

70. इस सारणी से प्रकट होता है कि मेरे साथियों ने विभिन्न अल्पसंख्यकों के लिए सीटों का बंटवारा करते समय एक समान सिद्धान्त नहीं अपनाया है। ना ही ऐसा लगता है कि उन्होंने सम्बद्ध अल्पसंख्यकों के साथ कोई न्याय करने का प्रयास किया है। यह बात स्पष्ट हो जाती है, जब मेरे साथियों द्वारा मुसलमानों के साथ किए गए बर्ताव की तुलना हम दलित वर्गों के साथ किए गए बर्ताव से करते हैं। प्रेसिडेंसी में मुसलमानों की संख्या विधान परिषद के लिए नियत कुल प्रतिनिधित्व में से 19 प्रतिशत है। मेरे साथियों ने उनके लिए 31 प्रतिशत से भी ज्यादा दिए जाने का प्रस्ताव किया है। दूसरी ओर अति अनुदार आकलन के अनुसार भी दलितों की संख्या प्रेसिडेंसी की कुल आबादी का 8 प्रतिशत है और उनके लिए परिषद की कुल सीटों का केवल 7 प्रतिशत भाग दिया गया है। इस भेदभाव का कोई कारण नजर नहीं आता। दोनों अल्पसंख्यकों में से मुसलमान अल्पसंख्यकों की संख्या निस्संदेह अधिक है। वे सम्पन्नता और शिक्षा की दृष्टि से भी काफी आगे हैं। दलित वर्ग संख्या, सम्पन्नता और शिक्षा में तो पिछड़े हैं ही, उस पर ऐसी असमर्थताओं का भी भार है जिससे मुसलमान नितांत बरी हैं। दलित वर्ग के लोग सार्वजनिक पनघटों से पानी नहीं ले सकते भले ही उनका रखरखाव सरकारी खर्च से होता हो। मुसलमान पानी ले सकते हैं। अछूत होने के कारण दलित जाति के लोग पुलिस, थल सेना, और नौ सेना में भरती नहीं हो सकते हालांकि भारत सरकार के अधिनियम का प्रावधान है कि जाति, नस्ल या रंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति को सरकारी नौकरी से वंचित नहीं रखा जा सकता। मुसलमानों के लिए न केवल सरकारी सेवाओं के द्वारा खुले हैं, बल्कि कुछ विभागों में तो उनकी संख्या सर्वाधिक है। दलित वर्गों के बच्चों को सार्वजनिक स्कूलों में दाखिला नहीं मिल सकता, हालांकि उन पर सार्वजनिक कोष से पैसा खर्च होता है। मुसलमानों पर ऐसी कोई पाबंदी नहीं है। दलित वर्ग के व्यक्ति का स्पर्श भ्रष्ट कर देता है, मुसलमानों का नहीं। व्यापार और उद्योगों में मुसलमानों पर कोई पाबंदी नहीं जबकि दलितों पर है। मुसलमानों पर हीनता का कलंक भी नहीं लगा हुआ है, जैसा कि दलितों पर लगा है। परिणामस्वरूप मुसलमान इस बात के लिए स्वतंत्र हैं कि जैसे चाहें पहनावा पहनें, जैसे चाहें रहें और जैसे चाहें करें। दलितों को यह छूट नहीं है। कोई दलित आर्थिक सामर्थ्य होने के बावजूद अपना पैसा खर्च करके गांव वालों से अच्छा वस्त्र नहीं पहन सकता। उन्हें झोंपड़ी में ही रहना पड़ेगा। कोई दलित उत्सव आदि पर भी अपने धन और ऐश्वर्य का अधिक प्रदर्शन नहीं कर सकता। उसका दूल्हा बारात में सड़कों पर घुड़चढ़ी नहीं कर सकता। जो रीति-रिवाज उसके लिए बनाए गए हैं, उन्हें तोड़ने पर उसे समूचे गांव वालों के कोप का भाजन बनना होगा, जिनके बीच वह रहता है। दलित जातियों को बहुधा बहुसंख्यकों का अत्याचार झेलना पड़ता है। मुसलमानों को उतना नहीं झेलना पड़ता। इसका कारण है कि मुसलमानों को बुनियादी मानव अधिकार प्राप्त हैं, इसलिए उनका बहुसंख्यकों से झगड़ा नहीं होता सिवाय उसके जब कोई धार्मिक विवाद उठ खड़ा हो। परन्तु दलितों की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। उन्हें अपने मानवीय

अधिकारों के लिए सतत संघर्ष करना पड़ता है, जो अल्पसंख्यकों के लिए सतत चुनौती है। वे उनको ये अधिकार देना नहीं चाहते। इसका नतीजा यह है कि उन्हें बराबर बहुसंख्यकों का विरोध सहना पड़ता है। इतना ही नहीं है, अगर मुसलमानों पर बहुसंख्यकों का कोई जुल्म होता है, तो पुलिस और मजिस्ट्रेट के लम्बे हाथ उसकी सहायता करते हैं, परन्तु जब किसी दलित पर बहुसंख्यकों का अत्याचार होता है, तो पुलिस और मजिस्ट्रेट कभी-कभार ही उसकी रक्षा करते हैं। दलित के खिलाफ उनकी बहुसंख्यकों से मिलीभगत होती है। उसकी सीधी सी वजह है कि प्रांत की पुलिस और मजिस्ट्रेट के कार्यालय में मुसलमान अपने अनेक परिचितों तथा संबंधियों तक पहुंच सकते हैं, जबकि दलितों का कोई सगा-संबंधी उन विभागों में नहीं होता और यह भी ध्यान रखने की बात है कि दलितों को केवल रूढ़िवादी हिन्दुओं की मार को ही झेलना नहीं पड़ता। उसे मुसलमान को भी भुगतना पड़ता है, आमतौर पर समझा जाता है, कि मुसलमान उन सामाजिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं, जो दलितों के प्रति हिन्दू रखते हैं। इससे बड़ी भूल और कोई हो नहीं सकती। शहरी क्षेत्रों की बात छोड़ दें, गांवों में भी तो मुसलमानों का रवैया हिन्दुओं जैसा विषैला ही है। कोलाबा जिले के मानगांव तालुक के हरकुल ग्राम में जो दंगे हुए, वे इस बात के प्रमाण हैं। इस जिले में दलितों ने समाजोत्थान का एक अभियान चलाया और उन गंदे रिवाजों का परित्याग करने का संकल्प लिया, जो उन पर घटिया दर्जे का इंसान होने का ठप्पा लगाते हैं। इस जिले के जिन हिन्दुओं ने उन्हें उपदेश दिया था कि वे गंदे कामों को त्याग दें, तभी उनका उद्धार संभव है, उन्हीं का अत्याचार इन गरीबों को झेलना पड़ा और उनका सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार कर दिया गया। इस बात की कभी उम्मीद ही नहीं थी कि जिले के मुसलमानों का व्यवहार भी अपने पड़ोसी हिन्दुओं जैसा ही होगा। इसके विपरीत दलितों को आशा थी कि स्पृश्य हिन्दुओं के खिलाफ संघर्ष में मुसलमान उनका साथ देंगे, परन्तु उनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया। क्योंकि शीघ्र यह पता चल गया कि छुआछूत न मानने पर भी मुसलमान हिन्दुओं की भांति इस गन्दी धारणा से जकड़े हुए थे कि उनका जन्म ही घटिया सामाजिक स्तर के लिए हुआ है, और अपनी गंदी आदतों को छोड़कर वे अपने उद्धार के जो प्रयत्न कर रहे हैं, वह उनका अपमान और निरादर है और उसे कुचल दिया जाए। इसके फलस्वरूप दलितों और मुसलमानों के बीच जिले में कई झगड़े हुए। उनमें से एक में हरकुल में एक दलित को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

71. इसलिए यह स्पष्ट है कि दलितों की समस्या मुसलमानों की समस्या से ज्यादा विकट है। भले ही जाति के रूप में मुसलमान पिछड़े हो सकते हैं, पर कम से कम वे शिक्षा के क्षेत्र में इतने उन्नत हुए हैं कि केवल उन्नत हिन्दुओं से ही पीछे हैं। परन्तु निश्चित रूप से वे बाधाग्रस्त नहीं हैं। अत: प्रोत्साहन और प्रयास से वे आगे बढ़ सकते हैं। दूसरी ओर दलित जातियां न सिर्फ पिछड़ी हैं, बल्कि बाधाग्रस्त भी हैं। इसलिए कोई प्रयास या प्रोत्साहन

तब तक उनके उत्थान में सहायक नहीं हो सकता, जब तक कि सबसे पहले उनकी बाधा दूर न की जाए। दोनों के बीच यह फर्क है। मुसलमानों की पिछड़ी स्थिति सुधारने के लिए जितनी राजनीतिक शक्ति जरूरी है, दलितों का पिछड़ापन दूर करने के लिए उससे दुगुनी की आवश्यकता है, भले ही उससे अधिक की न हो। इसके बावजूद मेरे साथियों ने उनके प्रतिनिधित्व का अनुपात उलट दिया है। मुसलमान आबादी का 19 प्रतिशत है और उनका एक मजबूत अल्पसंख्यक वर्ग है। उन्हें परिषद में 31 प्रतिशत स्थान दिए गए हैं, जबकि अति अनुदार अनुमान के अनुसार दलितों की संख्या आबादी का 8 प्रतिशत है और उनके लिए परिषद में केवल 7 स्थान नियत किए गए हैं। वह वास्तव में उनकी आबादी के अनुपात से एक प्रतिशत कम हैं।

72. यह कहा जाता है कि दलितों की समस्या सामाजिक समस्या है, इसलिए इसका समाधान सामाजिक मंच पर खोजा जाये। मुझे आश्चर्य है कि उच्च क्षेत्रों का भी ऐसा ही दृष्टिकोण है। मेरा यह विचार है कि यह दृष्टिकोण अपनाने वाले यह भूल जाते हैं कि मानव समाज में प्रत्येक समस्या एक सामाजिक समस्या है। पीने की समस्या, मजदूरी की समस्या, काम के घंटे, आवास, बेरोजगारी, बीमा, ये सभी सामाजिक समस्याएं हैं। इसी तरह छुआछूत भी सामाजिक समस्या है। पर सवाल यह नहीं है कि यह समस्या सामाजिक समस्या है या नहीं। सवाल यह है कि क्या राजनीतिक शक्ति से वह हल की जा सकती है। मेरा जोरदार जवाब है कि निश्चय ही हल हो सकती है। यही कहना ठीक है कि भारत की सरकार, भले ही स्पृश्य और अस्पृश्य चाहें या न चाहें, उन्हें एक ही परिवार के लोगों की तरह रहने के लिए विवश नहीं कर सकेगी। ना ही सरकार विधायिका के अधिनियम या विधायिका की परिषद के आदेश द्वारा उनमें प्यार-मोहब्बत करवा सकती है या उन्हें गले से लगवा सकती है। लेकिन सरकार उन सभी बाधाओं को दूर कर सकती है, जो अस्पृश्यों को उनकी दयनीय दशा में रहने के लिए विवश करती हैं। यदि यह दृष्टिकोण सही है, तो किसी भी अन्य समुदाय की अपेक्षा पर्याप्त राजनीतिक प्रतिनिधित्व की जरूरत दलित वर्गों को है।

73. मेरे साथियों ने कहीं भी यह स्पष्ट नहीं किया है कि किस कारण मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से 12 प्रतिशत अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। किस कारण दलितों को उतना ही प्रतिनिधित्व न दिया जाए, जो जनसंख्या के आधार पर उनके हिस्से में आता है। यह उल्लेखनीय बात है कि मुसलमानों के गवाहों ने जो दलील दी थी कि उन्हें बढ़ा हुआ प्रतिनिधित्व दिया जाए, जैसी कि आशा की जाती थी, वह इस आधार पर नहीं मांगा गया था कि उनकी प्रगति अथवा उनके कल्याण के लिए वह आवश्यक था। उनकी एकमात्र दलील यह थी कि वे शासक वर्ग के वंशज हैं और उन्हें बढ़े हुए प्रतिनिधित्व की आवश्यकता है, क्योंकि उन्हें आशंका है कि इसके बिना उनका महत्व और प्रभाव घट जाएगा। इससे यह प्रकट होता है कि मुसलमान यह व्यवस्था अपनी पर्याप्तता के आधार पर

नहीं, अपितु अपनी श्रेष्ठता के आधार पर मांगते हैं। मेरा दृढ़ विचार है कि किसी भी लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में सभी समुदायों को समान राजनीतिक महत्व देना ही पड़ेगा। और इस बात की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी जाए कि कोई समुदाय अपने को अफलातून घोषित करे। जब कोई यह कहता है कि उसका समुदाय महत्वपूर्ण है और उसे पर्याप्त तथा न्यायोचित प्रतिनिधित्व दिया जाए, तो उस दावे पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जा सकता है। परन्तु जब कोई कहे कि उसका समुदाय विशेष रूप से महत्वपूर्ण है और उसे समुचित अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए, तो निस्संदेह उसका अनिवार्य अर्थ होगा कि अन्य समुदाय अपेक्षत: घटिया है और उन्हें उनके हिस्से से कम मिलना चाहिए। स्वाभाविक है कि इस स्थिति को दूसरे समुदाय स्वीकार नहीं कर सकते। जितनी जल्दी मुसलमान इस बेतुकी धारणा को त्याग देंगे, उनके भविष्य के लिए यह उतना ही बेहतर होगा। इस तरह उस लाभ से कोई लाभ नहीं, जिसके लिए दूसरे समुदाय सहमत न हों और सदा-सर्वदा संघर्ष करना पड़े। उल्टे इससे मुसलमानों को ही नुकसान होगा, क्योंकि इससे संभवत: उनके और दूसरे समुदायों के बीच पृथकता और घृणा का बीजारोपण होगा।

74. केवल मुसलमान ही ऐसा वर्ग नहीं है, जो कभी शासक रहा हो और उनकी स्थिति में ह्रास आया। कनाडा में फ्रांसीसियों और दक्षिण अफ्रीका में डचों की भी ऐसी दूसरी मिसालें हैं, जहां एक शासक-वर्ग शासित-वर्ग बन गया है। परन्तु न तो फ्रांसीसियों ने कनाडा में और न ही डचों ने दक्षिण अफ्रीका में अनापशनाप प्रतिनिधित्व की मांग की है। ताकि वे शासकों की अपनी पूर्व स्थिति को बनाए रख सकें। ना ही दुनिया के अन्य देशों के मुस्लिम अल्पसंख्यकों को ऐसी रियायत दी गई है। अल्बानिया, रूमानिया, यूनान और बल्गारिया के मुस्लिम अल्पसंख्यक भी कभी शासक रहे थे। फिर भी उन देशों में से किसी भी देश में उन्होंने ऐसे असाधारण प्रतिनिधित्व की मांग नहीं उठाई है। मुसलमानों का प्रभावानुसार प्रतिनिधित्व का दावा न तो कभी सुना गया और न ही वह किसी प्रतिनिधि सरकार के अनुकूल है। प्रत्येक समाज में जमींदारों, पूंजीपतियों और पुरोहितों का बहुत प्रभाव है परन्तु इस बात को कभी भी किसी ने स्वीकार नहीं किया है कि इन वर्गों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसलिए इसमें कोई तुक नहीं है कि मुसलमानों का दावा स्वीकार कर लिया जाए, जबकि इसी प्रकार के दावे को अन्यत्र रद्द कर दिया गया है।

75. भारत में ब्रिटिश शासन के पूर्व उनकी कुछ स्थिति रही हो, फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि भारत में मुसलमानों ने पांच शताब्दियों तक राज्य किया है, तो हिन्दुओं ने अनगिनत शताब्दियों तक राज्य किया है। उनसे पहले भी और उनके बाद तक भी। सबसे निरापद आधार यह है कि अंग्रेजों की विजय के बाद सभी समुदायों का एक समान स्तर है। वे अपने राजनीतिक प्रभुत्व को दरकिनार कर दें। ऐसा व्यवहार अन्यायपूर्ण नहीं होगा

और पूरी तरह उन भावनाओं के अनुकूल होगा जो भारतीय दंड संहिता के प्रारूपकार आयुक्तों ने भारत मंत्री को संबोधित करते हुए व्यक्त की। उन्होंने कहा है:

''मान्यवर की काउंसिल देखेगी कि हमने प्रस्ताव नहीं किया है कि कम्पनी के राज्य क्षेत्र में रहने वाले भारत के किसी राजघराने को इस संहिता के प्रभाव से मुक्त रखा जाए। ऐसा कोई अपवाद किया जाए या नहीं, यह एक ऐसा सवाल है, जिसके बारे में हम निर्णय करने का साहस नहीं जुटा पाए। इसके लिए वर्तमान संधियों के बारे में जितनी जानकारी है, उससे अधिक सही जानकारी मिलनी चाहिए। हमें यह सब पता होना चाहिए कि इन संधियों को किस भावना से समझा जा गया है? वार्ताओं का इतिहास क्या है? घराने विशेष का स्वभाव और उसकी शक्ति क्या है? उन घरानों के प्रति लोगों की क्या भावनाएं हैं? हम अति विनम्र भाव से यह कहने की अनुमति चाहते हैं कि प्रत्येक अपवाद बुराई है और यह बुरी बात है कि किसी व्यक्ति को कानून से बड़ा माना जाए। इससे भी बुरी बात यह है कि लोगों को पाठ पढ़ाया जाए कि वे कानून से भी बड़ा होने के विशेषाधिकार को एक ऊंची तथा ईर्ष्यायोग्य विशिष्टता मानें। हम यह भी कहना चाहते हैं कि जिसने अधिक अर्से तक इन्हें झेला उतनी ही कठिनाई उन्हें दूर करने में होगी। उन्हें दूर करने का इससे अच्छा अवसर फिर कब मिलेगा, जब सरकार विभिन्न जातियों तथा धर्म के लोगों के लिए समान रूप से बाध्यकारी नई दंड संहिता लागू कर रही है। हमें इस बारे में गहन आशंका है कि क्या समान न्याय के लाभों के बारे में कसौटी निश्चित करने के लिए अति निष्ठा से व्यक्त की गई लोक आस्था के अलावा और कोई आधार भी हो सकता है।''

76. ये बड़ी सूझबूझ वाली बाते हैं और मुझे विश्वास है कि उन लोगों के सामने, जो भारत का शासन चला रहे हैं, इससे बड़ी सूझबूझ की कोई और बात नहीं रखी गई है। न ही उनकी सूझबूझ की बातें केवल उस अवसर या प्रयोजन के लिए हैं, जिनके लिए वे कही गई हैं। मुझे इस बात में कोई शक नहीं कि वर्तमान अवसर के लिए भी उनका उतना ही महत्व है, भले ही अधिक न हो। वास्तव में विधि आयुक्तों की भांति ही मेरा भी विचार है कि यह एक बुरी बात है कि देश का संवैधानिक कानून यह मान्यता दे कि कोई एक समुदाय दूसरे से ऊंचा है। यह और भी बुरी बात है कि जनता के वर्गों को सिखाया जाए कि वे राजनीतिक महत्व के तराजू में स्वयं को इस प्रकार तोलें कि वे एक को ऊंचा मानें और दूसरे को नीचा। जितने अधिक अर्से तक उन धारणाओं को झेला जाएगा, उतनी ही अधिक कठिनाई उन्हें दूर करने में होगी और उन्हें दूर करने का इससे अच्छा अवसर फिर कब मिलेगा, जब संसद विभिन्न जातियों व धर्म के लोगों के लिए समान रूप से बाध्यकारी संवैधानिक कानून की एक नई संहिता लागू कर रही है।

77. प्रतिनिधित्व के मामले में सभी अल्पसंख्यकों से समान व्यवहार किया जाए, यह अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की समस्या का केवल आंशिक पहलू है। समस्या का

एक दूसरा तथा अधिक महत्वपूर्ण पहलू है कि सीटों के बंटवारे के लिए संख्या संबंधी एक संतोषजनक पैमाना तय किया जाए। परन्तु यह एक बहुत विवादास्पद सवाल है। दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में से एक है कि अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व पूरी तरह उसकी जन संख्या के अनुपात में होना चाहिए। दूसरा सिद्धान्त जिस पर अल्पसंख्यक दृढ़ता से आग्रह करते हैं, वह है कि यह प्रतिनिधित्व पर्याप्त होना चाहिए। मैं नहीं समझता कि प्रतिनिधित्व का गणितात्मक सिद्धान्त स्वीकार किया जा सकता है। यदि विधान परिषद कोई चिड़ियाघर या अजायबघर होता जहां एक निश्चित संख्या में हर प्रजाति के जीव रखे जाते हैं,तो अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के इस सिद्धान्त को सहन किया जा सकता था। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि यह परिषद कोई चिड़ियाघर या अजायबघर नहीं है। यह अधिकार प्राप्त करने, विशेषाधिकार मिटाने और अन्याय रोकने का युद्ध क्षेत्र है। इस दृष्टि से देखने पर कोई अल्पसंख्यक वर्ग देख पाएगा कि उसका प्रतिनिधित्व पूर्णत: उसकी आबादी के अनुपात में है, पर इसके बावजूद वह इतना कम है कि वह विद्वेषी बहुसंख्यकों की मार से अपनी रक्षा और स्थिति में सुधार के लिए जो भी कोशिश करता है, उसमें वह बुरी तरह पिट जाता है। यदि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का उद्देश्य राजनीतिक तमाशा प्रस्तुत करना है, तो जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व दिए जाने का सिद्धान्त ठुकराना ही पड़ेगा और उन्हें रियायत के तौर पर उनकी जनसंख्या के अनुपात से कुछ अधिक प्रतिनिधित्व देना ही पड़ेगा।

78. इसमें कोई शक नहीं कि रियायत की जरूरत का महत्व है। पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इन रियायतों के मापदंड का सिद्धांत बुद्धिमत्ता और औचित्य से पूर्ण हो। यह समझ लेना होगा कि अल्पसंख्यक समुचित संरक्षण की मांग के बहाने ऐसी मांग कर सकते हैं,जिसे अनर्गल ही कहा जाएगा। ऐसा न हो, इसके लिए हमें पर्याप्त प्रतिनिधित्व की परिभाषा करनी ही होगी। इससे कोई संदेह नहीं कि समुचितता शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती। परन्तु इसकी अनिश्चितता को काफी कम किया जा सकता है,यदि हम कुछ मोटी बातें ध्यान में रखें। सबसे पहले अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के मामले में पर्याप्तता और श्रेष्ठता के बीच कोई लक्ष्मण रेखा खींचनी ही पड़ेगी। श्रेष्ठता से मेरा मतलब है, प्रतिनिधित्व का ऐसा विस्तार जिससे अल्पसंख्यक तानाशाह बन जाएं। पर्याप्तता से मेरा अभिप्राय है प्रतिनिधित्व का ऐसा विस्तार,जो अल्पसंख्यकों को इस योग्य बना सके कि बहुसंख्यकों की किसी पार्टी को उनसे गठबंधन करना पड़े। जब कोई पार्टी किसी अल्पसंख्यक समुदाय से गठबंधन के लिए विवश होगी, तो निश्चित रूप से अल्पसंख्यक तानाशाह बन जाएंगे। दूसरी स्थिति यह है कि कोई पार्टी अल्पसंख्यकों से गठबंधन का अनुरोध करे, तो इसका अर्थ है उस अल्पसंख्यक वर्ग का पर्याप्त प्रतिनिधित्व है। इसलिए अल्पसंख्यकों के लिए सीटें निर्धारित करते समय, जो पहली बात ध्यान में रखी

जानी चाहिए, वह है कि हम दोनों अतियों से बचें। अपर्याप्तता से भी, श्रेष्टता से भी। इन अतियों से बचा जा सकता है, यदि हम इस नियम को अपना लें कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व पर मुख्यत: इस तरह अंकुश लगाया जाए कि जितनी सीटों के लिए अल्पसंख्यक हकदार होंगे, उनकी संख्या का आधार कुछ सीटों के प्रति उसकी आबादी का वह अनुपात होगा, जिसे किसी ऐसे गुणनखंड से गुणा किया जाएगा, जो एक और दो के बीच का होगा।

79. यह सच है कि यह सिद्धान्त केवल उस सीमा को परिभाषित करता है, जिसके अनुसार अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व निश्चित करना होगा। यह फिर भी अनिश्चित और अस्पष्ट रहेगा कि वह गुणनखंड कैसे घटे बढ़े। मेरा सुझाव है कि वह अल्पसंख्यकों से सम्बद्ध वर्ग विशेष की जरूरतों के अनुसार घटे बढ़े। इस प्रणाली से हम अल्पसंख्यकों को रियायत देने के किसी बुद्धिमत्तापूर्ण और तर्कसंगत सिद्धान्त पर सहमत हो सकते हैं। अल्पसंख्यकों की जरूरतें कमोवेश सही निर्धारण कर सकती हैं। इस बात पर आम सहमति हो सकती है कि राजनीतिक संरक्षण के लिए अल्पसंख्यकों की जरूरतें उस शक्ति के अनुपात में होनी चाहिए, जिसके बल पर उन्हें सामाजिक संघर्ष में अपनी रक्षा करनी है।

स्वाभाविक है कि वह शक्ति अल्पसंख्यकों के शैक्षिक और आर्थिक स्तर पर निर्भर करेगी। अल्पसंख्यकों का शैक्षिक और आर्थिक स्तर जितना ही ऊंचा होगा, राजनीतिक संरक्षण के लिए उनकी जरूरत उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत उनका शैक्षिक और आर्थिक स्तर जितना ही नीचा होगा, राजनीतिक संरक्षण के लिए उनकी जरूरतें उतनी ही अधिक होंगी।

80. मेरा विचार है कि मेरा दृष्टिकोण समता और पर्याप्तता के सिद्धान्त के आधार पर टिका है। अत: मैं अनुभव करता हूं कि विभिन्न अल्पसंख्यक वर्गों के लिए मेरे साथियों ने सीटों के जिस आवंटन का प्रस्ताव किया है, उस पर मुझे पूर्वापत्ति करनी ही चाहिए। मेरा प्रस्ताव है कि 140 सीटों में से मुसलमानों को 33 और दलित वर्गों की 15 सीटें दी जाएं। इसके अनुसार परिषद की कुल सीटों का 23 प्रतिशत मुसलमानों को और 10.7 प्रतिशत दलित वर्गों को मिल सकेगा। इस प्रकार मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से 4 प्रतिशत और दलितों को कोई 2 प्रतिशत अधिक अंश मिल सकेगा। मेरे विचार में इन समुदायों को इतनी रियायत देना तर्कसंगत और आवश्यक है। यह उन्हें मिलनी चाहिए। इसके अलावा एक बात मेरे सुझाव के पक्ष में है और वह है कि इसके अनुसार मुस्लिम प्रतिनिधित्व में कोई परिवर्तन नहीं होगा। मौजूदा परिषद में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कुल का 23 प्रतिशत है। मेरे प्रस्ताव के फलस्वरूप नई परिषद में भी उनके प्रतिनिधित्व का अनुपात उतना ही रहेगा।

81. जितने प्रतिनिधित्व का सुझाव मैंने दलित वर्गों के लिए दिया है, उसे कुछ लोगों

ने नापसंद किया है। मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने विरोध किया है। इस बात को देखते हुए मैं यह जरूरी समझता हूं कि मैं भ्रांतियों को दूर करने के लिए और अधिक स्पष्टीकरण दूं। इस बात में कोई शक नहीं कि मूलतः दलितों के लिए जो प्रतिनिधित्व निश्चित किया गया है, वह नितांत अनुचित है। संयुक्त रिपोर्ट तैयार करने वालों ने साफ-साफ कहा है (पैरा 153) "हमारा इरादा वह सबसे अच्छी व्यवस्था करने का है, जो कि हम (दलित वर्गों के) (विशेष) प्रतिनिधित्व के लिए कर सकते हैं।" किन्तु इस आश्वासन को साउथबरो कमेटी ने रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। उसे बाद में मताधिकार के तरीके निश्चित करने, निर्वाचन क्षेत्रों का गठन करने और यह सिफारिश करने के लिए नियुक्त किया गया था कि भारत में विद्यमान विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में प्रस्तावित लोक शासन प्रणाली में क्या-क्या समंजन किए जाने चाहिए। दलित जातियों के हितों की रक्षा के लिए पर्याप्त प्रावधान करने की समस्या की ओर से साउथबरो कमेटी ने इस बुरी तरह आंखें मूंद लीं कि भारत सरकार ने भी, जो इस संबंध में कोई खास रुचि नहीं रखती थी, इस बात को अनुभव किया और साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट संबंधी अपने 'डिस्पैच' के पैरा 13 में कहा "हम (गैर-सरकारी मनोनयन संबंधी) प्रस्तावों को आम तौर पर स्वीकार करते हैं। लेकिन एक समुदाय ऐसा भी है, जिसके बारे में लगता है कि जिसकी ओर जितना ध्यान कमेटी ने दिया है उससे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। भारतीय संवैधानिक सुधार के संबंध में दी गई रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से दलित वर्गों की समस्या को चीन्हा गया है और उनका लिहाज करते हुए आश्वासन दिया गया है। इन जातियों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है 'हिन्दू-अन्य लोग'। हालांकि प्रतिवेदन में उनकी अलग-अलग ढंग से परिभाषा दी गई है, पर मोटे तौर पर वे एक ही प्रकार के लोग हैं। सिवाय इसके कि उनके प्रति बहिष्कार की कठोरता में थोड़ा अंतर है। उन सभी को कमोवेश मद्रास के पंचनामों में निश्चय ही उस हिन्दू समाज का अंग नहीं माना गया है, जिसे मंदिरों में जाने की आज्ञा है। इनकी संख्या कुल जनसंख्या का पांचवा भाग है और उन्हें मार्ले-मिन्टो परिषदों में कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। कमेटी की रिपोर्ट में दलित वर्गों का दो बार उल्लेख किया गया है, पर सिर्फ यह स्पष्ट करने के लिए कि निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थिति संतोषजनक न होने के कारण मनोनयन द्वारा उन्हें प्रतिनिधित्व दिया गया है। रिपोर्ट में इन लोगों के स्वावलम्बन की स्थिति पर कोई विचार प्रकट नहीं किया गया है। न ही मनोनयन की संख्या का सुझाव दिया गया है। (मताधिकार कमेटी) की रिपोर्ट के पैरा 24 में जिन आधारों पर मनोनीत सीटों के परिसीमन का औचित्य ठहराया गया है, वे यह प्रगट नहीं करते कि कमेटी दलित वर्गों का उल्लेख कर रही थी। इस समुदाय के लिए प्रतिनिधित्व के मापदंड के बारे में उनका प्रस्ताव है:

प्रांत	कुल जन-संख्या दस लाख में	दलित वर्गों की जनसंख्या दस लाख में	कुल सीटें	दलित वर्गों के लिए सीटें
मद्रास	39.8	6.3	120	2
बंबई	19.5	.6	113	1
बंगाल	45.0	9.9	127	1
संयुक्त प्रांत	47.0	10.1	120	1
पंजाब	19.5	1.7	85	–
बिहार और उड़ीसा	32.4	9.3	100	1
मध्य प्रांत	12.0	3.7	72	1
असम	6.0	.3	54	–
	221.2	41.9	791	7

ये आंकड़े स्वयं में प्रमाण हैं। यह सुझाव दिया गया है कि ब्रिटिश भारत की कुल जनसंख्या के पांचवें भाग को कोई 800 सीटों में से सात सीटें दी जाएं। यह सच है कि सभी परिषदों में मोटे तौर पर पदधारियों का छटा भाग ऐसा होगा, जिससे अपेक्षा की जा सकती है कि वह दलित वर्गों के हितों का ध्यान रखेगा, परन्तु हमारे विचार से यह व्यवस्था सुधार संबंधी रिपोर्ट के लक्ष्य से मेल नहीं खाती। इसमें लिखा गया है कि दलित वर्गों को आत्मरक्षा का पाठ भी पढ़ना चाहिए।

निश्चय ही यह आशा मृगमरीचिका सी ही होगी कि जिस असेम्बली में 60 से 90 सवर्ण हिन्दू हैं, उसमें इस समुदाय के केवल एक सदस्य को शामिल करके वह परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। रिपोर्ट के पैरा 151, 152, 155 के सिद्धान्तों को साकार करने के लिए हमें बहिष्कृतों के साथ और अधिक उदार व्यवहार करना ही होगा।

82. संयुक्त प्रवर समिति ने भी माना है कि प्रतिनिधित्व के सवाल के बारे में साउथबरो कमेटी ने दलितों के साथ अन्याय किया है। कमेटी को अपनी रिपोर्ट में कहना पड़ा : "दलित वर्गों के लिए प्रस्तावित प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है। मताधिकार कमेटी की रिपोर्ट में वर्णित परिभाषा में भारत की कुल जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात शामिल है। सोचते हैं कि उसकी सलाह के मुताबिक भारत सरकार को यह हिदायत दी जाए कि इन वर्गों को मनोनयन के रूप में और अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। उसके लिए हर प्रान्त में स्थानीय सरकार से

परामर्श करके दलित वर्गों की संख्या के अनुसार प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित की जाए। यह प्रतिनिधित्व, यदि आवश्यक हो, तो सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र के अलावा होना चाहिए, उसे घटाकर नहीं। निश्चय ही इस सबका कोई फल नहीं निकला और साउथबरो ने दलित वर्गों के साथ जो अन्याय किया है, उसे दूर नहीं किया जा सका। वर्तमान प्रयास का उद्देश्य दलित जातियों को अत्यधिक प्रतिनिधित्व देना नहीं है। यह तो अन्याय को दूर करने का प्रयास है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रतिनिधित्व के मापदंड के सुझाव पर अनापशनाप होने का आरोप लगाया जा सकता है। मुडीमैन कमेटी ने भी कहा है कि 'इस तथ्य को सामान्यतः स्वीकार किया गया है और यह वांछनीय है कि इन दोनों वर्गों (अर्थात श्रमिक वर्गों और दलित वर्गों) को और प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए' और कहा है कि वह इस दृष्टिकोण से सहमत हैं।'' उसने प्रस्ताव किया कि उन्हें 113 की विधान परिषद में 11 स्थान दिए जाएं। यदि 113 में से 11 सीटें तर्कसंगत कोटा है तो 140 में से 15 सीटें देना तो बहुत मामूली बात है। 15 का कोटा इसलिए अधिक लगता है कि आरंभिक कोटा बहुत ही कम था। जो 15 के कोटे पर यह कह कर एतराज करते हैं कि मौजूदा कोटे की अपेक्षा यह जरूरत से ज्यादा है, वे भूल जाते हैं कि जो कोटा मानक मापदंड के रूप में लागू है, वह न तो न्यायसंगत है और ना ही सही।

83. एक और मामले में स्पष्टीकरण की जरूरत है। मेरे साथियों ने अपनी रिपोर्ट के पैरा 16 में जिसमें उन्होंने मुसलमानों के लिए सीटों के आवंटन के सवाल पर चर्चा की है, कहा है: ''हमारे दो सदस्यों सरदार मजूमदार और डा. अम्बेडकर की राय है कि यह व्यवस्था तभी तक कायम रह सकती है जब तक लखनऊ समझौता प्रत्येक प्रांत के बारे के मान्य है।'' मेरे साथी मेरी बात समझ नहीं पाए और इसीलिए मेरे बारे में गलत व्याख्या की है। मैं यह कहना चाहता था कि चूंकि उन्होंने सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों अथवा मुसलमान को दी जाने वाली सीटों की संख्या का औचित्य नहीं बताया है, अतः बेहतर होगा कि वे अपनी रिपोर्ट में कह दें कि वह लखनऊ समझौते के अनुसार हैं। जिस ढंग से मेरे साथियों ने मेरे बारे में कहा है, उससे लगता है कि मैं लखनऊ समझौते का समर्थन करता हूं। इस अवसर पर मैं कहना चाहूंगा कि यह कथन नितांत अनुचित है।

11. सीटों का भौगोलिक बंटवारा

84. मेरे साथियों से मेरा मतभेद केवल विभिन्न अल्पसंख्यकों के लिए सीटों के आवंटन के सवाल तक सीमित नहीं है। वह विभिन्न निर्वाचन-क्षेत्रों के लिए सीटों के बंटवारे के सवाल के बारे में भी है। वर्तमान परिषद के बारे में एक अप्रिय उजागर तथ्य यह है कि कुछ भागों को अधिक प्रतिनिधित्व मिला है, कुछ को कम। दोष कितना बड़ा है, वह निम्नांकित आंकड़ों से प्रकट हो जाएगा।

	वर्ग मीलों में क्षेत्रफल	जन-संख्या	1925-26 में लगान की मांग	परिषद में सीटों की वर्तमान संख्या
महाराष्ट्र	47,854	8,536,217	2,18,181,55	25
गुजरात	10,118	2,958,849	99,41,264	16
कर्नाटक	10,870	3,188,523	82,91,225	8
सिंध	46,506	3,279,377	1,03,85,031	19

85. उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि असमानताएं कितनी उजागर हैं। जनसंख्या को आधार माना जाए, तो महाराष्ट्र और कर्नाटक का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। यदि गुजरात के प्रतिनिधित्व को एक मानक के रूप में लिया जाए, तो महाराष्ट्र को 48 और कर्नाटक को 17 सीटें मिलनी चाहिए। यदि लगान को भी बंटवारे का आधार माना जाए, तो महाराष्ट्र और कर्नाटक के साथ नितांत अन्यायपूर्ण बर्ताव हुआ है। उस आधार पर भी महाराष्ट्र को 32 और कर्नाटक को 15 सीटें मिलनी चाहिएं। यह मांग कोरी भावनात्मक मांग या सुनिश्चित निर्वाचकीय प्रतिसाम्य की मांग नहीं है। इसके पीछे पर्याप्त सैद्धान्तिक औचित्य है। क्योंकि ऐसी प्रणाली में जिसमें किसी निर्वाचन क्षेत्र में एक वोट की कीमत ज्यादा है और दूसरे में कम है, तो उस पर आपत्ति की जा सकती है कि अपने शासकों के चयन में समुदाय के प्रत्येक सदस्य का हिस्सा शेष लोगों में से प्रत्येक के मुकाबले बराबर नहीं है। यदि सभी वोटों के शत-प्रतिशत समान मूल्य के सिद्धान्त को राजनीतिक न्याय का मूल सिद्धान्त न माना जाए तो, भी इस प्रकार के विभेद ऐसे दुष्परिणाम पैदा करते ही हैं कि देश के किसी एक भाग या मत समूह या हित-समूह को अधिक प्रतिनिधित्व दे दिया जाए और दूसरे ऐसे समूह का अहित हो जाए। अनुभव से यह पता चलता है कि सीटों के वर्तमान बंटवारे के कारण प्रेसिडेंसी के कतिपय भागों में विधायी तथा प्रशासी कार्य के गुरुत्व केन्द्र का अनुचित विभाजन हो गया है और उससे प्रेसिडेंसी के अन्य भागों को क्षति हुई है। उसका नतीजा यह निकला है कि अन्य भागों को अनजाने में सरकारी रियायत और ध्यान के काफी बड़े अंश से वंचित कर दिया गया है। इस व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर सीटों का वर्तमान बंटवारा ऐसी शिकायत है, जिसके औचित्य को नकारा नहीं जा सकता। वर्तमान स्थिति में कर्नाटक और महाराष्ट्र प्रांत की सरकार पर कभी भी वह प्रभाव नहीं डाल सकते, जिसके बारे में उनका विचार है कि वे उसे अपनी संख्या के बल पर डाल सकते हैं। इसलिए इस आशंका का प्रबल कारण है कि वह कटुता घटने के बजाए बढ़ती ही जाएगी और तीव्र से तीव्रतर होती जाएगी। इसलिए यह उचित ही होगा कि जब हम एक प्रतिनिधि और उत्तरदायी

सरकार बनाने के लिए प्रशासन तंत्र का आमूल परिवर्तन कर रहे हैं, तो इस शिकायत को भी दूर कर दिया जाए। यह एक ठोस शिकायत है जिसे कर्नाटक के साक्ष्य के अनुसार गहराई से महसूस किया ही जाना चाहिए। जैसे-जैसे विधान परिषद का दायित्व बढ़ेगा और उसके साथ जैसे -जैसे लोक प्रशासन पर उसका प्रभाव बढ़ेगा, वैसे-वैसे यह शिकायत भी तीखी होगी ही।

86. इस प्रेसिडेंसी के कुछ भागों को अन्य भागों को क्षति पहुंचाकर अधिक प्रतिनिधित्व दिए जाने का दोष इस कारण उपजा कि साउथबरो कमेटी ने काफी मनमाने ढंग से कार्य किया और सीटों के बंटवारे के मामले में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं अपनाया। मुझे इस बात की खुशी है कि मेरे साथियों ने कहा है कि जहां तक संभव हो, सीटों का बंटवारा एकरूपता के सिद्धान्त को सीटों के अनुसार किया जाए। परन्तु मेरी शिकायत है कि उन्होंने सबसे निकृष्ट सिद्धान्त को सीटों के बंटवारे का आधार बनाया है। सरकारी खजाने में अदायगी, निर्वाचकों की संख्या और निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या इन तीन विचारणीय मापदंडों को सीटों के बंटवारे का आधार स्वीकार किया जा सकता है। इन तीनों में से निर्वाचकों का मापदंड सबसे अन्यायपूर्ण और अनिश्चित है। पहली बात तो यह है कि जहां मताधिकार इतना प्रतिबंधित है, जैसा कि इस समय हमारे यहां है, तो उसका अर्थ होता है पैसे वालों का राज। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सम्पत्ति की योग्यता के मनमाने मापदंड के अनुसार कोई खास क्षेत्र निर्वाचकों का बुनियादी कोटा नहीं बन पाता, तो उसे प्रतिनिधित्व मिल ही नहीं पायेगा। दलित वर्गों के लिए 'बहुमत' ने जिस बंटवारे का प्रस्ताव किया है, उससे यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाचकों की इस कसौटी को अपनाने का यही अनिवार्य परिणाम होगा। इस प्रस्ताव के अनुसार कुछ भागों में तो दलितों को ढेर सारा प्रतिनिधित्व मिल जायेगा, जबकि प्रेसिडेंसी के कुछ अन्य भागों के दलित खाली हाथ रह जाएंगे। जिस सिद्धान्त का ऐसा बेतुका परिणाम निकलता हो, उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसे ठुकराया ही जाना चाहिए। राजस्व का मापदंड निर्वाचकों की संख्या के मापदंड से बेहतर है। क्योंकि यह दलील दी जा सकती है कि सरकार पर असर डालने की शक्ति सरकार को दिए गए राजस्व के अनुरूप हो। यह मापदंड भी अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह कपटपूर्ण और अपर्याप्त है। उसका कारण यह है कि उगाही करते समय यदि राजस्व न दिया गया हो, तो यह जानना मुश्किल हो जाएगा कि किसी राज्य का वास्तविक राजस्व क्या है? एक निर्वाचन-क्षेत्र जिसमें काफी राजस्व की उगाही की जाती है, उसे सीटों के बंटवारे में घाटा हो सकता है, क्योंकि उसका भुगतान दूसरे में किया जाता है। लेकिन इन दोनों मापदंडों के बारे में सबसे गंभीर आपत्ति यह है कि राज्य निर्वाचकों या करदाताओं के लाभ के लिए नहीं होता। न ही राज्य अपना बल प्रयोग केवल उन्हीं तक सीमित रखता है। उसका क्षेत्राधिकार उन सभी लोगों पर होता है?जो उसकी प्रजा हैं। इसका कोई सवाल

नहीं होता कि वह करदाता या निर्वाचक है या नहीं। इसमें यह निष्कर्ष निकलता है कि सीटों के बंटवारे के लिए जनसंख्या ही एकमात्र सही और न्यायसंगत मापदंड है। इसलिए यही मापदंड इंग्लैंड और अन्य ऐसे सभी देशों में अपनाया जाता है, जहां प्रतिनिधि शासन प्रणाली है और मैं यह सिफारिश करता हूं कि बंबई विधान परिषद के लिए सीटों का बंटवारा इसी आधार पर किया जाए।

3. सीटों के बंटवारे के अन्य पहलू

87. मेरे साथियों ने अल्पसंख्यकों के बीच सीटों के बंटवारे के बारे में जो प्रस्ताव किया है, उसमें सिद्धान्त का जो अभाव साफ तौर पर दीख पड़ता है, वह सीटों के उस बंटवारे में भी दीख पड़ता है, जो उन्होंने पूंजीपतियों और श्रमिकों के बीच बंटवारे के लिए किया है। वाणिज्य तथा उद्योग के माध्यम से प्रतिनिधित्व पाने वाले पूंजीपतियों को उन्होंने 11 सीटें दी हैं, जबकि श्रमिकों को उन्होंने 4 सीटें दी हैं। काश्तकारों को वे कुछ नहीं देते, सिवाय उसके, जो उन्हें आम चुनाव के जरिये खुरचन के रूप में मिल जाता है। जमींदारों को वे 5 सीटें देते हैं। लेकिन यह बात सही नहीं है, क्योंकि यदि हम सिंध के सदस्यों और प्रेसिडेंसी के अन्य सदस्यों को भी आकलन में शामिल करें, तो परिषद में जमींदारों के लिए सीटों की संख्या सहज ही 40 तक पहुंच जाती है। न ही यह कहा जा सकता है कि मेरे साथियों ने ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच सीटों के सही बंटवारे के सवाल की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। इस समय विधायिका बहुत अधिक ग्रामीण वर्गों की बैसाखी पर निर्भर है और इस बात का भारी खतरा है कि काश्तकारों के नाम पर सरकारी सत्ता का अनुचित लाभ उठाया जाए और स्थायी बंदोबस्त सस्ती आबपोशी और निःशुल्क वनों जैसी खतरनाक सनकों को पूरा करने के लिए कानून बना दिया जाए। यदि ऐसी सनक को विधि-पुस्तिका में स्थान नहीं देना है, तो जरूरी है कि उन शहरी वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ाया जाए, जिनका प्रतिनिधित्व उनकी योग्यता और योगदान के अनुरूप नहीं है। बेहतर तो यह होता कि मेरे साथी प्रेसिडेंसी में विभिन्न भागों के बीच के सीटों के उचित वितरण का काम एक अलग समिति के ऊपर छोड़ देते। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने कमजोर पक्षों को न्याय देने के मामले में सफलता प्राप्त की है। मेरा सुझाव है कि इस समस्या से निपटने के लिए एक अलग समिति बना दी जाए।

4. सीटें और आवासीय योग्यता

88. बंबई निर्वाचन नियम 6 (1) (ख) के अनुसार विधान परिषद के निर्वाचन के उम्मीदवारों के लिए आवासीय योग्यता निर्धारित की गई है। इस नियम में कहा गया है कि "सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करने के वास्ते परिषद के सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए कोई ऐसा व्यक्ति तब तक पात्र नहीं होगा, जब तक कि उसने

निर्वाचन-क्षेत्र में उम्मीदवारों के मनोनयन के लिए नियत अंतिम तिथि से तुरंत पूर्व 6 महीने की अवधि तक निर्वाचन-क्षेत्र में शामिल निर्वाचन-क्षेत्र अथवा डिवीजन में किसी भाग में निवास न किया हो।" इस प्रेसिडेंसी में इस नियम का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि इससे पूर्व कि कोई उम्मीदवार निर्वाचन-क्षेत्र विशेष से चुनाव के लिए खड़ा हो सके, उसके लिए जरूरी है कि उसने निर्वाचन-क्षेत्र में वास्तव में या नियमित रूप से निवास किया हो। (यह नहीं कि वह मात्र उसका निवास-स्थान हो और वह वहां यदाकदा आता जाता रहा हो)। मैं इस प्रश्न का संक्षिप्त इतिहास बताना चाहूंगा, जहां तक उसका संबंध इस प्रेसिडेंसी से है, संयुक्त रिपोर्ट के पैरा 84 में इस तथ्य पर टिप्पणी की गई है कि तत्कालीन निर्वाचन प्रणाली का एक उल्लेखनीय परिणाम यह है कि कानूनी पेशे के अधिकांश लोग चुनावों में सफल हुए हैं। उसमें यह भी कहा गया कि एक पेशे के लोगों का राजनीति इतना अधिक प्रभुत्व जनसाधारण के हित में नहीं है। उसमें सुझाव दिया गया कि नए निर्वाचन क्षेत्रों का गठन करते समय एक महत्वपूर्ण उद्देश्य को ध्यान में रखना चाहिए, ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि दूसरे वर्ग और व्यवसाय के लोग भी परिषदों में पर्याप्त संख्या में सीटें पा सकें और यह संभव हो सकता है, यदि ग्रामीण सीटों के लिए कोई निश्चित योग्यताएं निर्धारित की जाएं। साउथबरो कमेटी ने इस सवाल पर सावधानी से विचार किया। उसने अपनी रिपोर्ट के पैरा 29 में इस तथ्य का उल्लेख किया कि कुछ स्थानीय सरकारों ने अर्थात संयुक्त प्रांत, बिहार, उड़ीसा और असम की स्थानीय सरकारों ने आवासीय योग्यता को शामिल किए जाने पर बल नहीं दिया, जब कि बंगाल, बंबई, मद्रास और पंजाब की सरकारों ने कहा कि यह नए निर्वाचन-क्षेत्र के भारी अनुपात के हितों के प्रतिकूल होगा कि उन व्यक्तियों को उम्मीदवार के रूप में स्वीकार किया जाए, जो उस क्षेत्र के निवासी न हों, जिसका वे प्रतिनिधित्व करना चाहते हों। साउथबरो कमेटी के बहुमत ने सिद्धांत रूप में आवासीय योग्यता का विरोध किया, परन्तु समझौते के रूप में उन्होंने समाधान निकाला कि मध्य प्रांत, बंबई और पंजाब में प्रतिबंध लगाया जाए, अन्य प्रांतों में नहीं। भारत सरकार ने साउथबरो कमेटी की सिफारिशों पर अपने विचार व्यक्त करते समय उन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। लेकिन कहा कि इस प्रश्न पर कमेटी के रवैये से उनके सामने कुछ कठिनाई इस अर्थ में आ गई है कि कमेटी ने एक ओर तो प्रतिबंध का समर्थन करने वाली कुछ स्थानीय सरकारों के दृष्टिकोणों को स्वीकार कर लिया पर दूसरी ओर उसने कुछ अन्य सरकारों के दृष्टिकोणों को अस्वीकार कर दिया, हालांकि उनका आग्रह भी उतना ही था। गवर्नमैंट आफ इंडिया बिल पर बनी संयुक्त संसदीय समिति ने सिफारिश की कि मताधिकार समिति द्वारा प्रस्तावित सुलह समझौते की बात स्वीकार कर ली जाए। बात को स्वीकार कर लिया गया और केवल मध्य प्रांत, बंबई और पंजाब के बारे में आवासीय योग्यता लागू की गई। मैं बताना चाहूंगा कि इसके बाद 1923 के आम चुनावों के बाद नियमों का संशोधन

करते समय पंजाब में यह आवासीय योग्यता समाप्त कर दी गई। पंजाब सरकार ने खुद मुडीमैन कमेटी को अपनी राय देते हुए कहा कि पहले आम चुनाव के लिए आवासीय योग्यता के कारण ग्रामीण प्रतिनिधियों को ऐसी प्रविष्टि मिली, जिससे उन्हें वंचित नहीं किया गया था। इसलिए इन योग्यताओं को बहाल करने का कोई पर्याप्त कारण नहीं है। इस प्रकार अब स्थिति यह है कि केवल बंबई और पंजाब प्रांत ही ऐसे प्रांत है जहां अब भी आवासीय योग्यता की शर्त लगी हुई है। मध्य प्रांत में भी प्रतिबंध का उतना कठोर निर्वचन नहीं किया जाता, जितना इस प्रेसिडेंसी में। मेरे विचार में यह उचित ठहराना मुश्किल है कि भारत के इस अति विकसित प्रांत में इस प्रतिबंध को बनाए रखा जाए, जबकि इससे काफी पिछड़े प्रांतों में इसकी जरूरत अनुभव नहीं की जाती। मेरे विचार में इस प्रतिबंध को बनाए रखना कुछ हद तक इस बात के लिए जिम्मेदार है कि परिषदों में कुछ घटिया स्तर के लोग चुन लिए जाते हैं और प्रतिष्ठा, योग्यता और सिद्ध राजनीतिक क्षमता वाले ऐसे व्यक्ति परिषदों में नहीं आ पाते, जो अधिकांशत: विशाल नगरीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं। वे इस आवासीय योग्यता की शर्त के कारण किसी अन्य स्थान से चुनाव लड़ पाते, यदि किसी कारण वे अपने आवासीय क्षेत्र से चुनाव नहीं लड़ सकते। इसलिए मैं सिफारिश करता हूं कि इस प्रान्त से भीं अब यह आवास की शर्त हटा दी जाए।

अध्याय 4

लखनऊ समझौता

89. मैं जानता हूं कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन- क्षेत्र रखे जाने और सीटों के बंटवारे के बारे में मेरी सिफारिशें लखनऊ समझौते की शर्तों से टकराती हैं, क्योंकि वे किसी हद तक मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रतिनिधित्व पर प्रभाव डालती हैं। 1919 में बनाए गए नियमों के अधीन जिस रूप में मुस्लिम संप्रदाय के लिए प्रतिनिधित्व तय किया गया, उसका मुख्य आधार था लखनऊ समझौता नामक समझौता। इस समझौते के अनुसार 1917 में लखनऊ में मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच एक करार हुआ। मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मुस्लिम लीग ने और हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व कांग्रेस ने किया। इसके अनुसार प्रांतीय तथा केन्द्रीय विधायिका में मुसलमानों को सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल और अलग-अलग अनुपात में सीटें प्राप्त हुई। मुझे अहसास है कि मुस्लिम संप्रदाय के प्रतिनिधित्व के बारे में जो प्रस्ताव मैंने प्रस्तुत किए हैं, वे इस समझौते के प्रतिकूल हैं। मैं यह अनुभव करता हूं कि यह मेरा दायित्व है कि मैं यह बताऊं कि मैं ऐसा सोचता हूं कि इस समझौते को रद्द कर दिया जाए।

90. मेरा पहला तर्क यह है कि जो करार लखनऊ समझौते के अनुसार किया गया

था, वह गलत करार है। सभी स्थानीय सरकारें इसे स्वीकार करती हैं। मताधिकार कमेटी की सिफारिशों की समीक्षा करने वाले भारत मंत्री के नाम अपने 'डिस्पैच' में भारत सरकार ने कहा था: "हमने नोट किया है कि स्थानीय सरकारों ने समझौते पर सहमति सर्वसम्मति से व्यक्त नहीं की है। मद्रास सरकार ने इस समझौते पर ध्यान दिए बिना मुसलमानों को प्रतिनिधित्व दिए जाने के बारे में अपने अलग प्रस्ताव तैयार कर डाले। बंबई सरकार ने हालांकि इसे स्वीकार कर लिया पर उसने कहा कि जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व की योजना पर बहस होनी चाहिए। मध्य प्रांत के चीफ कमिश्नर ने अलग मुस्लिम निर्वाचक-मंडलों का विरोध किया और विचार प्रगट किया है कि इस समझौते में जो प्रतिशत रखा गया है, 'वह इस संप्रदाय की संख्या और स्थिति के अनुपात में तनिक भी अनुरूप नहीं है'। ना ही भारत सरकार ने प्रांतीय सरकारों की इस आम राय के साथ मतभेद प्रकट किया। लखनऊ ससझौते के परिणामों का विभिन्न प्रांतों में मूल्यांकन करते समय भारत सरकार ने कहा, 'नतीजा यह है कि जनसंख्या के आधार पर उन्हें जो मिलता, बंगाल के मुसलमानों को उसका केवल तीन चौथाई और पंजाब के मुसलमानों को दस में से नौ भाग ही मिल पाता है। अन्य प्रांतों के मुसलमानों को अधिक हिस्सा मिला है और कुछ प्रांतों में तो अप्रत्याशित रूप से अधिक। हम स्वयं भी नहीं समझ पाते कि ऐसा नतीजा विभिन्न प्रांतों के मुसलमानों के बीच या मुसलमानों और शेष समुदायों के संबंध दर्शाता है।' सर विलियम विसेंट ने तो अपने विमति-टिप्पणी में यहां तक कह डाला, 'लखनऊ समझौते के ब्योरे की परवाह न करते हुए हमें अपने वचनों को पूरा करने के लिए उस रीति से कार्यवाही करनी चाहिए, जिसे हम स्वयं सर्वोत्तम रीति समझते हैं'।"

91. लखनऊ समझौते में इतनी ही गलती नहीं है कि मुसलमानों के साथ उसमें अलग अलग प्रांतों में अलग-अलग व्यवहार किया गया है। कुछ में उनके साथ उदारता बरती गई है और कुछ अन्य में कंजूसी। अपेक्षाकृत यह छोटी सी बात है। लखनऊ समझौते की मुख्य त्रुटि यह है कि मुसलमानों के लिए सीटें अलाट करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि इससे दूसरों के हितों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जैसाकि भारत सरकार ने कहा है, समझौते के रचनाकारों ने यह बात ध्यान में नहीं रखी कि जो कुछ लाभ मुसलमानों को दिया जा रहा है, वह दूसरों के हित या हितों से छीना जा रहा है। सर विलियम विसेंट ने भी बड़ी सावधानी से इसे इंगित किया है। अपने विमति - टिप्पणी में उन्होंने यह भी कहा है, "आज इस समझौते को आलोचना से कहीं अधिक समर्थन मिल रहा है, लेकिन बाद में जब मतों और प्रतिनिधित्व के महत्व का अहसास होगा, तो यह आशा करनी ही होगी कि जिन हितों को इससे गहरी चोट पहुंची है, वे शिकायत करेंगे कि भारत सरकार ने इसका समर्थन करके कुछ उचित कार्य नहीं किया है।" जिस गहराई के साथ इस भविष्यवाणी का अहसास किया गया है, वह उल्लेखनीय है। लखनऊ समझौते के नतीजे के प्रति जितना व्यापक

असंतोष अनुभव किया गया है, इस बात का जरूरत से ज्यादा प्रमाण है कि लखनऊ समझौते में जो करार है वह गलत करार है। यह आपत्ति करने में कोई अनौचित्य नही है कि जो गलत तरीके से तय किया गया है, उसे फिर से तय किया ही जाना होगा। इस मांग का मुसलमान विरोध करेंगे ही। अनाप-शनाप पैमाने पर प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के बाद यह निश्चित है कि वे पूर्वोदाहरण और विगत अधिकारों को अपने तर्क का आधार बनायेंगे। लेकिन जैसाकि थामस पैन ने कहा है, अपने अधिकारों के संबंध में पुरातन पर आधारित उदाहरणों को अपने तर्क का आधार मानने वालों की गलती यह है कि वे उस आदिकाल की बात नहीं करेंगे जब कोई निहित स्वार्थ होता ही नहीं था। यदि वे करेंगे तो अनुभव करेंगे कि अधिकार शाश्वत नहीं होते, वे इतिहास की घटनाएं होते हैं। अतः समय-समय पर उनमें पुनः तालमेल बिठाना होगा। ऐसा होना ही चाहिए,क्योंकि समूची राजनीतिक तथा सामाजिक प्रगति इस आप्त वाक्य पर टिकी है कि यदि वे थे तो गलती की वैध परम्परा वैध नहीं होती और जिसका समुचित निपटारा नहीं होता, उसका कभी निपटारा नहीं होता।

यह एकमात्र मिसाल नहीं है,जिसके द्वारा लखनऊ समझौते जैसे समझौते को बदलने की मांग की जा रही है। आयरलैंड और इंग्लैंड के बीच संघ संबंधी अधिनियम भी ऐसा ही समझौता था। दरअसल लखनऊ समझौते से कहीं अधिक बाध्यकारी शक्ति उसकी थी। यह एक संधि थी,जिसमें आयरलैंड को संसद में 100 सीटों की गारंटी दी गई थी। पर जब बैलफोर सरकार को यह अहसास हुआ कि आयरलैंड को दिया गया अत्यधिक प्रतिनिधित्व एक निश्चित गलती है,तो 1905 में उन्होंने एक विधेयक प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं किया,जिससे आयरिश सीटों की संख्या में 30 की कमी आ जाती। यह दूसरी बात है कि बैलफोर सरकार ने इस्तीफा दे दिया और वह विधेयक कानून नहीं बन सका। लेकिन फिर भी तथ्य यह है कि प्रतिनिधित्व के मामले में आयरिश करार में फेरबदल की वर्जना इस तथ्य के आधार पर नहीं की गई कि यह करार दोनों पक्षों के बीच एक समझौते पर आधारित था। ना ही बैलफोर इस दृष्टिकोंण से सहमत थे कि यह संशोधन केवल आयरलैंड की सहमति से ही किया जा सकता है। उन्होंने आयरिश विरोध की शिद्दत के बावजूद पुनर्वितरण की योजना चलाई। परन्तु कोई उदाहरण ढूंढने के लिए दूर जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है,यदि वह अपने निकट ही मौजूद हो। श्रीलंका के संविधान में भी सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और सांप्रदायिक आधार पर, सीटों के बंटवारे को अनुमति प्रदान करने वाले विभिन्न संगठनों के बीच हुए करारों तथा समझौतों को मान्यता दी गई थी। किन्तु 1928 के श्रीलंका आयोग ने इस दृष्टिकोण पर जोर दिया कि "किसी भी अवस्था में प्रतिनिधित्व की समूची समस्या पर नये सिरे से विचार करते समय जातियों और समूहों के बीच हुए आपसी समझौते भले ही वे ध्यान दिए जाने योग्य हो, समग्र रूप से श्रीलंका के लोगों के हितों से सम्बद्ध आधारों से श्रेष्ठ नहीं हो सकते।" इसलिए आयोग ने लंका में प्रतिनिधित्व की पूरी योजना को संशोधित

करने में इस कारण कोई संकोच नहीं दिखाया कि वह मान्य थी। अन्यत्र जो किया गया है, उसकी मांग यहां की जा रही है।

92. यह भी याद रखा जाना चाहिए कि लखनऊ समझौता न केवल इसलिए महत्वहीन है, यदि भारत सरकार के शब्दों में कहा जाए कि 'उसकी शर्तें राजनीतिक वार्ता की उपज हैं न कि सुविचारित तर्क की', बल्कि इसलिए भी कि यह समझौता उन संगठनों ने किया है,जिसमें से किसी को भी उन लोगों के नाम पर बोलने का कोई वास्तविक अधिकार नहीं था, जिसकी ओर से बोलने का वे दावा करते थे। आल इंडिया मुस्लिम लीग को सभी मुसलमानों के लिए बोलने का कोई अधिकार नहीं था, यह भारत सरकार का दृष्टिकोंण था। यह बात भारत सरकार के उस डिस्पैच से काफी स्पष्ट हो जाती है, जो उसने साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट के बारे में भेजा था। जहां तक कांग्रेस का संबंध है, यह एक निर्विवाद तथ्य है कि यह गैर-ब्राह्मणों तथा दलित वर्गों के बहुत बड़े जनसमूह का प्रतिनिधित्व नहीं करती। एक ऐसा समझौता,जो उन संगठनों के बीच हुआ हो, जो आम जनता के घटक समूह नहीं हैं, उससे वे स्वयं को तो बांध सकते हैं, परन्तु निश्चय ही उससे जनसामान्य बांधा नहीं जा सकता। इस समझौते को ऐसे मान्यता देना जैसे वह विभिन्न राज्यों के पूर्णाधिकारी दूतों के बीच हुई संधि हो, लीग और कांग्रेस को ऐसा अधिकार देना है, जो उसके पास था नहीं। यह आवश्यक है कि हम इस समझौते की बाध्यकारी शक्ति का मूल्यांकन करें, क्योंकि बंबई सरकार का दृष्टिकोंण इस संबंध में ऐसा है, 'पृथक निर्वाचक-मंडलों को समाप्त करने की दिशा में किया जाने वाला कोई परिवर्तन ऐसे समझौते पर आधारित होना ही चाहिए,जो दो संप्रदायों के बीच हुआ हो और वह मुसलमानों पर उनकी इच्छा के विपरीत थोपा नहीं जा सकता। यह सवाल अखिल भारतीय स्तर का भी है और इस पर हर प्रेसिडेंसी के लिए अलग-अलग आधार पर विचार नहीं किया जा सकता। बंबई सरकार उस दृष्टिकोंण से आबद्ध है,जो उसने 1916 में व्यक्त कर दिया था कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडलों को वह स्वीकार नहीं करती और उनका उन्मूलन होना चाहिए यदि उसे लखनऊ समझौते की भांति दोनों पक्षों की सहमति से प्राप्त किया जा सके।'' मेरे विचार में यह रवैया गैर-जिम्मेदाराना भी है और खतरनाक भी। गैर-जिम्मेदाराना वह इसलिए है कि इस मामले में निर्णय के अधिकार का वह समर्पण करता है। यह ठीक है कि भारत सरकार ने इसे उचित समझा कि इस समझौते की 'उपेक्षा न की जाए।' समझौता एक अति विवादास्पद मामले में संप्रदायों की ओर से किया गया सच्चा प्रयास था और एक बड़े संप्रदाय का अपने तात्कालिक हितों का सर्वसम्मति और संयुक्त राजनीतिक प्रगति के हितों में कम से कम बलिदान तो था ही। ''परन्तु यह तो दिन को रात कहने जैसा हैं कि भारत सरकार या किसी अन्य प्राधिकरण का यह दृष्टिकोंण कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व देने के प्रश्न के बारे में उनकी स्थिति केवल उस फैसले को दर्ज करने की थी,जो कांग्रेस और लीग के बीच परस्पर वार्ता से हुआ हो।''

दरअसल सर विलियम विसेंट ने सावधानी-पूर्वक कहा है "इस मामले में भारत सरकार संसद के प्रति (उसके) दायित्व को दूसरों के हाथों में नहीं दे सकती।"

93. बंबई सरकार का रवैया खतरनाक है,क्योंकि उसने इसे एक गलती माना है फिर भी वह भूल सुधार का भार स्वयं उठाने को तैयार नहीं। मैं इस रवैये को क्षम्य अपराध मान लेता, यदि यह संवैधानिक व्यवस्था की गलती न होती। परन्तु दुर्भाग्य से यह एक संवैधानिक गलती है और उसने अपना डेरा उसके एक अति महत्वपूर्ण अंग में डाल लिया है। अतः उसका व्यवस्था के संचालन पर घातक प्रभाव पड़ेगा। इस तरह की गलती असहनीय है। संविधान के अभिनव परिवर्तन में ऐसी गलती से पूरे समाज और उसके प्रत्येक अंग पर सीधा असर पड़ेगा। यह जनता तथा सरकार दोनों के लिए विपत्ति और विनाश से भरपूर हो सकती है। और उसका निराकरण वस्तुतः असंभव होगा। बंबई सरकार यह मान कर चली है कि सभी संवैधानिक परिवर्तन अंतिम हैं और उनका पालन अनिवार्य है, दुष्परिणाम चाहे जो भी हों। निस्संदेह यह धारणा इस भाग्यवादी समर्पण से पैदा होती है कि इन मामलों में कोई अनुत्तरदायी शक्ति हमें जबरन विनाश के अपरिहार्य कगार की दिशा में निश्चित पथ पर धकेल देती है। परन्तु मुझे खुशी है कि भारत सरकार ने इस समझौते को स्वीकार करते समय यह स्वीकार नहीं किया है कि अधिनियम की शर्तों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इस मामले को अस्पष्ट न रखते हुए उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह व्यवस्था प्रथम कानूनी कमीशन के बाद लागू नहीं होगी। साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट पर अपने 'डिस्पैच' में उसने कहा, "इससे पहले कि हम इस रिपोर्ट पर विचार करें, कुछ महत्व का एक प्रारंभिक सवाल उभर कर सामने आता है। जैसा कि आप देखेंगे, कमेटी का उद्देश्य काफी हद तक सिद्धान्त निर्धारण नहीं रहा है। उसके सामने जो विभिन्न समस्याएं आईं, उन पर विचार करते समय उन्होंने सामान्यतः समझौते की कोशिश की, बजाए इसके कि समाधानों के कोई सामान्य तर्क ढूंढते। निस्संदेह समय की तात्कालिक अपेक्षाओं के कारण उनके लिए कुछ और कर पाना कठिन था। परन्तु उनके प्रस्तावों पर विचार करते समय हमें स्वयं से प्रश्न करना है कि क्या इन तरीकों के नतीजे किसी हद तक स्थायी होने चाहिए। ...परिवर्तन तंत्र कोई भी हो, बहरहाल हमें इस व्यावहारिक सवाल पर विचार करना है कि कब तक हम भारत में स्थापित प्रथम निर्वाचन प्रणाली को झेलना चाहते हैं। क्या प्रांतीय विधायिका की इच्छा से आरंभ में ही इसका पुनर्निर्माण किया जा सकेगा या यह कम से कम प्रथम कानूनी कमीशन बनने तक इसमें परिवर्तन नहीं होगा? दोनों स्थितियों के बारे में कुछ वजनदार तर्क हैं। दायित्व के संवर्धन के हित में यह वांछनीय नहीं है कि निश्चित अनुपात में विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व को बंधे-बंधाए ढर्रे में ढाल दिया जाए, जितने लम्बे अर्से तक पृथक वर्ग और सांप्रदायिक निर्वाचक-मंडल कठोर शिकंजे में बंधे रहेंगे, प्रतिनिधित्व के सामान्य तरीकों की ओर अग्रसर होना उतना ही कठिन होगा। दूसरी ओर यह किसी भी दशा में

वांछनीय नहीं कि उसके संशोधन के लिए सतत संघर्ष को न्योता दिया जाए।" यह बताना कमीशन का काम है कि क्या इस गलती की उम्र को लम्बा करना ही होगा। मुझे आशा है कि कमीशन केवल यही नहीं कहेगा, "ठीक है, हम पूर्णतः अनुभव करते हैं कि सांप्रदायिक प्रणाली के सिद्धान्त पर उठाए गए एतराजों में बल है। परन्तु हम लाचार हैं क्योंकि भारत ने उत्तरदायी सरकार के लिए यह मार्ग जान बूझकर चुना है।" आयोग यह अनुभव करेगा कि न केवल ईमानदारी भरे औचित्य का तकाजा है कि उसका यह फर्ज है कि वह सही मार्ग-निर्देशन करे और उस पर भारत को चलाए बल्कि अंग्रेज अधिकारियों का नैतिक दायित्व भी उसके लिए जिम्मेदार है क्योंकि उन्होंने ही 1909 में गलत रास्ता दिखाया था।

अध्याय 5

दूसरा सदन

94. मेरे साथियों ने इस प्रेसिडेंसी की विधायिका के एक भाग के रूप में दूसरे सदन के गठन की सिफारिश की है और उसके गठन के स्वरूप के बारे में सुझाव दिए हैं। मेरे साथियों ने इसके गठन से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। यदि दूसरा सदन बनता है, तो वह पहले सदन से भिन्न होना ही चाहिए। अधिकारों के मामले में यह देखा जाए कि दूसरा सदन पहले के कामों में अड़ंगे न डाले। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसा दूसरा सदन बनाना कठिन होगा, जो इन दोनों कसौटियों पर खरा उतरे। मनोनयन करके दूसरा सदन बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता। मनोनीत दूसरे सदन के गठन के बारे में कनाडा की सीनेट एक स्थायी चेतावनी है। उसको कोई नैतिक अधिकार नहीं होगा, जैसा कि एक निर्वाचित सदन को होता है कि वह फैसले लागू करा सके। ना ही इसे चुने हुए सदन की तरह इतनी स्वतंत्रता मिल सकती है कि वह संशोधी सदन की तरह उस कार्यपालिका के कार्यों पर निर्णय दे सके, जो उसे आकार देती है। यदि दूसरा सदन निर्वाचित सदन होगा, तो प्रथम सदन से उसका सहज संबंध उनके अपने मताधिकार, निर्वाचन की अवधि और उनके अधिकारों पर निर्भर करेगा। यदि दूसरे सदन का निर्वाचन सीमित मताधिकार के आधार पर होता है, तो वह कुलीनतंत्र में से एक छोटे से वर्ग को प्रशासी वर्ग बना देगा। उसका जनता के भाग्य पर खास नियंत्रण होगा। दूसरा सदन संशोधी सदन तो होगा नहीं, जो निचले सदन के जल्दबाजी में किए गए फैसले पर अंकुश रख सके, बल्कि ऐसा सदन होगा, जो सामान्य सुधार के हित न करके निहित स्वार्थों का हित करेगा। यह अनुदारवादी प्रशासन के अधीन निष्क्रिय हो जायेगा और आमूल परिवर्तनवादी प्रशासन के अधीन सजग रहेगा। जो परिवर्तन इसे करना चाहिए उसे वह नहीं करेगा और जो नहीं करना चाहिए, वह करेगा और शायद बाधाएं उत्पन्न करेगा। यदि दोनों का निर्वाचन समान

मताधिकार के आधार पर होगा, तो दूसरा सदन पहले की नकल ही होगा और फालतू माना जाएगा और यदि दूसरे सदन का निर्वाचन पहले के साथ-साथ होता है, तो भी नतीजा वही निकलेगा। यदि दूसरा सदन पहले से भिन्न समय में चुना जाएगा, तो इससे कार्यपालिका कमजोर होगी ही और उसकी दक्षता घट जाएगी, क्योंकि वह समुचित नीति-निर्धारण के मार्ग में एक अड़ंगा होगा और कार्यपालिका की नीतियों में वह इतनी उग्र बाधा डाल सकता है कि इससे बार-बार आम चुनाव कराने पड़ सकते हैं। यदि दोनों सदनों के अधिकार बराबर होंगे, तो गतिरोध होंगे ही और सभी गतिरोधों का अनिवार्य परिणाम होता है, दुःखद समझौता भले ही वह विवादग्रस्त सिद्धान्त की सम्पूर्ण तिलांजलि न हो। दूसरी ओर, यदि दूसरे सदन के अधिकार कुछ कम होंगे, तो वह पहले सदन के हड़बड़ी में किए गए कार्यों पर नियंत्रण नहीं रख पाएगा और इस तरह अपने उद्देश्य में विफल रहेगा।

95. दूसरे सदन की रचना की रूपरेखा निश्चित करते समय मेरे साथियों ने इन सब कठिनाइयों की उपेक्षा की है। उन्होंने ऐसा दूसरा सदन खड़ा किया है, जो अवगुणों का भंडार होगा और उसमें कोई गुण होंगे ही नहीं। ऐसा लगता है कि दूसरे सदन के गठन का समर्थन करने वाले लोग कमोवेश भीड़ की मनोवृत्ति से प्रभावित हैं। ऐतिहासिक कालों में दूसरे सदन के बड़े पैमाने पर गठन से राजनीतिक शास्त्र में एक सिद्धान्त पनपा कि दूसरा सदन निर्वाचित सरकार का आवश्यक अंग होता है। परन्तु यह बात भुला दी जाती है कि इंग्लैंड में जिस द्विसदन प्रणाली का जन्म हुआ, वह एक विशुद्ध ऐतिहासिक संयोग था। दूसरे देशों में इसे स्थान इसलिए मिल गया था कि अविकसित देशों ने विकसित देशों की नकल की। उसके साथ यह गुण जोड़ दिया गया कि वह निर्वाचित सदन द्वारा हड़बड़ी में किए गए कार्यों पर अंकुश रखेगा। यह बाद की ईजाद है कि जिसे मानव-मन ने सर्वमान्य तथ्य को बनाए रखने के लिए खोज लिया। परन्तु यह ध्यान में रखा ही जाए कि काफी अर्से से दूसरे सदन के प्रति यह विश्वास दिनोंदिन क्षीण पड़ता जा रहा है और युद्ध पूर्व के कनाडा और दक्षिण अफ्रीका के संविधानों में तथा युद्धोपरांत के कई अन्य संविधानों जैसे लातविया, लिथुआनिया एसथोनिया और यूगोस्लाविया के संविधान में दूसरे सदन समाप्त कर दिए गए। यह प्रतिक्रिया इस पनपती हुई धारणा का फल है कि किसी सरकार का मूल्यांकन उसके प्रतिसाम्य के आधार पर नहीं, बल्कि समग्र रूप से उसकी उपलब्धियों तथा वास्तविक जनसेवा और राष्ट्रीय कल्याण के अनुसार किया जाना चाहिए।

96. दूसरे सदन के गठन के संबंध में उपयोगिता की दृष्टि से भी मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि यह एक संशोधी सदन के रूप में कार्य कर सकता है। यदि संशोधन का अर्थ है मतदाताओं की व्याख्या करना, तो मेरी समझ में नहीं आता कि दूसरे सदन से कैसे यह आशा की जाती है कि मतदाताओं की इच्छा के बारे में उसका निर्णय पहले सदन के निर्णय से अधिक सही होगा। मैं सोचता हूं कि जब इस प्रकार का प्रश्न उठे, तो उसके बारे

में सर्वोत्तम निर्णायक मतदाता होगा, दूसरा सदन नहीं, जब तक कि हम यह न मान लें कि अपनी स्थिति के कारण दूसरे सदन के सदस्यों का व्यक्तित्व निचले सदन के सदस्यों से ऊंचा है। मैं इस बात से सहमत नहीं कि दूसरे सदन में ऐसे कोई गुण हैं। वास्तव में दूसरा सदन भी लोकेच्छा को ठीक-ठीक समझने में उतना ही विफल होगा, जितना पहला सदन और हो सकता है कि इस मामले में उसके निजी हित उसे ऐसा डांवाडोल पूर्वाग्रह प्रदान करें कि वह स्वतंत्र और तर्कसम्मत निर्णय ले ही न सके। इसलिए यह बेहतर तथा अधिक सुरक्षित और अधिक तर्कसंगत होगा कि एक ही सदन रखा जाए और जब कोई संदेह हो तो निर्णय का दायित्व मतदाताओं को सौंप दिया जाए, जो सदन को चुनते हैं। दूसरे सदन को यदि इसलिए महत्व दिया जाता है कि पहले सदन के फैसलों को लटका दिया जाए, तो गवर्नर के पास वह अधिकार तो है ही। उसे यह अधिकार है कि विधायिका द्वारा पारित किसी विधेयक विशेष को पुनर्विचार के लिए वापस भेज दे। यदि विधायिका इस पर पुनर्विचार न करके उसे ज्यों का त्यों पास कर दे, तो भी गवर्नर उसे वीटो द्वारा रोक सकता है। यदि विधायिका गवर्नर के इस फैसले को भी न माने, तो वह गवर्नर को सदन के विघटन के लिए विवश करके मांग कर सकती है कि विवादग्रस्त मामले पर मतदाताओं की राय ले ली जाए। इस तरह यह स्पष्ट है कि दूसरा सदन जो कर सकता है और उससे जो अपेक्षाएं हैं, उसे गवर्नर भी वीटो, विघटन तथा पुनर्विचार के अपने अधिकारों से कर सकता है। यदि मेरी बात मान ली जाती है, तो दूसरा सदन निर्वाचित सदन का बेकार दुमछल्ला सिद्ध होगा।

97. मुझे पूरा विश्वास है कि उपयोगिता के सिद्धान्त की अनदेखी करके मेरे साथी कुछ अन्य देशों में विद्यमान व्यवस्था के बहकावे में नहीं आ जाते, यदि वे इस बारे में सुनिश्चित कर लेते कि उनकी इस धारणा के सुनिश्चित आधार हैं कि एक अकेला सदन बिना सोचे समझे जल्दी में कानून बना सकता है। मुझे लगता है कि उनकी धारणाएं नितांत निराधार हैं और वे आधुनिक राजनीति के तौर तरीके से पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। आज के युग में कोई भी विधायी प्रस्ताव विधायिका के सामने अचानक आसमान से नहीं टपक पड़ता। इसके विपरीत हर विधायी प्रस्ताव को कानून बनने तक जनता के विचार-विमर्श और आलोचना की लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। यह प्रक्रिया वर्षों तक चलती है। यदि कानून की पुस्तक में हर कानून का पूर्ण इतिहास खोजा जाए, तो पता चलेगा कि उसकी कल्पना और उसके अधिनियम के बीच जो अर्सा गुजरता है, वह बहुधा छोटा होने के बजाए लम्बा ही होता है। ऐसी स्थिति में यह धारणा बना लेना कि निर्वाचित सदन जल्दबाजी में काम करता है, इसलिए उस पर लगाम लगाने की आवश्यकता है, इसी कहावत को चरितार्थ करता है कि जब मर्ज ही नहीं, तो इलाज किसका।

98. मेरे साथी दरअसल कोई संशोधी सदन नहीं बल्कि एक प्रशासी वर्ग चाहते हैं। इस वर्ग को जो दायित्व सौंपा गया है, जिस मताधिकार के आधार पर उसके गठन का प्रयास

किया गया है और उसे जिन अधिकारों को दिए जाने का प्रस्ताव है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। मैं मानता हूं कि मुझे उनकी इस सोच पर कुछ अचरज ही हुआ कि विधायिका को अधिकारों की सुपुर्दगी को एक दूसरे सदन के गठन द्वारा सुरक्षा चक्र प्रदान किया जाए ताकि इस बात की गारंटी मिल जाए कि इन अधिकारों का इस्तेमाल किसी समुदाय विशेष या हित विशेष के अहित में किया जा सके। क्योंकि वास्तविक कामना यह नहीं है, जैसाकि मैं उसे समझता हूं कि हम ऐसा सुधार करें, जिसमें राजनीतिक केन्द्र का संतुलन अपरिवर्तनीय रहेगा, बल्कि यह है कि कतिपय सीमाओं के भीतर वह चोरी-चोरी जनसमूह की ओर प्रवाहित होगा। सत्ता की सुपुर्दगी को सुरक्षा चक्र प्रदान करने का जो यह प्रयास है, उससे तो ऐसा दीख पड़ता है कि मेरे साथी सोचते हैं कि सर्वाधिक वांछनीय प्रकार का सुधार वह है, जो सम्बद्ध विभिन्न समुदायों के बीच सत्ता-संतुलन में परिवर्तन नहीं करता। मेरे विचार में ऐसा दृष्टिकोण रखने वाले लोग या तो राजनीतिक सुधार का अर्थ नहीं जानते और यदि जानते भी हैं, तो ऐसा सुधार नहीं चाहते, जो यथास्थिति में खलल डाले। जहां तक मेरा संबंध है, मैं इस तथ्य के बारे में पूर्ण आश्वस्त हूं कि सभी सुधारों का मूलमंत्र यह है कि विभिन्न वर्गों के बीच सत्ता-संतुलन में परिवर्तन किया जाए। यदि निम्नवर्ग को लाभ होता है, तो दूसरे वर्ग को हानि होगी ही। यदि हर वर्ग को पहले से ज्यादा राजनीतिक सत्ता नहीं मिल पाती, तो कोई वास्तविक सुधार होगा ही नहीं। यह सोचना बेकार है कि निम्न वर्ग या सुधार में रुचि रखने वाला कोई वर्ग किसी उपाय से या तो इसलिए संतुष्ट हो जाएगा कि उसे राजनीतिक सुधार का उपाय कहा जाता है या फिर इसलिए कि आमूल परिवर्तन के प्रस्ताव के नाम पर वह स्थिति को ज्यों का त्यों बनाए रखने का प्रयास करता है। स्पष्ट शब्दों में यह कहना कहीं बेहतर होगा कि संतोष का आधार यह भी नहीं होगा कि राजनीतिक सत्ता की सुपुर्दगी इस प्रकार ढाली जाए कि सत्ता प्रवाह वर्ग समूह तक सीमित रह जाए और जन-वर्ग तक न पहुंच पाए। इसलिए मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मैं सुधार की इस योजना का भागीदार नहीं बनना चाहता।

99. भले ही हम यह स्वीकार भी कर लें कि दूसरा सदन एक आवश्यकता है, फिर भी इसके गठन में एक बहुत बड़ी कठिनाई है। 1917 की मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में प्रांतों में दूसरे सदनों के गठन पर सावधानीपूर्वक विचार किया गया था, परन्तु हर पहलू पर विचार करने के बाद उसमें इस प्रस्ताव का विरोध किया गया था। उसमें कहा गया है: ''इस विचार के प्रति हमें गंभीर व्यावहारिक एतराज दीख पड़ते हैं। कई राज्यों में हमें दो सदनों के लिए पर्याप्त संख्या में उपयुक्त सदस्य नहीं मिल सकेंगे। हमें यह भी आशंका हैं कि दूसरे सदन में मुख्यत: जमींदारों तथा पैसे वालों के हितों का प्रतिनिधित्व रहेगा और वह उस विधान के विरुद्ध बहुत असरदार रोक साबित हो सकता है, जो ऐसे हितों को प्रभावित करे। पुन: यदि दूसरे सदन में बड़े-बड़े जमींदारों की उपस्थिति होगी, तो उसका दुर्भाग्यपूर्ण

परिणाम यह हो सकता है कि अपने ही वर्ग के अन्य लोगों को वे लोग मत नहीं प्राप्त करने देंगे। हम सोचते हैं कि दो सदनों के कारण जो विलम्ब होगा वह इस प्रणाली को इतना बोझिल बना देगा कि प्रान्तीय विधायिका का काम चलना दूभर हो जाएगा। इसलिए फिलहाल हमने फैसला किया है कि प्रांतों में दो सदनों वाली प्रणाली न हों।'' 1917 में दूसरे सदन के बारे में जो एतराज उठाए गए थे, उनकी आज भी उतनी ही सार्थकता है। मैं आश्वस्त हूं कि प्रेसिडेंसी में पर्याप्त संख्या में इतने प्रख्यात व्यक्ति नहीं है कि वे दोनों सदन चला सकें। दूसरा सदन पहले को या पहला सदन दूसरे को खा जाएगा। दोनों को बनाने की पर्याप्त सामग्री नहीं है। इन हालात में यह बेहतर होगा कि दो सदनों के स्थान पर एक ही प्रभावी सदन रहे। इस कारण मैं प्रेसिडेंसी में दूसरे सदन का विरोध करता हूं।

अध्याय 6

विधायिका के अधिकार

100. अध्यक्ष की नियुक्ति और उसे पदच्युत करने का अधिकार : 1919 के सुधारों के पहले गवर्नर, जो प्रांतीय कार्यपालिका का प्रमुख था, प्रांतीय विधायिका का अध्यक्ष होता था। 1919 में लागू सुधारों से प्रांतीय विधायिका ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि वह अपने किसी सदस्य को उसका अध्यक्ष निर्वाचित कर सके और चाहे तो उसे पद से हटा सके। यह एक महत्वपूर्ण विशेषाधिकार था, लेकिन इस विशेषाधिकार के उपयोग में कुछ शर्तें लगी थीं। अध्यक्ष की नियुक्ति की गवर्नर से पुष्टि करानी होती थी और उसको हटाए जाने पर भी उसकी सहमति आवश्यक थी। ये शर्तें उस समय की अवशेष हैं। कार्यपालिका विधायिका से सर्वोपरि थी। डोमिनियनों के संविधान में उनके लिए कोई स्थान नहीं है। वे विधायिका की स्वतंत्रता के प्रतिकूल हैं और उन्हें हटाना ही होगा। हम यह मानते हैं कि निश्चय ही अध्यक्ष कार्यपालिका के नियंत्रण में न रहे, पर प्रश्न यह है कि क्या उसे न्यायपालिका के नियंत्रण से भी मुक्त रखा जाए। भारत सरकार अधिनियम की धारा 110 में यह व्याख्या की गई है कि वे कौन से अधिकारी और मामले हैं, जो उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से मुक्त हैं। विधान परिषद का अध्यक्ष उन अधिकारियों में शामिल नहीं है जिन्हें यह उन्मुक्ति मिली हुई है। इस स्थिति में विधायिका का अध्यक्ष उच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आता है। इसका अर्थ है कि अध्यक्ष के रूप में उसके आचरण को अदालत में चुनौती दी जा सकती है। ऐसी आशंका है कि इससे खिजाऊ मुकदमेबाजी के लिए भारी गुंजाइश पैदा हो जाएगी और विधायिका के कार्य-संचालन में भारी विलंब होगा। इसे दूर करने के लिए कहा गया है कि अध्यक्ष को न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से मुक्त रखा जाए। मैं इस परिवर्तन के विरुद्ध हूं और यथास्थिति चाहता हूं।

101. *विशेषाधिकारों की व्याख्या का अधिकार* : कोई भी व्यक्ति इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि यह आवश्यक है कि विधायिका को उसके लिए समुचित रूप से जरूरी हर अधिकार दिया जाए, ताकि वह बनी रहे और अपने लिए नियत कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन कर सके। वर्तमान कानून के अधीन प्रांतीय विधायिकाओं की स्थिति बहुत असंतोषजनक है। विधायिका के सदस्यों को उन्मुक्ति के केवल कुछ अधिकार दिए गये हैं। विधान परिषद के नियमों के नियम 17 के अधीन अध्यक्ष को मामूली से अधिकार प्राप्त हैं। उनके अधीन वह अनुशासन भंग करने वाले किसी सदस्य को सदन से बाहर निकाल सकता है। इसके अलावा कानून विधायिका को कोई ऐसा प्राधिकार नहीं देता, जिसके अधीन वह ऐसे किसी गलत काम से अपनी रक्षा कर सके, जो उसके काम में खलल डालने या उसकी गरिमा को गिराने के लिए किया गया हो। विधायिका को अब और अधिक समय तक ऐसे अधिकार सें वंचित नहीं किया जा सकता। अत: मैं यह सिफारिश करता हूं कि डोमोनियन विधायिकाओं की भांति प्रांतीय विधायिकाओं को विहित सीमाओं के भीतर यह अधिकार दिया जाए कि वे कानून द्वारा उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को परिभाषित कर सकें जिन्हें वे अपने हित के लिए जरूरी समझती हों।

102. *प्रक्रिया को विनियमित करने का अधिकार* : बंबई विधान परिषद का कार्य संचालन भारत सरकार अधिनियम की धारा 73घ (6) के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार होता है। इसी अधिनियम की धारा 72 घ (7) के अधीन बनाए गए स्थायी आदेश इन नियमों की अनुपूर्ति करते हैं। प्रक्रिया की इस संहिता को तैयार करने में प्रांतीय विधायिका का कोई हाथ नहीं रहा है। स्थायी आदेश गवर्नर जनरल इन काउंसिल ने बनाए थे, हालांकि विधायिका को उनमें संशोधन के सुझाव देने की आजादी थी। परन्तु ये नियम धारा 129 क के उपबंधों के अधीन गवर्नर जनरल इन काउंसिल बनाती है। उनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रांतीय विधायिका को उनमें कोई परिवर्तन या उन्हें रद्द करने का कोई अधिकार नहीं है। मेरी राय है कि प्रांतीय विधायिका को यह अधिकार मिले कि वह अपनी प्रक्रिया को स्वयं ही विनियमित करे। लगता है कि प्रांतीय विधायिकाओं को ऐसी स्वतंत्रता देने में कठिनाई यह रही होगी कि कुछ नियमों में ऐसे उपबंध हैं, जो अन्य देशों में उनके संवैधानिक कानून के अंग हैं, जिससे नियमों में संशोधन करने का अधिकार संविधान में संशोधन करने का अधिकार बन जाता है। परन्तु इस कठिनाई से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है, यदि प्रयास किया जाए कि ऐसे नियम भारत सरकार अधिनियम की धारा के रूप में बनाए जाएं। यदि ऐसा किया जाता है, तो जो सिफारिशें मैंने की हैं, उन्हें लागू किया जा सकता है और प्रांतीय विधायिकाओं को आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और कनाडा की डोमिनियन विधायिका की बराबरी पर लाया जा सकता है।

103. *कानून बनाने का अधिकार* : भारत सरकार अधिनियम की धारा 80 ग में यह व्यवस्था है कि किसी भी स्थानीय विधायिका के किसी सदस्य के लिए यह वैध नहीं होगा

कि वह गवर्नर, लैफ्टिनेंट गवर्नर या चीफ कमिश्नर की पूर्व स्वीकृति के बिना कोई ऐसा विधेयक पेश कर सके, जिसका संबंध प्रांत के लोग राजस्व या उन राजस्वों पर प्रभार लागू करने से हो। यह धारा विधायिका के अधिकारों पर कठोर अंकुश है। यह उन दिनों की याद दिलाती है जब लोगों की देश के कामकाज के प्रशासन में कोई आवाज नहीं होती थी। इन अधिकारों को बरकरार रखना उस विधायिका के प्रतिकूल होगा जो कार्यपालिका से कहीं ऊंची है। इसलिए इस धारा को हटाया जाए। गवर्नर को फिर भी यह अधिकार रहेगा कि वह अपने वीटो अधिकार से उस कानून को रद्द कर दे, जो परिषद ने पास किया हो। यह अधिकार पर्याप्त होना ही चाहिए। उससे अधिक अधिकार उस हैसियत के अनुरूप नहीं होगा, जिसे वह पूर्ण मंत्रिमंडलीय दायित्व प्रणाली के अधीन प्राप्त करेगा।

104. *विनियोग का अधिकार* : विधान परिषद को धारा 72 घ के अधीन यह अधिकार है कि वह किसी मांग की मंजूर करे या न करे या उसमें उल्लिखित राशि को कम कर दे, वह चाहे तो समूचे अनुदान को कम कर दे या फिर अनुदान में शामिल किसी मद के खर्च में कटौती या उसका लोप कर दे। यह अधिकार कुछ महत्वपूर्ण उपबंधों के तहत मिला हुआ है। यदि वह मांग किसी आरक्षित विषय के बारे में हो, तो गवर्नर को यह अधिकार है कि वह विधायिका के फैसले को रद्द कर सकता है, यदि वह प्रमाणित कर दे कि मांग में जिस खर्च की व्यवस्था की गई है, वह विषय के बारे में उसके दायित्व-निर्वाह के लिए अति आवश्यक है। धारा 72 घ, खंड 2 (ख) में शामिल एक अन्य परन्तुक के अनुसार विधायिका की विनियोग संबंधी शक्तियां सीमित कर दी गई है। इसके तहत गवर्नर को यह अधिकार है कि वह आपात-स्थिति में ऐसे व्यय का अधिकार दे दे, जो उसकी राय में प्रांत की सुरक्षा और शांति के लिए या किसी विभाग के संचालन के लिए आवश्यक हो। यह भी विधान परिषद के अधिकारों पर अति कठोर अंकुश है। मेरा सुझाव है कि अधिनियम से इन्हें निकाल दिया जाए। पहले परन्तुक के अधीन गवर्नर को, जो अधिकार दिए गए हैं, उनके लिए ऐसी सरकार में कोई स्थान नहीं है, जो पूर्णतया उत्तरदायी हो और जिसमें कामकाज संबंधी दिशा-निर्देश के लिए गवर्नर पर दायित्व नहीं डाला गया हो। प्रांत की सुरक्षा और शांति गवर्नर का विशेष दायित्व नहीं होगा क्योंकि वह अब तो कार्यपालिका का दायित्व होगा। अत: दूसरे परन्तुक के द्वारा गवर्नर को जो अधिकार दिए गए हैं, वे अनावश्यक हैं और वे उससे वापस ले लिए जाने चाहिए।

105. विधायिका के वित्तीय अधिकारों पर एक और प्रतिबंध का प्रावधान धारा 72 घ (3) में है। इसके अनुसार कार्यपालिका के लिए यह अनावश्यक नहीं है कि उसमें उल्लिखित कतिपय विशिष्ट मदों से संबंधित व्यय को वोट के लिए विधायिका के पास भेजे। नतीजा यह है कि प्रांत के बजट में स्थायी विनियोग की बहुत सी ऐसी मदें हैं, जिन्हें विधान परिषद छू ही नहीं सकती। सैद्धांतिक रूप से व्यय की हर मद पर हर वर्ष विधायिका की स्वीकृति

ली जानी चाहिए। परंतु लगभग हर देश के बजट में ऐसा स्थायी विनियोग होता है, जिस पर हर वर्ष विधायिका की स्वीकृति आवश्यक नहीं। यहां तक कि इंग्लैंड में भी स्थायी विनियोगों की सूची काफी लम्बी हो गई है। युद्ध पूर्व वह कुल खर्च का एक तिहाई भाग थी। कार्यपालिका पर इस बात के लिए विश्वास किया जा सकता है या नहीं कि वह सरकारी खर्च की राशि और उसका स्वरूप तय करे, वह इस बात पर निर्भर है कि विकास का वह चरण क्या है, जिस पर कि जनता संवैधानिक सरकार की प्राप्ति में पहुंची है। यदि स्थिति ऐसी है कि सरकार और जनता के राजनीतिक अधिकारों के बारे में अनिश्चय है, तो यह निरापद नहीं होगा कि विधायिका की स्वीकृति के बिना सरकारी खर्च के ऐसे स्थायी विनियोग की अनुमति दी जाए, जैसी कि व्यवस्था धारा 72 घ (3) में है। यह ठीक ही है कि प्रांतों में उत्तरदायी सरकार का आधार अभी तैयार ही किया जा रहा है और प्रांतीय विधायिकाओं की कार्यपालिका के अतिक्रमणों से सतर्कतापूर्वक रक्षा करनी होगी। मैं सोचता हूं कि इसके साथ ही साथ यह भी स्वीकार कर ही लिया जाए कि सरकारी कामकाज पर लोक-नियंत्रण के अधिकार को मान्यता मिले और नये संविधान के अधीन उसे पूर्णत: स्वीकार कर लिया जाए, ताकि सरकारी प्राधिकार के मनमाने उपयोग पर विभिन्न अंकुश हों और सरकारी खर्च की हर मद की वार्षिक स्वीकृति पर आग्रह करने की जरूरत न पड़े। इस तरह मैं स्थायी विनियोग की इस योजना के विरुद्ध नहीं हूं, परन्तु मैं यह नहीं मानता कि इसकी कानूनी व्यवस्था की जाए, जिससे विधायिका के अधिकारों में कटौती हो। कानूनी व्यवस्था पर विधायिका पर यह पाबंदी लग जाएगी कि वह वोट की अपेक्षा न रखने वाली मदों के नियंत्रण संबंधी नीति पर भी विचार नहीं कर सकेगी। वोट की अपेक्षा न रखने वाली मदों की व्यवस्था सुविधा के लिए होनी ही चाहिए पर उसके लिए विधायिका पर कोई कानूनी अंकुश नहीं होना चाहिए।

106. *कार्यपालिका पर नियंत्रण का अधिकार*: मूलत: 1919 के सुधार वाले संविधान के अधीन प्रांतीय विधायिकाएं तीन प्रकार से मंत्री पर नियंत्रण रख सकती थीं: (1) विधान द्वारा (2) आपूर्ति रोक कर और (3) वेतन न देकर या घटाकर। केवल दूसरे और तीसरे प्रकार से ही विधायिका मंत्रियों के प्रशासन पर नियंत्रण रख सकती थी। यह नियंत्रण साल में एक बार ही किया जा सकता था। इसलिए वह अपर्याप्त था। अत: 1926 में यह व्यवस्था की गई कि मंत्री के प्रति विश्वास के अभाव का प्रस्ताव रखा जाए। मंत्री के कार्यों को नियंत्रित करने के लिए विधायिका के ये अधिकार काफी हैं और इनके पीछे उद्देश्य यह था कि मंत्री अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होंगे। भावी मंत्रिमंडल संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होगा, जिसके अनुसार मंत्री खड़े होंगे एक साथ और गिरेंगे भी एक साथ। विधायिका के वर्तमान अधिकारों में ऐसा कोई संकेत नहीं है कि वह समूचे मंत्रिमंडल को बर्खास्त करना चाहती है। मैं सोचता हूं कि इस आशय के उपबंध किए जाएं और एक

नये प्रकार का प्रस्ताव जोड़ा जाए जिसे अविश्वास प्रस्ताव के नाम से जाना जाए और जो मौजूदा प्रस्ताव से भिन्न हो। इसका नया नाम होना चाहिए। "किसी विशिष्ट मामले में मंत्री की नीति को चुनौती देने वाला प्रस्ताव"। यह सुझाव मुडीमैन कमेटी ने रखा था, पर उसे स्वीकार नहीं किया गया।

107. *संविधान संशोधन का अधिकार* : प्रांतीय विधायिकाएं उस दस्तावेज की शर्तों से आबद्ध हैं, जिसके द्वारा इनका गठन हुआ है। उस दस्तावेज के अनुसार उन्हें 'पूर्ण अधिकारों' वाले ऐसे निकायों का रूप दिया गया है, जिन्हें अपने राज्य क्षेत्र में सभी व्यक्तियों के ऊपर प्रशासन का विशिष्ट और परिभाषित अधिकार प्राप्त है। उन्हें एक खास क्षेत्र में और सरकार के परिभाषित अधिकार प्राप्त हैं। प्रशासन के पूर्ण अधिकारों में स्वभावत: संविधान संशोधन का अधिकार शामिल नहीं है। ऐसी कामना है कि प्रांतीय विधायिकाओं को संविधान सभा के अधिकार प्राप्त हों, ताकि वे अपने प्रांत के संविधान में संशोधन कर सकें। इस प्रस्ताव के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। संसद यदि प्रांत के लोगों को स्वराज दिए जाने की अनुमति दे दे, तो उसका अर्थ होगा कि प्रांत के लोगों को यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपनी पसंद की शासन प्रणाली चुनें। परन्तु यह माना ही जाना चाहिए कि कुछ अल्पसंख्यक समुदाय हैं, जो यह नहीं चाहेंगे कि उनके संवैधानिक अधिकारों को बहुसंख्यक तय करें। ऐसा ही होगा यदि प्रांतीय विधायकों को संविधान संशोधन का अधिकार दिया जाएगा। इसी प्रमुख कारण से कनाडा का संविधान कनाडा की संसद को संविधान परिवर्तन का कोई अधिकार नहीं देता। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में इसकी मिसाल मौजूद है। वहां अल्पसंख्यकों का अहित किए बिना विधायिका संविधान में परिवर्तन कर सकती है। अत: इसका कोई कारण नहीं है कि हम दक्षिण अफ्रीका के उदाहरण पर न चलें। मेरी सिफारिश है कि प्रांत के संविधान संशोधन का अधिकार प्रांतीय विधायिकाओं को दिया जाए बशर्ते कि उसे विधायिका में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व संबंधी उपबंधों में संशोधन का कोई अधिकार न हो।

108. ऐसा कानून पास करने के लिए क्या विशेष प्रक्रिया अपनाए जाए, यह निश्चित करना कठिन है। परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि संविधान संशोधन की प्रणाली ऐसी होनी चाहिए कि वह नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की काफी कठोरता से रक्षा करे, परन्तु साथ ही उसमें इतना लचीलापन भी रहे कि विकास और अस्तित्व दोनों को जीने के लिए जरूरी माना जाए, कदम उठाने से पहले विचार-विमर्श हो और अंतिम निर्णय बहुमत के शासन के सिद्धान्त के अनुरूप हो। मुझे सबसे अच्छा तरीका यही लगता है कि अलग अलग संविधान संशोधनों के लिए अलग-अलग प्रकार की प्रक्रिया हो। मैं चाहता हूं कि अल्प मूलभूत प्रकार के संविधान अंशों के संशोधनों के मुकाबले अधिक मूलभूत प्रकार के संविधान संशोधनों के लिए प्रक्रिया अधिक कठोर हो।

परिच्छेद IV

प्रांतीय स्वायत्तता

अध्याय 1

प्रांतीय सरकार और भारत सरकार का संबंध

109. यह स्पष्ट है कि कार्यपालिका का दायित्व किसी काम का नहीं रहेगा, यदि किसी प्रांतीय कार्यपालिका को प्रांतीय विधायिका के अधीन न रखकर प्रांत से बाहर किसी संस्था के अधीन रखा जाए या अपने अधिकारों के प्रयोग के मामले में प्रांतीय विधायिका अपने क्षेत्र में सर्वोपरि न होकर किसी अन्य अधिकार के अधीन हो जाए। दूसरे शब्दों में उत्तरदायी शासन 'स्वायत्त' बनाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रांतीय और केन्द्र सरकारों के अधिकार क्षेत्र स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिए जाएं।

110. 1919 के पूर्व प्रांतीय सरकार से भारत सरकार अधिनियम की धारा 45 के अनुसार अपेक्षा की जाती थी कि वह गवर्नर जनरल इन काउंसिल के आदेशों का पालन करे और उसे सतत रूप से और कर्मठता से अपनी कार्यवाहियों की या उन सभी मामलों की सूचना भेजती रहे, जो उसकी राय में उसे भेजना जरूरी हो या जिनके विषय में उसे सूचना की आवश्यकता हो और अपने प्रांत के प्रशासन से संबधित सभी मामलों में जिन पर उसका अधीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण हो। इसका मतलब है कि प्रांतीय सरकारों को अपने प्रशासनिक मामलों में कोई मान्य प्राधिकार प्राप्त नहीं था। जो भी अधिकार उसे प्राप्त थे, वे उसे केन्द्र सरकार ने अपनी ओर से उसी प्रकार सौंप रखे थे, जिस प्रकार एक मालिक अपने एजेन्ट को सौंपता है। 1919 के अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सरकार से प्रांतीय सरकार का यह संबंध अधिनियम के अधीन बनाए गए उपबंधों तथा नियमों का दास बना दिया गया। 1919 के अधिनियम की धारा 45 (1) (ख) में उपबंध किया गया "प्रांतीय विषयों के बारे में स्थानीय सरकारों को प्राधिकार सौंपने के लिए और उन सरकारों को राजस्व और अन्य राशियों के आवंटन के लिए धारा 45(3) में व्यवस्था की गई", जहां तक हस्तांतरित विषयों का संबंध है, इस अधिनियम के अधीन गवर्नर जनरल इन काउंसिल में स्थानीय सरकारों

के अधीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण संबंधी जो अधिकार निहित है, वे केवल ऐसे प्रयोजनों के लिए काम में लाए जाएंगे,जिन्हें इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों में विनिर्दिष्ट किया जाए । किन्तु गवर्नर जनरल इन काउंसिल इस बात की एकमात्र निर्णायक होगी कि विशेष मामले में ऐसे अधिकारों का प्रयोग इस प्रकार विनिर्दिष्ट प्रयोजनों के भीतर आता है या नहीं।'' इसलिए 1919 के अधिनियम में दो परिवर्तन किए गए : (1) उसने प्रांतों को उनका अपना प्राधिकार प्रदान किया। वह भारत सरकार के एजेण्टों के रूप में प्राप्त प्राधिकार से भिन्न था। (2) अधिनियम ने उन्हें उनके इस पूर्ववर्ती दायित्व से मुक्त कर दिया कि वे उन विषयों के बारे में भारत सरकार की आज्ञा का पालन करें,जो मंत्रियों को हस्तांतरित कर दिए गए थे,लेकिन निरीक्षण के अधिकार उसने अपने पास रखे। इससे यह स्पष्ट है कि भले ही मंत्रियों को सभी विषयों का नियंत्रण पूर्णतः दे दिया जाए,परन्तु हस्तांतरण सदा ही भारत सरकार के अधीक्षण के अधिकार के अधीन रहेगा। उसका अर्थ होगा कि प्रांतीय सरकार की काम करने की आजादी में हस्तक्षेप हो सकता है।सवाल यह है कि क्या अधीक्षण का अधिकार आवश्यक है, यदि आवश्यक है तो क्या केन्द्र और प्रांतों की सरकारों के बीच संबंधों का कोई अन्य रूप सोचा जा सकता है,जिसमें इन अधिकारों को इस प्रकार स्थान दिया जाए कि उनका टकराव प्रांत की स्वायत्तता से न हो।

111. 1919 के अधिनियम और उसके अधीन बनाए गए नियमों द्वारा प्रांतीय विषयों को केन्द्रीय विषयों से अलग कर दिया गया है। इसके बावजूद प्रांतीय विधायिकाओं को प्रांतीय विषयों पर कानून बनाने के बारे में कार्य करने या कार्य को अंतिम रूप देने की आजादी नहीं दी गई है।प्रांतीय विधायिका के अधिकारों को दो अलग अलग तरीकों से सीमित किया गया है। धारा 80 क में परिभाषित कतिपय मामलों के बारे में गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना न वह किसी कानून को बना सकती है और न ही उस पर विचार कर सकती है। भले ही उसका संबंध प्रांतीय क्षेत्र के मामले से क्यों न हो। कुछ अन्य मामलों के बारे में प्रांतीय विधायिका कानून पारित कर सकती है,किन्तु यदि कानून धारा 80 क और उसके अधीन बनाए गए नियमों के दायरे में आता है,तो उस पर गवर्नर जनरल वीटो का इस्तेमाल कर सकता है। पर इन दो प्रतिबंधों से प्रांतीय स्वायत्तता के सम्मिलित प्रभाव को आसानी से समझा जा सकता है।सवाल यह है कि क्या प्रांत और केन्द्र की सरकारों के बीच संबंधों की कोई दूसरी प्रणाली सोची जा सकती है,जिसमें केन्द्रीय सरकार के अधिकारों का टकराव प्रांतों की स्वायत्तता से न हो।

112. प्रांतीय विषयों के प्रशासन के मामले में प्रांतीय सरकार पर केन्द्रीय सरकार के पर्यवेक्षण का उपबंध तथा प्रांतीय विषयों के बारे में प्रांतीय कानून बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार की पूर्व स्वीकृति तथा पश्चातवर्ती वीटो की शक्ति का उपबंध एक ऐसा विचित्र लक्षण है,जो किसी ऐसे अन्य देश के संविधान में नहीं पाया जाता जहां सरकार के कामों को केन्द्रीय

तथा प्रांतीय जैसे दो राजनीतिक निकायों के बीच बांटा जाता है, यथा कनाडा, आस्ट्रेलिया और अमरीका में। भारत के संविधान में पूर्व स्वीकृति संबंधी प्रावधानों ने अपना स्थान दो गलत धारणाओं के कारण बना लिया है। एक यह है कि पूर्णत: कामों की सीमा निर्धारित करना संभव नहीं है। इस धारणा का कोई ठोस आधार नहीं दीख पड़ता, क्योंकि कनाडा का संविधान निश्चय ही इन कामों को दो अलग अलग वर्गों में बांटता है, यथा (1) वे वर्ग जो पूर्णत: केन्द्र सरकार के हैं, और (2) वे वर्ग, जिनका संबंध पूर्णत: प्रांतीय सरकारों से है। दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्णत: स्वायत हैं। दूसरी धारणा है कि उन कामों के निपटारे के लिए जिन्हें पूरी तरह प्रांतीय नहीं कहा जा सकता, केवल यह रास्ता है कि उनके लिए केन्द्रीय सरकार की पूर्वानुमति लेनी होगी ओर केन्द्र को बाद में वीटो का अधिकार भी होगा। यह भी मुझे गलत धारणा लगती है। आस्ट्रेलिया और अमरीका का संविधान इसके उदाहरण हैं, जहां संविधानों ने कनाडा की तरह कार्यों के दो पूर्ण तथा स्पष्ट विभाजन नहीं किए हैं। आस्ट्रेलिया के संविधान में कार्यों और अधिकारों के विभाजन की जो योजना अपनाई गई है, उसके अनुसार वहां कुछ ऐसे मामले हैं, जिनके बारे में केन्द्र की सरकार को और अधिकार मिले हुए हैं। कुछ अन्य मामलों में केन्द्र की सरकार के अधिकार राज्य सरकारों के अधिकारों के समवर्ती हैं, लेकिन समवर्ती विधान के मामलों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है: (1) वह जिसमें राज्य के अपने निजी अधिकारों के प्रयोग का उल्लंघन मात्र करके राष्ट्रकुल संसद का अधिकार सर्वोच्च विधान के रूप में चलता है, और (2) वह जिसमें राष्ट्र-कुल को कोई सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नहीं है। अमरीका में सरकार के अधिकारों की स्थिति इस प्रकार हैं : (1) अधिकार जो केवल केन्द्रीय सरकार को प्राप्त हैं, (2) अधिकार जो केवल राज्य सरकारों को प्राप्त हैं, (3) अधिकार जो केन्द्र की सरकार और राज्यों, दोनों को प्राप्त हैं, (4) अधिकार जो केन्द्र की सरकार को प्राप्त नहीं हैं, और (5) अधिकार, जो राज्य सरकारों को प्राप्त नहीं है। इस तरह आस्ट्रेलिया और अमरीका दोनों संविधानों में यह मान्यता है कि ऐसे कार्य हो सकते है जिनके बारे में नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्णत: किसी एक के हैं। परन्तु उनमें से किसी ने भी यह योजना नहीं अपनाई है कि इन कार्यों को एक सरकार को सौंपा जाए और उस पर शर्त लगा दी जाए कि उसे दूसरी सरकार की पूर्व स्वीकृति लेनी होगी और दूसरी सरकार चाहे तो बाद में वीटो का इस्तेमाल भी कर सकती है। मैं सिफरिश करता हूं कि कार्यों और अधिकारों के विभाजन की कनाडा जैसी योजना को आजमाया जाए और यदि वह असफल रहे तो आस्ट्रेलिया या अमरीका में प्रचलित योजना अपनाई जाए। परन्तु किसी भी हालत में पूर्व स्वीकृति और पश्चात्वर्ती वीटो का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिए।

113. प्रांतीय नियंत्रण के लिए हस्तांतरित विषयों पर पर्यवेक्षण के अधिकार जिस उपबंध के द्वारा केन्द्रीय सरकार को दिए गए हैं, उसकी व्यवस्था का आंशिक कारण यह है कि केन्द्र

तथा राज्यों के बीच विषयों का स्पष्ट आवंटन नहीं है। उसका आंशिक कारण यह भी है कि प्रांतीय विषयों के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार के दायित्व के बारे में एक गलत धारणा बना ली गई है। पर्यवेक्षण के अधिकार का औचित्य इस आधार पर ठहराया जाता है कि कुछ विषय केन्द्रीय सरकार के लिए महत्वपूर्ण हैं। यदि कनाडा, आस्ट्रेलिया अथवा अमरीका की पद्धति के अनुसार विषयों का समुचित आवंटन कर दिया जाए तो यह तर्क टिकेगा नहीं। पर्यवेक्षण के अधिकारों के औचित्य के बारे में दूसरा दृष्टिकोंण यह है कि भारत की शांति, व्यवस्था और उत्तम प्रशासन का दायित्व समग्रत: भारत सरकार का ही होना चाहिए। वह अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके, इसके लिए उसे पर्यवेक्षण का अधिकार मिलना ही चाहिए। मुझे ऐसा लगता है कि कार्यों के विभाजन के साथ-साथ दायित्वों का भी विभाजन होना चाहिए। यदि इन दायित्वों का भी विभाजन कर दिया जाए और केन्द्रीय सरकार का दायित्व केवल उन्हीं विषयों तक सीमित रहे, जो उसे सौंपे जाए तो प्रांतीय सरकारों के पर्यवेक्षण की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी। मैं सुझाव देता हूं कि भारत सरकार अधिनियम के जो खंड केन्द्रीय सरकार के दायित्वों को परिभाषित करते हैं, उनमें तदनुसार संशोधन कर दिया जाए।

114. जहां मैं देखना चाहता हूं कि प्रांतों की पूर्ण स्वायत्तता हो वहां मैं किसी भी ऐसे परिवर्तन के विरुद्ध हूं जिससे किसी भी तरह केन्द्रीय सरकार कमजोर होती हो या जिससे हमारा राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट होता हो या लोगों की नजरों में उसका अस्तित्व संदिग्ध बने। इस दृष्टिकोंण के अनुसार मैं नहीं चाहता कि केन्द्रीय सरकार को ऐसा संघ बना दिया जाए जिसमें अनेक सरकारों का समावेश हो ताकि वे कतिपय प्रयोजनों के लिए आबद्ध होकर एक निकाय बना सकें। ऐसी व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट है। यह संघ केवल राज्यों के जमघट के रूप में बना रहेगा और जैसे ही वे प्रांत अलग-अलग होने का फैसला करेंगे, वह संघ टूट जाएगा। ऐसी केन्द्रीय सरकार केवल तभी तक चल सकती है, जब तक उसमें शामिल सरकारें चाहेंगी कि यह संघ चलता रहे। यह संघ सरकारों का परिसंघ होगा और उसका वास्ता केवल सरकारों से होगा। नागरिकों से इसका कोई लेना-देना नहीं होगा। ऐसा कोई अधिकार नहीं होगा कि वह व्यक्ति पर कर लगा सके, उसके हितों पर निर्णय दे सके और उसके लिए कानून बना सके। निश्चय ही ऐसी केन्द्रीय सरकार दुर्बलतम सरकार होगी। केन्द्रीय सरकार की स्थिति के बारे में जो मेरी अवधारणा है, उसके अनुसार मैं ऐसे संबंधों को मानने के लिए तैयार नहीं जैसे कि अमरीका के संविधान में पाए जाते हैं, जिनमें केन्द्रीय सरकार एक राष्ट्रकुल और साथ ही राष्ट्रकुलों का एक संघ है। यह सत्य है कि इसके अधीन केन्द्रीय सरकार अपनी अदालतों और अधिकारियों के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति के बारे में तुरंत कार्यवाही कर सकती है। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अमरीका की केन्द्रीय सरकार राज्यों की सृष्टि है। राज्यों ने ही उसे अस्तित्व प्रदान किया है। अत: उनके बल पर ही वह टिकेगी और उनके

साथ ही वह गिरेगी। राज्यों ने जिन अधिकारों का जान-बूझकर समर्पण नहीं किया है, वे सभी उनके पास हैं। केन्द्रीय सरकार के पास उनके अलावा और कोई अधिकार नहीं है, जो कानूनी तौर पर उसे मिले हैं। ऐसी केन्द्रीय सरकार कसी संघ की किसी केन्द्रीय सरकार से कितनी भी सुदृढ़ क्यों न हो, वह मेरे विचार में भारत की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त मजबूत सरकार नहीं हो सकती। मेरा विचार है कि राष्ट्रीय सरकार की ऐसी स्थिति हो कि वह प्रांतीय सरकारों के बल पर टिकी हुई न लगे। दरअसल उनकी स्थिति इतनी स्वतंत्र हो कि चाहे सभी प्रांतीय सरकारें टूट जाएं अथवा नितांत विभिन्न संस्थाओं के रूप में बदल जाएं, फिर भी वह बनी रहे। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार भी हो कि वह किसी प्रांत का प्रशासन तब भी संभाल ले जब कोई प्रांतीय सरकार विद्रोह या किसी और कारण से काम बंद कर दे। इसलिए प्रश्न के इस पहलू के बारे में मैं निम्नलिखित सिफारिशें करता हूं कि:

(1) सभी अवशिष्ट अधिकार केन्द्रीय सरकार के पास ही हों।

(2) ऐसे विशिष्ट अधिकार केन्द्र की सरकार को दिए जाएं कि वह किसी राज्य की उदण्डता और विद्रोह को दबा सके, जिससे देश के हितों पर आंच आती हो।

(3) यदि प्रांतीय सरकार काम करना बंद कर दे, तो उसे दिए गए सभी अधिकार पुन: केन्द्रीय सरकार की झोली में ही आ जाएंगे; और

(4) केन्द्रीय विधायिका का चुनाव प्रत्यक्ष मतदान से हो।

अध्याय 2

प्रांतीय सरकार और सम्राट का संबंध

115. जहां तक प्रांतीय स्वायत्तता का प्रश्न है, केवल इतना पर्याप्त नहीं है कि प्रांतीय सरकार और केन्द्रीय सरकार के बीच समुचित संबंधों की व्यवस्था कर दी जाए। यह भी आवश्यक है कि प्रांतीय सरकारों का दर्जा परिभाषित किया जाए। मुख्यत: उनके विदेश-संबंधों के बारे में इसका व्यावहारिक महत्व है। यह निर्विवाद है कि प्रांतों का कोई अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा नहीं हो सकता। परन्तु ब्रिटिश सरकार (होम गवर्नमेंट) के साथ उनके संबंधों का प्रश्न अलग बात है और उसका आसानी से निपटारा संभव नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रांतीय सरकारों और ब्रिटिश सरकार के बीच संबंध का जो भी रूप हो, वह देश के संवैधानिक कानून के अनुसार होना ही चाहिए। किसी प्रांत को कितनी राजनीतिक स्वतंत्रता दी जाए, उसी के अनुसार ही समस्या के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित किया जाए। क्या प्रांतों को स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व से इतना वंचित रखा जाए कि उन्हें केवल आंतरिक विभाजन ही माना जाए और उनकी तुलना स्थानीय सरकार के उन क्षेत्रों से की जाए, जो स्वयं भारत के बाहर अज्ञात और

अनाम हैं? यदि ऐसा है तो सम्राट की सरकार केवल एक ही भारतीय प्राधिकार यानी भारत सरकार को मानेगी और भारत से संबंधित हर मामले में उसी सरकार से लिखापढ़ी करेगी और केवल उसी से या उसी के माध्यम से संदेश प्राप्त करेगी। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या प्रांतीय सरकारों का कानून की दृष्टि से कोई राजनीतिक अस्तित्व है ? यदि कहा जा सके कि उनका अस्तित्व है, तो सम्राट की सरकार को उन्हें मान्यता देनी होगी और प्रांतीय मामलों में उनसे लिखापढ़ी करनी ही होगी तथा उनसे संदेश प्राप्त करना ही होगा। संबंध के दोनों संभावित आधारों में से दूसरा अधिक उचित है। प्रांतों का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व आजकल एक सिद्ध तथ्य है। उनका एक कार्यक्षेत्र होता है, जहां उनका अपना प्राधिकार होता है। सुधारों की समूची योजना प्रांतीय सरकारों को केन्द्र के अधीन रखने के विरुद्ध है। प्रांत के मुख्य कार्यपालक को केन्द्रीय सरकार का प्रमुख मनोनीत नहीं करता। वह प्रांत में सम्राट का प्रतिनिधि है, गवर्नर जनरल का नहीं। संविधान बहुत्ववादी है और उसमें इस दृष्टिकोण के पक्ष में ऐसा कुछ नहीं है कि देश के भीतर उसे बहुत्ववादी माना जाए, जिसमें हरेक को अलग-अलग अधिकार दिए गए हों और सम्राट की सरकार इसे केवल एक उत्तरदायी सरकार वाला एकात्मक संविधान माने।

116. वे कौन से मामले हैं, जिनमें प्रांतीय सरकारों के इस अधिकार को माना जा सकता है कि वे 'ब्रिटिश सरकार' से सीधा सम्पर्क कर लें ? आस्ट्रेलिया के राष्ट्रकुल की भूमिका है कि वहां सम्राट की हैसियत केवल सरकारी गठन के अंग के रूप में होती है, वहां लिखापढ़ी सीधे राज्य के गवर्नर और औपनिवेशक कार्यालय के बीच चलती है, गवर्नर-जनरल उसमें दखल नहीं देता। इस भूमिका का अनुकरण करते हुए प्रांतीय सरकारों की तरफ से दावा किया ही जाना चाहिए कि उन्हें केन्द्रीय सरकार के हस्तक्षेप के बिना 'ब्रिटिश सरकार' से सीधे संपर्क का अधिकार दिया ही जाए। जिन मामलों में उन्हें ऐसे अधिकार दिए ही जाने चाहिए, वे हैं, आरक्षण, प्रांतीय कानून बनाने की स्वीकृति और अस्वीकृति, प्रांतीय गवर्नरों की नियुक्ति और बर्खास्तगी और उनके अनुदेश प्रांतीय संविधानों में संशोधन, अन्य मामले जो पूर्णत: प्रांतीय सरकारों के हों। उन मामलों का क्या होगा, जो पूर्णत: किसी भी सरकार के नहीं है ? मेरा सुझाव है कि ऐसे मामलों में जहां केन्द्रीय सरकार को विधायन का सर्वोपरि अधिकार है, वहां केन्द्रीय सरकार भारत की एकमात्र प्रतिनिधि है। लेकिन जो मामले केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकार के समवर्ती अधिकार-क्षेत्र में हैं, उनमें प्रांतीय सरकार को सीधे प्रतिनिधित्व का अधिकार है।

117. यह एक वास्तविकता है कि भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त एक इकाई के रूप में प्रांतों का राजनीतिक अस्तित्व हो और प्रांतीय कार्यपालिका और प्रांतीय विधायिका में वर्तमान की अपेक्षा सम्राट का प्रतिनिधित्व और अधिक उजागर हो। वर्तमान कानून के अधीन भारत मंत्री ने सम्राट को एकदम पृष्ठभूमि में रख दिया है और वास्तव में उसका स्थान हड़प

लिया है। भारत के लिए भारत मंत्री का कार्यालय उपनिवेशों के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट के कार्यालय जैसा ही है। परन्तु दोनों की भूमिकाएं नितांत भिन्न है। डोमिनियनों की वैधानिक विधि में उपनिवेशों के लिए सेक्रेटरी आफ स्टेट का कोई महत्व नहीं होता। सभी डोमिनियनों के संवैधानिक कानूनों में यह स्पष्ट उल्लेख होता है कि उनकी कार्यपालिका और विधायिका का प्रशासन सम्राट में निहित है। भारत सरकार अधिनियम की धारा 2 में भारत मंत्री को निश्चित कानूनी दर्जा दिया गया है। भारत मंत्री का दर्जा इतना प्रखर है कि उसने सम्राट के दर्जे को ग्रस लिया है। वास्तविकता यह है कि भारत सरकार अधिनियम की धारा 1 में सरसरी उल्लेख के अलावा भारत सरकार अधिनियम में अन्यत्र कहीं भी सम्राट का कोई उल्लेख नहीं है। निस्संदेह इसके कारण ऐतिहासिक और बहुत पुराने हैं। उनकी कहानी 1773 के विनियमन अधिनियम के पारित होने से शुरू होती है। तब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पूरब में अर्जित अपने स्वत्वों के बारे में सम्राट के अधिकार पर आपत्ति उठाई थी। ऐतिहासिक मतभेद कुछ भी रहे हों, डोमिनियन कानून सेक्रेटरी आफ स्टेट को कोई मान्यता नहीं देता है, जबकि भारतीय कानून देता है। परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों का सेक्रेटरी आफ स्टेट डोमिनियनों पर शासन नहीं करता। उसका कर्तव्य है कि वह सम्राट को यह सलाह दे कि वह डोमिनियन सरकारों के अधिनियम विशेष, को स्वीकार करे या न करे। दूसरी ओर भारत मंत्री सम्राट का सलाहकार मात्र नहीं है। भारत सरकार अधिनियम की धारा 2 के अनुसार उसे सरकार के पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त हैं।

118. धारा 2 में वर्णित उपबंधों को किसी भी हालत में न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता। वे सम्राट के दर्जे की अवमानना और भारत मंत्री की सही स्थिति को विकृत करते हैं। वे प्रांतीय सरकारों की स्थिति की गलत तस्वीर पेश करते हैं। 1919 से पहले धारा 2 का कोई भी औचित्य क्यों न हो, परन्तु उस साल जो परिवर्तन उसमें किए गए, उन्होंने इसे पूर्णत: हटा दिया था। जनता को प्रशासन के अधिकार दिए जा रहे हैं, इसलिए वे अधिकार भारत-मंत्री के हाथों में बरकरार रखना संभव नहीं है। इसके लिए दोहरी शासन प्रणाली लागू करनी होगी, जिससे गंभीर टकरावों की संभावनाएं उत्पन्न होंगी। इसलिए मैं सिफारिश करता हूं कि धारा 2 को भारत सरकार अधिनियम से हटा दिया जाए और उसके स्थान पर दो नई धाराएं जोड़ दी जाएं, जो इस प्रकार हों :

1. प्रांतों की विधायी शक्ति प्रांतीय संसद में निहित होगी, जिसके अंग होंगे सम्राट और सम्राट की एक परिषद और प्रतिनिधियों की परिषद जिसे अब से 'प्रांतीय विधायिका' कहा जाएगा।

2. प्रांतों की कार्यपालक शक्ति सम्राट में निहित की जाती है और उसका उपयोग सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में गवर्नर करेगा और उसका विस्तार प्रांत के संविधान और कानूनों के अमल तथा देखरेख पर होगा।

भारत सरकार में सम्राट की स्थिति के बारे में 1919 के कानून में ऐसी ही धाराएं जोड़ी जाएं। ऐसे परिवर्तन से न केवल सम्राट और भारत मंत्री की स्थिति को सही स्थान मिलने में सहायता मिलेगी, बल्कि इसके साथ ही भारत के संवैधानिक कानून को डोमिनियनों के संवैधानिक कानून के समान बनाया जा सकेगा।

परिच्छेद V

लोक सेवाएं

1- सेवाओं का पुनर्गठन

119. *सेवाओं का विभाजन:* भारत में लोक सेवा का वर्तमान गठन एचीसन कमीशन की सिफारिशों के अनुसार हुआ। इस कमीशन ने 1886-87 में भारतीय लोक सेवा की जांच पड़ताल की। कमीशन की नियुक्ति से पूर्व उच्च दायित्वों और उपलब्धियों वाले पद अधिकांशत: यूरोप के रंगरूटों से भरे जाते थे। कमीशन से स्पष्टत: कहा गया कि वह ऐसे उपायों का सुझाव दे, जिनके द्वारा लोक सेवा में तथा व्यापक सेवा नियोजन के लिए भारतवासियों के दावों के साथ पूर्ण न्याय हो सके। आयोग का विचार था कि सिविल सेवा में केवल कुलीन-वर्ग ही होना चाहिए। अत: उसने सिफारिश की कि इंग्लैंड में अधिकारियों की भरती काफी कम कर दी जाए और इस प्रकार जो उच्च नियुक्तियां बच जाएं, उन्हें भारत में भारत से ही भरती किए जाने वाले लोगों की सेवा को सौंप दिया जाए। इन सिफारिशों के फलस्वरूप इंग्लैंड में भरती किए गए अधिकारियों से शाही सेवाओं का गठन हुआ और भारत से भरती किए गए अधिकारियों से प्रांतीय सेवाओं का गठन। वेतन, अवकाश और पेंशन के संबंध में दोनों सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्ति की शर्तें स्वतंत्र आधार पर निश्चित होती थीं और उनका एक-दूसरे से संबंधित होना जरूरी नहीं था। देश की अधिकांश सिविल सेवाओं में शाही और प्रांतीय का यह विभाजन बना हुआ है। उसके विस्तार में जाना बेकार है। जो महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी है, वह यह है कि यह विभाजन इसलिए किया गया कि इंग्लैंड में भरती किए गए अधिकारियों के बीच स्पष्ट भेद किया जा सके। जैसा कि विवरण से दीख सकता है, यह विभाजन इसलिए नहीं किया गया था कि अखिल भारतीय सेवा के लिए सक्षम तथा भारत सरकार कें अधीन रखे जाने वाले अधिकारियों का स्पष्ट भेद उन अधिकारियों से किया जाए जो स्थानीय सरकारों के अधीन रखे जाएं और केवल विशिष्ट प्रांतों में ही सेवा कर सकें। उदाहरण के तौर पर टेलीग्राफ (इंजीनियरिंग) तथा भारतीय सर्वेक्षण विभाग में प्रांतीय सेवाओं के जो अधिकारी है, वे सीधे भारत सरकार के अधीन हैं और वे किसी प्रांत विशेष तक सीमित नहीं रहते,जब कि शिक्षा और पुलिस विभागों

में शाही सेवा के अधिकारी विभिन्न प्रांतों को आवंटित कर दिए जाते है। मेरे विचार में अब समय आ गया है, जब प्रत्येक प्रांत स्वतंत्र रूप से अपनी प्रशासनिक सेवाओं का गठन करे। इसके लिए सेवाओं का अखिल भारतीय स्वरूप समाप्त करना ही होगा। केन्द्रीय सरकार की अपनी जरूरतों के अनुसार केन्द्रीय सिविल सेवा में भरती की जाए और उसकी देखभाल की जाए। यह सेवा उन विभिन्न विभागों को चलाए, जिन्हें भारत सरकार उसे सौंपे पर उसके सदस्यों पर यह दायित्व न थोपा जाए कि वे किसी प्रांतीय सरकार की सेवा करेंगे। इसी प्रकार हर प्रांतीय सरकार केवल अपने उपयोग के लिए अपनी जरूरतों के अनुसार एक प्रांतीय सिविल सेवा का गठन और उसकी देखभाल करे। इस सिफारिश से मौजूदा प्रणाली में बहुत परिवर्तन नहीं आएगा, क्योंकि भले ही शाही सेवा और प्रांतीय सेवा के अधिकारी भारत के किसी भी भाग में सेवा कर सकते हैं, पर उनका अखिल भारतीय स्वरूप नाममात्र का है। ऐसे मामले बहुत कम हैं, जब चाहे शाही सेवा हो या प्रांतीय सेवा, सिविल सेवा के किसी अधिकारी को उस प्रांत से बाहर सेवा करने के लिए बुलाया गया हो, जिसमें उनकी मूल रूप से नियुक्ति की गई हो। आम तौर से उनमें से लगभग सभी उसी प्रांत में अंत तक काम करते रहें, जहां शुरू में उनकी नियुक्ति हुई थी। जब स्थिति ऐसी है, तो जिस सुधार का सुझाव मैंने दिया है, उससे कोई परिवर्तन नहीं होगा। वह केवल मौजूदा तथ्यों को मान्यता देगा।

120. सिविल सेवा के गठन में इस सुधार पर जो बल मैं दे रहा हूं, उसके कई आधार हैं। सर्वप्रथम तो सेवाओं का ऐसा विभाजन कि जो इस अर्थ में केन्द्रीय हैं कि वे भारत सरकार की सेवा करें और जो इस अर्थ में प्रांतीय हैं कि वे प्रांतीय सरकार की सेवा करें, उसका एक भारी लाभ यह है कि यह एक ऐसा सुधार है जिसकी खास जरूरत है और उसे प्रांतीय सरकार के स्वरूप में परिवर्तन करके करना होगा । यदि मौजूदा प्रणाली चलती रही तो मंत्रिगण अपना दायित्व पूरा नहीं कर सकेंगे । इसमें संदेह नहीं कि भारत सरकार अधिनियम की धारा 98 (ख) के अनुसार भारत के लोक सेवक अपना पद सम्राट के प्रासाद पर्यन्त धारण करते हैं । लेकिन यह याद रखना होगा कि अधिनियम मंत्रियों को यह निर्णय करने का अधिकार नहीं देता कि कब महामहिम अपने प्रासाद से उसे पद से अलग करें। यद्यपि यह अधिकार उसे नियुक्त करने वाले आधिकारी को दिया गया है, फिर भी बर्खास्त किए गए अधिकारी को यह अधिकार है कि वह भारत मंत्री से अपील करे। केवल यही बात नहीं है कि मंत्री को अधिकारी को बर्खास्त करने का कोई अधिकार नहीं है, बल्कि यह भी है कि दंड मुक्ति के कारण वह उसे दंडित भी नहीं कर सकता। क्योंकि कानून में यह व्यवस्था है कि यदि सेक्रेटरी आफ स्टेट इन काउंसिल द्वारा नियुक्त कोई अधिकारी सोचता है कि गवर्नर के प्रांत में किसी वरिष्ठ अधिकारी ने अपने आदेश से उसके साथ अन्याय किया है तो उसे अधिकार है कि वह गवर्नर से शिकायत करे और गवर्नर कानून के अधीन और

साथ ही अनुदेश-पत्र के अनुसार उसकी जांच कराने को बाध्य है और उसे ऐसे आदेश देने होंगे,जो उसे न्यायसंगत और निष्पक्ष दीख पड़ें। इन प्रावधानों के कारण कोई भी मंत्री चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, वह सिविल सेवा के उस हठधर्मी अधिकारी के समक्ष विवश हो जाएगा,जो उस नीति का पालन न करे,जिसके लिए मंत्री विधायिका की इच्छानुसार उसके प्रति उत्तरदायी है। मंत्री पद का दायित्व अपेक्षा करता है कि मंत्री को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने अधीन गलत कार्य करने वाले अधिकारी से कारगर ढंग से निपट सके। उसे यह फैसला करने का अधिकार होना ही चाहिए कि कितने अधिकारी उसके पास हों और किस अधिकारी को किस पद पर वह नियुक्ति करे। मौजूदा प्रावधान उसे वे अधिकार नहीं देते,जिनकी उसे सख्त जरूरत पड़ेगी ही। इस विसंगति को ली आयोग ने पहचाना जिसका गठन सुधार लागू करने के तुरंत बाद किया गया था। उस आयोग ने सिफारिश की कि हस्तांतरित विभागों में अखिल भारतीय स्तर पर और आगे नियुक्तियां न की जाएं और भविष्य में उनके लिए वांछित अधिकारियों की भरती और नियुक्ति प्रांतीय सरकारें करें। इस सिफारिश के अनुसार प्रांतीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे उन अधिकारियों की भरती के लिए नियम तैयार करें जो हस्तांतरित विभाग में स्थान रिक्त होने पर उस विभाग में काम करने वाले इन सेवाओं के वर्तमान अखिल भारतीय सेवा के अधिकारियों का स्थान लेंगे। मेरा सुझाव उसी सिद्धान्त का विस्तार मात्र है,जिसकी आवश्यकता को अधिकारी स्वीकार करने के लिए विवश हैं। इस विस्तार में अब विलम्ब नहीं किया जा सकता,क्योंकि एक पूर्णत: उत्तरदायी शासन प्रणाली में 'आरक्षित' और 'हस्तांतरित' के बीच का भेद समाप्त करना होगा।

121. पृथक और स्वतंत्र प्रांतीय सिविल सेवा का एक दूसरा लाभ यह होगा कि प्रांतीय सरकारों को यह छूट होगी कि वे प्रांत की सेवाओं के काडर में फेरबदल कर सकें। अखिल भारतीय प्रणाली की कमी यह है कि यदि कोई मंत्री संतुष्ट हो जाता है कि ऐसे उनके फालतू पद हैं जिन पर सामान्यतया अखिल भारतीय सेवा के अधिकारी डटे हुए हैं और उनमें से अधिकांश पदों के कर्तव्यों का पालन प्रांतीय सेवाओं के अधिक अल्प वेतन भोगी अधिकारी कर सकते हैं और अस्थायी रिक्त स्थानों पर इस कर्तव्य का दक्षता से पालन उन्होंने किया भी है, अत: ऐसे पद को समाप्त कर दिया जाए या उसे प्रांतीय सेवा के काडर को सौंप दिया जाए,तो मंत्री स्वयं को ऐसा करने में असमर्थ पाता है,क्योंकि कानून के अधीन उसके पास ऐसा कोई अधिकार नहीं है। वह अधिक से अधिक यह कर सकता है कि उन्हें खाली पड़ा रहने दे या प्रांतीय सेवा के किसी अधिकारी को लम्बे समय तक उस पर कार्य करने दे। परंतु इस मामले में भी उसके अधिकार सीमित हैं,क्योंकि इन नियमों के अनुसार उसे कुछ नियत महीनों के पश्चात भारत मंत्री से अनुमति लेनी होगी। सेवाओं के अखिल भारतीय गठन से उत्पन्न यह एक अति गंभीर बाधा इस दृष्टि से है कि वह बचत के उन लक्ष्यों की

प्राप्ति में बाधक है जिनके लिए 'संशोधित परिषद' अपने गठन काल से ही दुहाई देती रही है।

122. स्वतंत्र प्रांतीय सिविल सेवा प्रणाली के केवल यही लाभ नहीं हैं। सेवा का अखिल भारतीय स्वरूप वेतन, अवकाश भत्तों, पदोन्नतियों और पेंशनों से सम्बद्ध सेवा की शर्तों में प्रांतों पर एकरूपता थोपता है। मेरा कहना है कि इस एकरूपता से अपेक्षाकृत कम सम्पन्न प्रांतों के संसाधनों पर भारी भार पड़ेगा ही। उन्हें सेवा के लिए अपनी उचित क्षमता के बाहर भुगतान करना पड़ता है। ना ही यह कहा जा सकता है कि हर प्रांत में समान जीवन स्तर सुनिश्चित करने के लिए समान वेतन स्तर आवश्यक है। कौन नहीं जानता कि स्थानीय परिस्थितियों में अंतर होने के कारण दो अलग-अलग प्रांतों में नितांत अलग-अलग वेतन से समान स्तर की सुविधा प्राप्त की जा सकती है। यदि ऐसा है तो इसका कारण कोई नहीं कि वेतनों में समानता रखी जाए जबकि वह बोझिल भी हो और असंगत भी।

123. सेवा की शर्तों में एकरूपता की आवश्यकता का जन्म भी सिविल सेवा के अखिल भारतीय स्वरूप से हुआ है। और यह तब तक समाप्त नहीं होगी, जब तक सेवा का वह स्वरूप बना रहता है। स्वतंत्र प्रांतीय सिविल सेवा का गठन इस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए, विशेष रूप से उस समय जब कि इसके गठन से प्रशासन के खर्च में कमी आ सकती है और प्रांतों को अपना कामकाज करने की पूरी आजादी मिल सकती है। निश्चय ही इसका अर्थ यह है कि लोक सेवा के लिए भरती के मामले में प्रांतीय सरकारों की तुलना में भारत मंत्री की हैसियत में आमूल परिवर्तन होना ही चाहिए। इसके स्थान पर कि भारत मंत्री मुख्य नियोजक हो और अपने प्रांतों में कार्य के लिए जरूरी अधिकारियों की मांग प्रांतीय सरकार उससे करे, होना यह चाहिए कि भारत मंत्री उन मामलों में जिनमें इंग्लैंड में भरती जरूरी हो, केवल सम्बद्ध विशेष प्रांतों के एजेन्ट के रूप में कार्य करे। उसके लिए शर्तें प्रांतीय सरकार तय करे, न कि स्वयं वह करे। अतः प्रांतों को तुरंत अब ऐसा अधिकारी नहीं रखना चाहिए, जो उन व्यक्तियों की सेवा का उपयोग करता हो, जिन्हें भारत मंत्री उन्हें देता हो या उनके लिए खोजता हो। जब तक ऐसी प्रणाली जारी रहती है, तब तक भारत मंत्री भारत सरकार अधिनियम की धारा 96 ख के अधीन प्राप्त अधिकारों का उपयोग करता ही रहेगा। सिविल सेवा पर भारत मंत्री के अधिकारों का शिकंजा बने रहने का घोर विरोध मंत्रियों ने इस आधार पर किया है। उनके रहते उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो ही नहीं सकती। आलोचना बिल्कुल ठीक है। परन्तु जो ऐसी आलोचना करते हैं, शायद वे यह नहीं जानते कि ये अधिकार तभी समाप्त किए जा सकते हैं, जब भारत मंत्री भरती अधिकारी नहीं रहेगा।

124. यदि सेवाओं के विभाजन का यह सुधार अमल में लाया जाए, तो मैं सुझाव देता हूं कि प्रांतीय सिविल सेवा का इस प्रकार वर्गीकरण किया जाए :

प्रांतीय सिविल सेवा

उच्च सेवा	अधीनस्थ सेवा	लिपिकीय सेवा	चतुर्थ श्रेणी (मीनियन) सेवा
वर्तमान आई.सी.एस. और शाही सेवाओं के समकक्ष प्रथम श्रेणी	वर्तमान प्रांतीय सेवाओं के समकक्ष द्वितीय श्रेणी		

125. प्रांतीय सिविल सेवा में भरती के लिए एजेंसी : जब भारत मंत्री के पास प्रांतीय सिविल सेवा की भरती का काम नहीं रहेगा, तो भरती से संबंधित मामलों का प्रभार किस एजेंसी पर होगा, यह अगला विचारणीय प्रश्न है। मैं स्वीकार करता हूं कि सिविल सेवा ऐसी हो कि वह राजनीतिक प्रभाव और भ्रष्टाचार के दुष्प्रभावों से मुक्त हो। अत: उसकी भरती और नियंत्रण का काम ऐसे प्राधिकरण के पास हो जिस पर मंत्रियों का नियंत्रण न हो। लेकिन मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं कि इस प्रकार के कार्यभार के लिए प्रांतीय सिविल सेवा कमीशन का गठन किया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ही यह प्रस्ताव बहुत भारी भरकम लगता है। मैं इस सुझाव से सहमत हूं कि सेवा संबंधी मामलों पर खास तौर पर विचार के लिए हर प्रांत में एक पूर्णकालिक अधिकारी होना चाहिए। वह लोक सेवा आयोग और स्थानीय सरकार के बीच सम्पर्क अधिकारी का कार्य करे।

2 - सेवाओं का भारतीयकरण

126. (I) *भारतीयों की भरती* : भारतीयकरण के तर्क को इलिंगटन आयोग ने 1915 में स्वीकार कर लिया था। सुधारों की सफलता के साथ इसके संबंधों पर संयुक्त प्रतिवेदन तैयार करने वालों ने बल दिया और विभिन्न सेवाओं में भारतीयों और यूरोपीयों के बीच अनुपात का निर्धारण 'ली' आयोग ने किया और उसे कार्य रूप दिया। इसलिए भारतीयकरण के मामले पर नए सिरे से तर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह बताना जरूरी है कि इलिंगटन आयोग और 'ली' आयोग के गठन के अंतराल में इस प्रश्न पर दृष्टिकोण पूरी तरह से बदल गया था। इलिंगटन आयोग के सामने प्रश्न यह था, "लोक सेवाओं में कितने भारतीयों को भरती किया जाए?" ली आयोग के सामने प्रश्न था कि कम से कम कितने अंग्रेजों को अब भी भरती करना ही होगा ? मुझे खुशी है कि ली आयोग ने इस नए दृष्टिकोण को पूर्ण मान्यता दी। अब जरूरी यह है कि भारतीयों तथा यूरोपीयों के अनुपात को निश्चित

करने के लिए ली आयोग ने जो सिद्धान्त अपनाए थे, उनमें जरूरी परिवर्तन किए जाएं ताकि भारतीयकरण की गति को तेज किया जा सके। मेरे विचार में अनुपात को तय करने के लिए मापदंड यह होना चाहिए कि एक विभाग हो और उसे चलाने के लिए मेधावी तथा योग्य भारतीय हों। यदि इन मापदंडों को अपनाना है तो कानून और व्यवस्था, वन-विभाग और अन्य तकनीकी विभागों को छोड़कर शेष सभी विभागों में भारतीयों के पक्ष में ली आयोग द्वारा निर्धारित अनुपात को बदलना होगा।

127. (II) *भारतीयों को भुगतान:* मैं भारतीयकरण पर मात्र इसलिए बल नहीं देता हूं कि उसके अपने गुण हैं, बल्कि इसलिए भी कि प्रांत की वित्त व्यवस्था पर भी इसका गहरा असर पड़ता है। क्योंकि मुझे आशा है कि भारतीयकरण प्रशासन को किफायती बना सकता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से कोई औचित्य नज़र नहीं आता कि क्यों अखिल भारतीय सेवा की सदस्यता के नाते यह जरूरी हो कि भारतीयों और यूरोपीयों के वेतनों में समानता हो। गुण-अवगुण की दृष्टि से प्रश्न पर विचार करने के बाद मुझे विश्वास हो चला है कि लोक सेवकों के दोनों वर्गों के लिए एक-सा पारिश्रमिक (तर्कसंगत) रखने में कोई तर्कसंगत औचित्य नहीं है। एक वर्ग उन लोक सेवकों का है, जो अपने देश से हजारों मील दूर देश में भेजे गए हैं, जहां वे समझते हैं कि वे अपने बच्चों की सही शिक्षा-दीक्षा नहीं कर सकते या अपनी सेहत ठीक नहीं रख सकते। हालात ऐसे होते हैं कि उन्हें विवश होकर निर्विवाद रूप से जीवन यापन के ऊंचे स्तर पर दोहरी गृहस्थी जमानी पड़ती है। ये मजबूरियां उन लोक सेवकों की नहीं हैं, जो भारत में ही रहते हैं। अपने यूरोपीय साथियों के विपरीत वे अपने ही देश में काम करते हैं। वे दोहरी गृहस्थी जमाने के चक्कर से मुक्त हैं। जलवायु के कारण उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता और वे अपेक्षाकृत निम्न जीवन-स्तर के आदी हैं। जाहिर है कि अपने यूरोपीय साथियों की अपेक्षा उन पर विनियमन कम है। यदि उनके सेवा कार्य से जुड़े व्यक्तिगत जोखिम और त्याग के इस अंतर को स्वीकार कर लिया जाए, तो मेरे विचार में उन्हें समान आधार पर भुगतान किए जाने का कोई तर्कसंगत औचित्य नहीं है। वास्तव में यदि दोनों वर्गों की संपूर्ण स्थिति देखी जाए, तो एक बात निश्चित है कि यदि यूरोपीय अधिकारियों का मौजूदा वेतन पर्याप्त है, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय अधिकारियों को जरूरत से ज्यादा भुगतान हो रहा है। यदि धारणा यह है कि भारतीय अधिकारियों को आवश्यकता से अधिक नहीं मिल रहा है, तो उसका अर्थ है कि यूरोपीयों को कम वेतन मिलता है। किसी भी दृष्टि से सोचा जाए, तो भारतीय और यूरोपीय अधिकारियों को समान वेतन देने की वर्तमान प्रथा अति असंतोषजनक स्थिति पैदा करती है। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि समान भुगतान की मौजूदा प्रणाली में यूरोपीयों को चाहे पर्याप्त भुगतान होता हो या न होता हो, पर उनके भारतीय साथी निश्चित रूप से आवश्यकता से अधिक प्राप्त कर रहे हैं। अपने इसी दृष्टकोंण के अनुसार मैं चाहता हूं कि भारत के आदिवासी

अधिकारियों का वेतनमान घटाया जाए। मुझे यकीन है कि वह हर भारतीय इस तर्क से सहमत होगा, जो इस बात की पड़ताल करेगा कि विभिन्न प्रांतीय सरकारों की वित्तीय स्थिति क्या है और लोक सेवकों की उपलब्धियों के भुगतान पर होने वाले खर्च के उच्च अनुपात के कारण उनमें से हरेक को गंभीर परेशानियां उठानी पड़ रही हैं। मुझे पता है कि कुछ भारतीय ऐसे हैं, जो वेतनों की असमानता के सिद्धान्त पर आपत्ति करते हैं, परन्तु यह ध्यान रखा जाए कि ये आपत्तियां उन भारतीयों की ओर से उठाई जाती हैं, जिनमें से अधिकतर लोग सिविल सेवा के लिए भरती किए जाते हैं और जो देश के नेता होने का दम भरते हैं। उनका तर्क घृणित, ओछा और थोथा है। वह निस्सार है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि वेतन में असमानता के कारण दर्जे में असमानता आ ही जाए। यह मान्य नहीं है, क्योंकि इसमें स्वार्थ निहित है। मैं भारतीयकरण के पक्ष में मुख्यत: इसलिए हूं कि इससे अर्थ व्यवस्था का भविष्य बहुत कुछ सुधरेगा।

128. (III) *भारतीयकरण और पिछड़े वर्गों के दावे:* यह सर्वविदित है कि देश की लोक सेवाएं जहां तक कि उनके द्वार भारतीयों के लिए खुले हैं, विभिन्न परिस्थितियों के कारण ब्राह्मणों तथा उनसे जुड़ी जातियों के लिए सुरक्षित शिकारगाह बन गई हैं। गैर-ब्राह्मण, दलित वर्ग और मुसलमान वस्तुत: उनमें प्रवेश नहीं कर सकते। लोक सेवाओं में अपना समुचित हिस्सा प्राप्त करने के लिए वे तीव्र आन्दोलन चला रहे हैं। इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए वे चयन द्वारा नियुक्ति की प्रणाली को खुली प्रतियोगिता द्वारा नियुक्ति से बेहतर समझते हैं। ब्राह्मण और उनसे जुड़ी जातियां उसका जोर-शोर से विरोध कर रही हैं। उनका कहना है कि राज्य के हित में यह वांछनीय है कि सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियों के संबंध में दक्षता एकमात्र मापदंड होनी चाहिए और जाति अथवा नस्ल को ध्यान में नहीं रखा जाना चाहिए। यह मानकर कि शिक्षा संबंधी योग्यता ही एकमात्र मापदंड है, जिससे दक्षता मापी जा सके, वे आग्रह करते हैं कि सार्वजनिक पदों को केवल प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर ही भरा जाए। कहा जाता है कि ऐसी प्रणाली दक्षता के लक्ष्यों को पूरा करती है और लोक सेवाओं में पिछड़े वर्गों के प्रवेश पर कोई रोक नहीं लगाती। प्रतियोगी परीक्षाएं सभी जातियों तथा नस्लों के लिए खुली हैं। यदि इन जातियों का कोई उम्मीदवार वांछित कसौटी पूरी करता है, तो वह भी परीक्षा में बैठ सकता है।

129. इसमें कोई शक नहीं है कि इस प्रश्न पर ब्राह्मणों और उनसे जुड़ी जातियों के रवैए में निष्पक्षता का आभास है। प्रतियोगी परीक्षाओं की प्रणाली सभी जातियों और नस्लों के लिए विशिष्ट परिस्थितियों में निष्पक्ष सिद्ध हो सकती है। परन्तु उन परिस्थितियों की पूर्व अपेक्षा है कि सरकार की शिक्षा प्रणाली पर्याप्त लोकतांत्रिक हो और शिक्षा की सुविधाएं पर्याप्त रूप से व्यापक हो और उन सभी वर्गों को पर्याप्त रूप से सुलभ हों, जिनमें से लोक सेवा के लिए अच्छे उम्मीदवार प्रतियोगिता में शामिल हो सकते हैं। अन्यथा निश्चित है कि

खुली प्रतियोगिता की प्रणाली के बावजूद बहुत सारे वर्ग इसकी परिधि से बाहर रह जाएंगे। जाहिर है कि भारत में यह बुनियादी परिस्थिति है ही नहीं। अत: पिछड़े वर्गों से यह कहना कि वे लोक सेवाओं में प्रवेश के साधन के रूप में प्रतियोगी परीक्षाओं के परिणामों पर भरोसा करें, उनके साथ छल करना है और यह नितांत उचित है कि पिछड़े वर्गों ने छले जाने से इंकार कर दिया है।

130. यदि हम यह मानकर चलें कि पिछड़े वर्ग खुली प्रतियोगिता के सहारे लोक सेवाओं में प्रवेश नहीं कर सकते तो विचार के लिए पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या पिछड़े वर्गों को किसी रियायत की जरूरत है। जब तक वे अपने पक्ष का भलीभांति प्रतिपादन नहीं करते, तब तक वे भरती के मान्य सिद्धान्तों में विशुद्ध दक्षता के अलावा अन्य किसी आधार पर संशोधन की आशा नहीं कर सकते। इस महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे में मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि पिछड़े वर्गों के दावे में दम है।

131. सबसे पहली बात तो यह है कि जो लोग लोक सेवाओं में भरती के लिए सिर्फ दक्षता पर बल देते हैं, उन्हें इस बारे में पर्याप्त ज्ञान नहीं दीख पड़ता कि आधुनिक काल में प्रशासन का क्षेत्र क्या है ?उन्हें तो बस यही लगता है कि प्रशासन तो विधायिका द्वारा बनाए गए कानून को लागू करने की प्रक्रिया भर है। इसमें संदेह नहीं कि वह प्रशासन-क्षेत्र और महत्व के बारे में अति अधूरी अवधारणा है। आधुनिक काल में प्रशासन का उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि राज्य के विनियमों की जानकारी के लिए कानूनों की छानबीन की जाए, बल्कि उससे कहीं अधिक व्यापक है। अक्सर समय के तकाजे पर यह सुविधा के लिए किसी सरकारी विभाग को आजकल नियम-रचना के व्यापक अधिकार सौंपे जाते हैं, ताकि वह किसी खास कानून का पालन करा सके। ऐसी स्थितियों में यह स्पष्ट है कि प्रशासन का अर्थ केवल कानून लागू करना ही नहीं है। उसका काम ऐसे नियम बनाना भी है, जिन्हें कानून की शक्ति प्राप्त हो। वह उनका पालन भी कराता है। प्रत्यायोजन द्वारा विधायन की यह प्रणाली सभी आधुनिक सरकारों की अति सामान्य प्रथा बन गई है और आशा है कि आने वाले वर्षों में वह और पनपेगी। इसे निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि जनता के विशाल वर्गों के कल्याण से संबधित नियम-निर्माण के ऐसे व्यापक अधिकार निरापद रूप से ऐसे प्रशासकों के हाथों में नहीं सौंपे जा सकते, जो किसी वर्ग विशेष के हैं। वस्तुत: इस वर्ग के उद्देश्य और हित शेष जनवर्ग से भिन्न हैं। यह वर्ग विशेष अन्य वर्गों में व्याप्त चेतन शक्तियों से हमदर्दी नहीं रखता, उनकी जरूरतों, दुखदर्द और इच्छाओं को नहीं समझता, उनकी आकांक्षाओं के प्रति वैर-भाव रखता है। उसका सीधा सा कारण है कि उसे शिक्षा की कसौटी के आधार पर श्रेष्ठ ठहराया जाता है।

132. लेकिन यदि यह मान भी लें कि प्रशासन केवल विधायिका द्वारा बनाए गए कानून को लागू करने की प्रक्रिया भर है, फिर भी इससे पिछड़ी जातियों का पक्ष तनिक भी निर्बल

नहीं होता। क्योंकि जो अधिकारी एक जाति विशेष से आते हैं और जिन्हें लोक-कर्तव्य के प्रति निष्ठा से जातीय प्रतिष्ठा अधिक प्यारी होती है, वे अपनी जाति के हित-संवर्धन के लिए अपने पदों का सहज ही दुरूपयोग कर सकते हैं। वे आम जनता का हित नहीं देखते। मामलातदार के सामान्य उदाहरण को ही लें, जो काश्तकारी के लिए सरकारी जमीनों को पट्टे पर देने के कानून को लागू करता है। इसमे संदेह नहीं कि वह केवल कानून को लागू करता है, परन्तु उसे लागू करते समय वह अपनी रुचि के अनुसार पट्टेदारों का चयन कर सकता है और इस बात की बहुत अधिक संभावना है कि वह पट्टेदारों के विरुद्ध ऐसे आधारों पर निर्णय कर ले, जो वास्तव में तो सांप्रदायिक हों पर देखने में असांप्रदायिक हों। जनगणना के प्रभारी अधिकारी के एक अन्य उदाहरण को लें। वह विभिन्न जातियों की नामावली और उनकी सामाजिक स्थिति के प्रश्नों का निर्णय करता है। इस विभाग का प्रभारी अधिकारी एक जाति विशेष का होने के कारण अपने प्रशासन के दौरान प्रतियोगी जाति के साथ अन्याय कर सकता है और संभवत: वह उसे उचित नाम व दर्जा न दे। मुख्यत: नस्ल व जाति के आधार पर पक्षपात आम बात है, भले ही बहाने के रूप में कोई अन्य सत्य आभासी आधार खोज लिया जाता है। लेकिन मैं मद्रास प्रेसिडेंसी के विश्वकर्माओं का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूंगा । उन्होंने 1924 में सुधार जांच समिति को एक पत्र लिखा था। उसमें उसका वर्णन है। उसमें शिकायत की गई थी, ''मद्रास कार्यकारी परिषद के एक ब्राह्मण सदस्य तब श्री पी. शिवास्वामी अय्यर ने जब वह विधि विभाग के प्रभारी थे, एक सरकारी आदेश जारी किया, जिसमें विश्वकर्माओं के नाम के साथ आचार्य जोड़ने पर एतराज किया गया, जबकि आमतौर से विश्वकर्मा नाम के साथ आचार्य लिखते हैं और इसके स्थान पर 'आस्त्री' लगाने का आदेश दिया, जिसका मतलब है सरेआम घृणास्पद संबोधन। यद्यपि विधि-सदस्य के इस आदेश को उचित ठहराने की न तो आवश्यकता थी और न ही प्राधिकार था, फिर भी विधि विभाग ने सरकारी आदेश प्रकाशित करा दिया जैसे कि वह वर्तनी अशुद्धि समिति की सिफारिश हो। दुर्भाग्य की बात है कि समिति के अधिकांश गैर-सरकारी सदस्य ब्राह्मण जाति के थे। उन्होंने अपनी साथी जातियों का सम्मान करना तो कभी सीखा ही नहीं था। न ही कभी उन्होंने हमें निर्णय के आधार से सूचित किया। यह तो अंधेरे में छुरा भौंकना हुआ।

133. यह अवश्यंभावी है। निश्चय ही जाति राज का अर्थ है, जाति-हित और जाति-विद्वेष के आधार पर राज करना। यदि ऐसे ही परिणाम निकलेंगे, तो हर ईमानदार व्यक्ति के मन में यह सवाल उठेगा कि क्या दक्ष प्रशासन ने हमें उत्तम प्रशासन भी प्रदान किया है, यदि नहीं तो उपाय क्या है ? मेरा विचार है कि ब्राह्मण तथा संबद्ध जातियों के अधिकारियों के वर्ग-पक्षपात से उपजे अलाभों का पलड़ा उनकी दक्षता से उपजे समूचे लाभों के पलड़े से भारी है। कुल मिलाकर उन्होंने लाभ से ज्यादा हानि पहुंचाई है। इसके बारे में मेरे विचार

से एक उपाय यह है कि लोक सेवा में विभिन्न जातियों के लोगों का समुचित सम्मिश्रण हो। इससे हो सकता है कि थोड़ी बहुत अदक्षता आए। परन्तु इससे वर्ग पक्षपात का दोष दूर करने का अति उपयोगी उपाय मिल जाएगा। देश में इस समय जो सामाजिक संघर्ष चल रहे हैं, उनके संदर्भ में यह और भी आवश्यक है। ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों, हिन्दुओं और मुसलमानों तथा स्पृश्यों, अस्पृश्यों के बीच सभी असमानताएं मिटाने और समानता लाने के जो कटुता संघर्षपूर्ण चल रहे हैं उससे न तो जज अछूते रहेंगे और न ही मजिस्ट्रेट, सिविल सेवक और न पुलिस अधिकारी। संघर्षरत जातियों के लोग होने के कारण उनमें पक्षपात आना अनिवार्य है। नतीजा यह होगा कि अपने सेवकों के प्रति जनता के विश्वास को गहरा आघात लग सकता है।

134. अभी तक मैंने पिछड़ी जातियों के मामले पर प्रशासनिक उपयोगिता के आधार पर विचार किया है। परन्तु ऐसे नैतिक आधार भी हैं जिनके कारण लोक सेवा में उनका प्रवेश कराया जाए। किसी व्यक्ति को लोक सेवा से अलग रखने के नैतिक दोष को जितने प्रभावशाली ढंग से स्वर्गीय श्री गोखले ने उठाया है, उतना किसी और ने नहीं। एक जोरदार भाषण में उन्होंने कहा: "लेकिन विदेशी एजेंसी का एकमात्र दोष यह नहीं है कि वह अति मंहगी है। एक प्रकार का नैतिक दोष उससे भी बड़ा है। वर्तमान प्रणाली के अधीन 'भारतीय' जाति को बौना और नगण्य बनाने का एक अभियान चलाया जा रहा है। हमें रोजाना हीनता के वातावरण में रहना पड़ता है और हममें से जो सबसे ऊंचे हैं, उन्हें भी इतना झुकना पड़ता है कि मौजूदा प्रणाली का पेट भरता रहे। ऊपर उठने की भावना, यदि मैं इस अभिव्यक्ति का प्रयोग कर सकूं, जिसे ईटन अथवा हैरो का हर छात्र अनुभव कर सकता है कि किसी दिन वह ग्लैडस्टोन, नेल्सन अथवा वैलिंगटन बन सकता है और जिससे वह अपनी क्षमता के अनुसार सर्वोत्तम प्रयास की प्रेरणा ले सकता है, उससे हम वंचित रह जाते हैं। मौजूदा प्रणाली के अधीन हमारे व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कभी हो ही नहीं सकता। नैतिक उत्थान की जिस भावना का हर स्वाधीन जाति अनुभव करती है, उसे हम अनुभव नहीं कर सकते। केवल उपयोग में न आने के कारण हमारी प्रशासनिक तथा सैन्य प्रतिभा धीरे-धीरे लुप्त होती ही चली जाएगी। अंततः एक दिन ऐसा आएगा जब हम केवल लकड़हारे और कहार भर रह जाएंगे।" जो लोग लोक सेवा में प्रवेश के लिए पिछड़े वर्गों के पक्ष के औचित्य को अस्वीकार करते हैं, उनसे यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या पिछड़े वर्ग ब्राह्मणों तथा सम्बद्ध जातियों पर वैसा ही आरोप नहीं लगा सकते जैसा कि स्वर्गीय श्री गोखले ने भारतीयों की ओर से विदेशी एजेंसी पर लगाया था ? क्या दलित वर्ग, गैर-ब्राह्मण और मुसलमान यह नहीं कह सकते कि लोक सेवा से उन्हें अलग रख कर उनके समुदायों को बौना और नगण्य बनाया जा रहा है? क्या वे यह शिकायत नहीं कर सकते कि बहिष्कार के कारण उन्हें रोजाना हीनता के वातावरण में रहना पड़ता है और उनमें से सबसे ऊंचे को

भी इतना झुकना पड़ता है कि वे मौजूदा प्रणाली का पेट भरते रहें। क्या वे छाती ठोक कर नहीं कह सकते कि ऊपर उठने की जिन भावनाओं को ब्राह्मण जाति का हर स्कूली छात्र अनुभव करता है कि एक दिन वह सिन्हा, शास्त्री, रानाडे अथवा परांजपे बन सकता है और जिनसे वह अपनी क्षमता के अनुसार सर्वोत्तम प्रयास की प्रेरणा ग्रहण कर सकता है, उनसे उन्हें वंचित किया गया है। क्या वे क्षोभ से यह नहीं कह सकते कि मौजूदा प्रणाली के अधीन उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कभी हो ही नहीं सकता। क्या वे यह रोना नहीं रो सकते कि नैतिक उत्थान की जिस भावना को हर स्वशासी जाति अनुभव करती है, उसे वे अनुभव नहीं कर सकते? क्या वे नहीं कह सकते कि केवल निराशा और कुंठा के कारण उनकी प्रशासन-प्रतिभा धीरे-धीरे समाप्त होती ही चली जाएगी और अंततः वे अपने ही देश में लकड़हारे और कहार बन कर ही रह जाएंगे ? इन सवालों का केवल एक ही जवाब है। हां, वे ऐसा कह सकते हैं। उन्नत जातियों को देश की लोक सेवा में प्रवेश से वंचित रखना नैतिक दोष है, तो पिछड़ी जातियों को उसी क्षेत्र से वंचित रखना भी तो नैतिक दोष ही होगा। यदि वह नैतिक दोष है, तो उसे दूर भी किया ही जाना चाहिए।

135. यही कारण है कि मुझे पिछड़ी जातियों का पक्ष लेना पड़ा। यह ध्यान रखने की बात है कि ये भी वैसे ही कारण हैं, जैसे कि भारतीयकरण के पक्ष में बताए गए हैं। यह भी याद रखना होगा कि भारतीयकरण का पक्ष भी दक्षता पर आधारित नहीं है। वह उस प्रशासन की बैसाखी पर टिका है। इस बात को चुनौती नहीं दी गई है कि दक्ष प्रशासक के लिए, जो गुण जरूरी हैं, उनकी दृष्टि से भारतीय यूरोपीय से घटिया है। इस बात से इंकार नहीं किया गया कि यूरोपीय नौकरशाहों ने हमारी सड़कें सुधारीं, अधिक वैज्ञानिक सिद्धांतों पर हमारी नहरें बनाईं, रेल यातायात शुरू किया, अति सस्ती डाक-व्यवस्था को जन्म दिया, विद्युतगति से संदेश भेजे जाने लगे, मुद्रा में सुधार किया, माप-तौल को विनियमित किया, भूगोल, नक्षत्र विज्ञान और आयुर्विज्ञान संबंधी धारणाएं बदलीं और हमारे आंतरिक झगडों को रोका। इस तथ्य का इससे बड़ा और कोई प्रमाण नहीं हो सकता कि यूरोपीय नौकरशाही यथासंभव सर्वाधिक दक्ष प्रशासन प्रणाली है। हालांकि यूरोपीय नौकरशाही दक्ष थी, उसकी फिर भी निंदा की गई, क्योंकि उसमें वे गुण नहीं थे, जो मानवीय प्रशासन में होने चाहिएं। अतः यह कुछ आश्चर्य की ही बात है कि जो भारतीयकरण की दुहाई देते थे, वे ही उसकी धारा पिछड़ी जातियों की ओर मोड़ने का विरोध करते हैं। वे भूल जाते हैं कि भारतीयकरण के पक्ष में पिछड़े वर्गों का पक्ष भी शामिल है। जो भी हो, जितना महत्व मैं प्रांत की स्वायत्तता या प्रांतीय कार्यपालिका के लिए पूर्ण दायित्व को देता हूं, उससे कहीं अधिक महत्व मैं इस बात को देता हूं। मैं इतने विशाल अधिकारों को सौंपे जाने के पक्ष में नहीं हूं, यदि मैं यह अनुभव करता हूं कि ये अधिकार एक खास वग्र को सौंपे जा रहे हैं और दूसरे वर्ण को इनसे दूर रखा जा रहा है। इस दृष्टि से मेरा सुझाव है कि मेरी सिफारिशों पर अपल के लिए निम्न कदम उठाए जाएं:

(1) प्रथम श्रेणी, दूसरी श्रेणी की उच्च सेवाओं में और अधीनस्थ सेवाओं में भी कतिपय रिक्त स्थान परीक्षा उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र देखकर मनोनयन प्रणाली से भरे जाएं। ये मनोनीत पद एक चयन समिति की सिफारिश पर भरे जाएं। इसमें उम्मीदवार की योग्यता की परख के लिए सक्षम व्यक्ति होंगे और वे पूर्वोक्त सिविल सेवा अधिकारी के साथ मिलकर काम करेंगे। ऐसा मनोनयन दलित वर्ग, मुसलमानों तथा गैर-ब्राह्मणों के लिए यहां उल्लिखित पूर्वताक्रम से तब तक आरक्षित रहेगा,जब तक सेवा में उनकी संख्या एक निश्चित अनुपात तक नहीं पहुंच जाती।

(2) इस बारे में कदम उठाए जाएं कि मुख्यालय में इन समुदायों के अधिकारी और अधिक संख्या में नियुक्त किए जाएं।

(3) एक केन्द्रीय भरती बोर्ड का गठन किया जाए। वह केन्द्रीय एजेंसी के रूप में कार्य करे। वह नियुक्तियों और रिक्तियों के लिए सभी अर्जियों को रजिस्टर में दर्ज करे और आवेदनकर्ताओं को उन कार्यालयों के संपर्क में रखे जहां समय-समय पर रिक्तियां हैं या हों। यह जरूरी है कि नौकरी और उम्मीदवार के बीच संपर्क बना रहे, यदि इस इच्छा को पूरा करना है। ऐसा बोर्ड नहीं है। इसी कारण बंबई सरकार के प्रयासों को इस संबंध में वह सफलता नहीं मिल सकी, जिसकी आशा उससे की जाती थी।

परिच्छेद VI

सिफारिशों का सारांश

भाग 1

कर्नाटक और सिंध को बंबई प्रेसिडेंसी से अलग न किया जाए।

भाग 2

अध्याय 1– प्रांतीय कार्यपालिका को इस परन्तुक के अधीन पूर्ण दायित्व दिया जाए कि यदि विधायिका के सदस्य इसे आरक्षित विषय बनाने का संकल्प करें, तो उनके संकल्प को कार्यरूप दिया ही जाएगा।

अध्याय 2– किसी भी दशा में कार्यपालिका को अपरिहार्य नहीं बनाया जाना चाहिए। कार्यपालिका में कोई सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिए। मंत्रियों को अवैध कार्यों के लिए अदालत के प्रति जवाबदेह होना चाहिए। संविधान में मंत्रियों पर महाभियोग चलाने की व्यवस्था होनी चाहिए। कार्यपालिका का संयुक्त दायित्व होना चाहिए। कार्यपालिका की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करे, गवर्नर नहीं।

अध्याय 3– गवर्नर की हैसियत संवैधानिक अध्यक्ष की होनी चाहिए। उसके पास आपात अधिकार नहीं होने चाहिए।

भाग 3

अध्याय 1– मताधिकार वयस्कता के आधार पर होना चाहिए।

अध्याय 2– पूरी विधायिका निर्वाचित होनी चाहिए। यूरोपीयों को छोड़कर शेष सबके लिए वर्गीय या सांप्रदायिक निर्वचक–मंडल समाप्त किए जाने चाहिए। यदि मताधिकार का आधार सीमित बना रहे, तो केवल मुसलमानों, दलितों, आंग्ल–भारतीयों और गैर–ब्राह्मणों के लिए स्थान आरक्षित किए जाने चाहिए।

अध्याय 3- विधायिका में 140 सदस्य होने चाहिए। इनमें से 33 मुसलमानों के और 15 दलित वर्गों के होने चाहिए। कुछ जिलों का कम और कुछ अन्य जिलों का अधिक प्रतिनिधित्व जनसंख्या-अनुपात से ठीक किया जाना चाहिए। विभिन्न वर्गों और हितों के बीच स्थानों के समायोजन के लिए एक समिति होनी चाहिए। उम्मीदवार के लिए आवास की शर्त हटाई जानी चाहिए।

अध्याय 4- लखनऊ समझौता स्थायी करार नहीं है और वह इससे उत्पन्न होने वाले मामलों पर नए सिरे से उसके गुण-अवगुण के आधार पर विचार करने पर प्रतिबंध नहीं लगा सकता।

अध्याय 5- प्रांतों में कोई दूसरा सदन नहीं होना चाहिए।

अध्याय 6- विधायिका को अधिकार होना चाहिए कि वह अपने अध्यक्ष की नियुक्ति कर सके और उसको पदच्युत कर सके। उसे अपने विशेषाधिकारों और अपने प्रक्रिया-विनियमन को परिभाषित करने का अधिकार होना चाहिए। भारत सरकार अधिनियम की धारा 72 घ और धारा 80 ग कानून-पुस्तिका से हटा दी जानी चाहिए। विधायिका को 'अविश्वास प्रस्ताव' प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिए। कुछ शर्तों के अधीन रहते हुए विधायिका को संविधान में संशोधन करने का अधिकार होना चाहिए।

भाग 4

अध्याय 1- पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता होनी चाहिए। केन्द्र और प्रांतों के कार्य-विभाजन पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए, जिससे कि पूर्व-स्वीकृति और पश्चातवर्ती वीटो के अधिकार के माध्यम से इस समय भारत सरकार का, जो नियंत्रण चल रहा है, उसे समाप्त किया जा सके।

अध्याय 2- प्रांतीय सरकार को सौंपे गए कृत्यों द्वारा नियत सीमाओं के भीतर उस सरकार और ब्रिटिश सरकार के बीच सीधे संबंध होने चाहिए, केन्द्रीय सरकार के माध्यम से नहीं। भारत सरकार अधिनियम की धारा 2 को हटा दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह भारत के प्रशासन के बारे में सम्राट की स्थिति को ग्रस लेती है।

भाग 5

एक अलग प्रांतीय सिविल सेवा होनी चाहिए और भारत मंत्री को भरती संबंधी एजेंसी के कार्य का निर्वाह पूर्णतः छोड़ देना चाहिए। सेवा संबंधी उसके कृत्यों का निर्वाह कोई प्रांतीय सिविल सेवा आयोग या भारतीय लोक सेवा आयोग के साथ मिल कर काम करने वाला कोई अधिकारी कर सकता है। सेवाओं का भारतीयकरण अधिक तीव्रता से किया जाना

चाहिए। राज्य के विभिन्न विभागों की प्रकृति के अनुसार इसकी गति में परिवर्तन होना चाहिए। भारतीयकरण को वेतन तथा भत्तों के एक भिन्न मानक के साथ जोड़ा जाना चाहिए। सेवाओं के भारतीयकरण के दौरान ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पिछड़े वर्गों की मांगों को पूरा किया जाए।

17 मई 1929 डा० भीमराव अम्बेडकर

परिशिष्ट

(देखिए पृष्ठ 44 का पाद-टिप्पण)

वर्ष 1850-51 के लिए बंबई प्रेसिडेंसी के शिक्षा बोर्ड की रिपोर्ट के अंश

कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के मतानुसार बोर्ड द्वारा निर्धारित प्रणाली

पैरा 5. इस प्रकार इस प्रेसिडेंसी के शिक्षा बोर्ड ने शिक्षा योजना निर्धारित की, जो माननीय कोर्ट से प्राप्त डिस्पैचों की प्रमुख निषेधाज्ञाओं के अनुरूप है। उसका गौण आधार है, उन लोगों की राय, जो भारत में शिक्षा प्रणाली के विकास पर मनोयोग से विचार करते रहे हैं, यथा आक्लैंड के अर्ल मेजर केंडी तथा अन्य। उसका प्रमुख आधार है स्वयं अति बुद्धिमान स्वदेशी लोगों द्वारा खुलेआम घोषित आवश्यकताएं। हम दोहराते हैं कि परिषद में मान्यवर न्यायमूर्ति के पूर्ववर्ती ने बोर्ड को सूचित किया था कि यह प्रक्रिया बदली ही जाए।

उच्च वर्गों को शिक्षित करने के औचित्य पर कोर्ट के विचार

पैरा 8-यदि हमें कहने की अनुमति दी जाए, तो हमें माननीय कोर्ट के उतने ही सुझबूझ वाले संकेत इस बारे में दीख पड़ते हैं कि वे कौन से क्षेत्र हैं, जिनकी ओर सरकारी शिक्षा की धारा को मोड़ा जाए? खास तौर पर उस दशा में जब व्यय की इस शाखा के लिए अति सीमित राशि उपलब्ध है। माननीय कोर्ट ने 1830 में मद्रास को इस प्रकार लिखा है, "लेकिन शिक्षा में सुधार से लोगों का मनोबल और आध्यात्मिक स्तर उठाने के सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय वे हैं, जिनका संबंध उच्च वर्ग के व्यक्तियों की शिक्षा से होता है। इन लोगों के पास समय होता है और अपने देशवासियों के मन पर उनका सहज प्रभाव होता है। इन वर्गों का शिक्षा-स्तर अंततः उठाकर आप समाज के विचारों और उसकी भावनाओं में कहीं महान और अधिक लाभदायक परिवर्तन ला सकेंगे, अपेक्षाकृत उसके जिसे आप अधिक संख्या वाले वर्ग पर सीधा प्रभाव डालकर लाने की आशा कर सकते हैं। इसके अलावा आप हमारी इस आतुरता से परिचित हैं कि हम चाहते हैं कि हमारे पास सुरुचिपूर्ण स्वभाव और योग्यता से सम्पन्न मूल निवासियों का ऐसा समूह हो, जो अपने देश के सिविल प्रशासन में और अधिक हिस्सा ले सकें तथा उसमें उच्च पद पा सकें। अभी तक हमारी भारत सरकार की यह परिपाटी नहीं रही है।" फिर भी हम अन्य अनेक पक्षों से सुनते हैं, हम उन लोगों से भी सुनते हैं, जिन्हें यह बात और अच्छी तरह जाननी चाहिए कि जन-वर्ग को शिक्षित करने के लिए भारत के 14 करोड़ लोगों में

(क्योंकि संख्या का कोई महत्व नहीं होता) यूरोप की कला और विज्ञान का रस घोलने के लिए कितनी आवश्यकता है और कितनी सुविधा प्राप्त है। हम वैसी ही अन्य सामान्य बातें सुनते हैं, जो इस विषय में भ्रामक धारणाओं से परिपूर्ण हैं। एक दर्शक भी शायद यह सोचने के लिए लालायित हो सकता है कि शिक्षा-बोर्डों के हाथ में तो राज्य के समूचे संसाधन हैं, कैसा भ्रमहै स्थिति यह है कि उनके पास तो दाल में नमक के बराबर अति अल्प अंश है। वह तो इंग्लैंड के एक अकेले प्रतिष्ठान के लिए नियत राशि से भी कम है।

* * * *

निष्कर्ष कि जन-शिक्षा का कोई साधन है ही नहीं

पैरा 14- इन तथ्यों से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि यदि 175 वर्नाकुलर स्कूलों को संगठन की समुचित दशा में रखने और 10,730 बच्चों की ठोस प्राथमिक शिक्षा देने के लिए पर्याप्त धन नहीं है, तो देश के 'जन-जन' को, 14 करोड़ लोगों को, बंबई प्रेसिडेंसी के 900,000 बच्चों को शिक्षित करने का समूचा प्रश्न ही निरर्थक हो जाएगा। उद्देश्य ऐसा नहीं है, जिसे सरकार पूरा या लगभग पूरा कर ले। शिक्षा बोर्डों को अनसुनी उदारता की काल्पनिक अटकलों में फंसकर सीमित व्यावहारिक कर्मक्षेत्र से विचलित नहीं होना चाहिए।

सीमित साधनों से संचालन की श्रेष्ठ प्रणाली के बारे में निदेशकों के कोर्ट के विचार

पैरा 15- लगता है, माननीय कोर्ट ने सदा ही उस निष्कर्ष को ध्यान में रखा है, जो पिछले पैरा में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि लोगों में सुधार के लिए उनके शैक्षिक प्रयास केवल बहुत छोटे पैमाने पर ही किए जा सकते हैं, उन्होंने यह जरूरी समझा है कि वे अपनी विभिन्न सरकारों को बताएं कि सीमित साधनों से महानतम सफलताएं वास्तव में कैसे प्राप्त की जा सकती हैं। हम इस विषय में मद्रास सरकार को भेजी गई उनकी निषेधाज्ञाओं को उद्धृत कर चुके हैं (पैरा 7) और उसी तिथि को उस सरकार को भेजे गए डिस्पैच में उसी आशय की भावना व्यक्त की गई है: "हमारी यह उत्कट इच्छा है कि हम भारत के मूल निवासियों के उच्च वर्ग को ऐसे साधन उपलब्ध कराएं कि यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा मिल सके और सभ्य यूरोप के साहित्य तक उनकी पहुंच हो सके। अवकाश के क्षणों तथा सहज प्रभाव से लैस वर्गों को जो स्वरूप प्रदान किया जा सके, वही अंतत: समूचे जन-वर्ग का स्वरूप निर्धारित करेगा।"

कौन हैं भारत के उच्च वर्ग ?

पैरा 16- जब यह बताया जा रहा है कि भारत में आबादी के केवल छोटे से भाग को सरकारी शिक्षा की परिधि में लाया जा सकता है और जब माननीय कोर्ट ने वस्तुत: तय कर लिया है कि यह भाग 'उच्च वर्ग' का होना चाहिए, तो यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि उच्च वर्ग में कौन-कौन शामिल हैं। इसलिए यूरोपीय जिज्ञासु के लिए यह नितांत जरूरी

है कि वह यूरोप की सादृश्यताओं से अपने मन को मुक्त कर ले,जो अक्सर स्वयं को अनजाने में चुपके-चुपके आंग्ल-भारतीय अटकलों की ओर ले जाती हैं। यूरोप की, विशेषत: इंग्लैंड की, परिस्थितियों ने शिष्टाचार, धन, राजनीतिक व सामाजिक प्रभाव के सुस्पष्ट आधार पर उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच एक लक्ष्मण रेखा खींच दी है। भारत में ऐसी कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है। यहां सभी निरंकुश शासकों की भांति राजा की इच्छा सर्वोपरि थी, वह चाहे तो रंक को राजा बना सकता था, पर ऐसी कोई रेखा न होने के कारण यहां आचरण में सदैव भारी समानता रही है। अंग्रेजी धारणा के अनुसार भिखारी केवल पशु वार्डों में रहने के लिए या मुहताज खानों में बेगार करने के लिए उपयुक्त हैं, भारत में उसका सम्मान होता है और ब्राह्मणीय (वैदिक) विचारधारा के अनुसार आदरणीय है। उसके अनुसार वह एक ऐसा उच्च प्राणी है,जिसने ज्ञान प्राप्ति और देवता की अखंड आराधना के लिए जीवन के सभी प्रकार के भोग तथा मोह को त्याग दिया है।

भारत के उच्च वर्ग

पैरा 17- जो वर्ग अब भी भारत के प्रभावशाली और उच्च वर्ग समझे जाते हैं, उनकी श्रेणियां इस प्रकार हैं:

प्रथम- जमींदार और जागीरदार, भूतपूर्व सामंतों के प्रतिनिधि और देशी शक्तियों के उच्च प्राधिकारी और वे जिन्हें क्षत्री वर्ग कहा जाता है।

द्वितीय- व्यापार या वाणिज्य से धन अर्जित करने वाले अथवा वैश्य-वर्ग।

तृतीय- सरकार के उच्च कर्मचारी।

चतुर्थ- ब्राह्मण, उनके साथ भले ही लम्बे अंतराल के बाद रहे हों, उच्च जातियों के उन कातिबों या मुंशियों को जोड़ा जा सकता है,जो कलम का खाते हैं, यथा बंबई के प्रभु और सैनवी, बंगाल के कायस्थ बशर्ते कि शिक्षा या पद की दृष्टि से उनका रुतबा हो।

ब्राह्मण सबसे अधिक प्रभावशाली

पैरा 18- इन चार वर्गों में अतुलनीय दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली, सर्वाधिक संख्या में और कुल मिलाकर जो सबसे आसानी से सरकार द्वारा काम में लाया जा सकता है, वह है ब्राह्मण वर्ग। पूरे भारत में यह बात सर्वविदित है कि पुराने जागीरदार या क्षत्री वर्ग हमारे राज में बराबर पतनोन्मुख हैं। उनका पुराना व्यवसाय समाप्त हो गया है और उन्होंने नया व्यवसाय अपनाने में कोई रुचि या क्षमता नहीं दिखाई और शांति का पाठ नहीं पढ़ा। प्रेसिडेंसी में भूस्वामियों के इस अभिजात वर्ग को संबल देने के श्री एलफिंस्टोन और उनके उत्तराधिकारियों के प्रयत्न बुरी तरह विफल हुए। इस जाति के लिए नागरिक सम्मान तथा शिक्षा द्वारा उन्नति के द्वार खोलने के सभी प्रयासों पर भी पानी फिर गया। इस जाति को और कुछ भी नहीं सुहाता। वह तो झूठी शान-शौकत और फिजूलखर्ची में मस्त रहती है। वह तो हिन्दुस्तान के मैदानी इलाकों में अपने पूर्वजों की विजय-गाथा की यादों में खोई रहती हैं। ना ही कुछ अपवादों को

छोड़कर वैश्य वर्ग में उच्च शिक्षा के प्रभाव के लिए बहुत बड़ा मार्ग खुल सका है। यों तो सभी देशों में होता है, पर भारत में अधिक से अधिक सभ्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा व्यापारियों के नौजवान जल्दी ही शिक्षा समाप्त कर देते हैं, ताकि वे अपने व्यवसाय के अनुसार या बाजार का विशेष अनुभव प्राप्त कर सकें। अंतिम वर्ग राज्य के कर्मचारियों का है। सरकार के संपर्क में आने वाले बहुत से लोगों पर उनका भारी प्रभाव होता है, लेकिन उनसे भी कहीं अधिक संख्या वाले उन लोगों पर उनका कोई प्रभाव नही है, जो सरकारी सेवा में नहीं हैं और जनता में उनकी साख वैसी ही है, जैसी कि इंग्लैंड के सरकारी कर्मचारियों की है, जिनके बारे में बड़े भद्दे ढंग से कहा जाता है कि वे तो सरकार के भाड़े के टट्टू हैं।

ब्राह्मणों की विपन्नता

पैरा 19- उपरोक्त विश्लेषण यद्यपि लम्बी दीख पड़ती है परन्तु फिर भी वह कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों के लिए अपरिहार्य है। पहला तो यह है कि उससे पता चलता है कि शिक्षा के प्रचार के लिए जिस वर्ग का उपयोग प्रभावशाली वर्ग के रूप में सरकार कर सकती है वह है ब्राह्मण और लगभग उनकी जैसी उच्च जातियां। लेकिन ब्राह्मण तथा ये उच्च जातियां अधिकांशत: अति दरिद्र हैं। भारत के अनेक भागों में तो ब्राह्मण 'भिखारी' का पर्याय बन गया है।

धनी वर्ग फिलहाल उच्च शिक्षा का समर्थन नहीं करेगा

पैरा 20- अत: हम देख सकते हैं कि 24 अप्रैल 1850 के अपने पत्र में माननीय न्यायमूर्ति की परिषद ने, जो कठोर आदेश दिया था, उसे लागू करना कितना निराशाजनक है। सरसरी तौर पर, वह स्वयं में कितना सत्य भाषी और समुचित दीख पड़ता है। वस्तुत: उसका स्वयं बोर्ड ने बहुधा प्रयास किया है अर्थात उच्च शिक्षा को कठोरता से उस धनी वर्ग तक सीमित रखा जाए, जो उसका खर्च उठा सकता है और असाधारण बुद्धिमत्ता वाले नौजवानों तक भी। जब भी बोर्ड ने इस प्रकार के दृष्टिकोण को लागू करने का प्रयास किया है, तो सदैव उसका उत्तर यही मिला है कि धनीवर्ग उच्च शिक्षा के प्रति पूर्णत: उदासीन रहा है और गरीबों में से असाधारण बुद्धिमत्ता को खोजने का कोई मार्ग तभी निकल सकता है, जब स्कूली शिक्षा द्वारा उनके गुणों को परखा जाए और उनका विकास किया जाए। इसमें संदेह नहीं कि धनी वर्गों का एक अल्पांश अपनी रुचि दिखा रहा है और उसने उच्च शिक्षा के लाभों को स्वीकार किया है। वह वर्ग अधिकतर बंगाल में दीख पड़ता है, जहां सरकार ने अधिक लम्बे अर्से से शिक्षा का प्रसार किया है। बंबई में वह उतना नहीं दीख पड़ता। हमारे विचार में यह अनिवार्य है कि इस अनुभूति के साथ-साथ ऐसे वर्ग की संख्या बढ़ेगी ही, जो उच्च उपलब्धियां विशिष्टता प्रदान करती हैं। उनके कारण सामाजिक समता के आधार पर यूरोपीयों से निकट संपर्क स्थापित होता है। लेकिन फिलहाल सामान्य प्रस्थापना के रूप में हम संतुष्ट हैं कि यूरोप की कला और विज्ञान संबंधी अकादमीय शिक्षा को भारत के

प्रति सम्पन्न वर्गों के छात्रों अथवा पैसे पर आधारित नहीं किया जा सकता।

निम्न जातियों की शिक्षा के बारे में प्रश्न

पैरा 21- वर्षों के अनुभव के आधार पर हमने इन तथ्यों से यह व्यावहारिक निष्कर्ष निकाला है कि उच्च जातियों के जो निर्धन बच्चे हमसे शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए एक अति चौड़ा द्वार खोला जाना चाहिए। लेकिन पुनः यहां भी एक और दिमाग चाटने वाला प्रश्न उठता है और उसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि गरीबों के बच्चों को बेरोकटोक सरकारी संस्थाओं में प्रवेश दिया जाता है, तो वह कौन-सी बाधा है, जो ढेड़, महार आदि जैसी सभी हेय जातियों को इन संस्थाओं की चारदीवारी के भीतर भारी संख्या में आने से रोक सकती है?

हिन्दुओं के सामाजिक पूर्वाग्रह

पैरा 22- इसमें संदेह नहीं कि यदि इन दलितों का बंबई में कोई वर्ग बनाया जाए, तो बोर्ड की सेवा में रत प्रोफेसरों तथा मास्टरों के मार्गदर्शन में उन्हें समाज में किसी से भी बेहतर बुद्धिमत्ता वाले व्यक्तियों में परिणत किया जा सकता है। तब वे जो योग्यता प्राप्त करेंगे, उसके बल पर वे देशज प्रतिभा के लिए खुले सर्वोच्च पदों तक पहुंच सकेंगे और कोई बाधा उनकी इस इच्छा को दबा नहीं सकेगी। वे जज बन सकेंगे। ग्रांड जूरी और साम्राज्ञी के शांति-कमीशन के सदस्य बन सकेंगे। अनेक उदार लोगों का विचार है कि ब्रिटिश सरकार के भीतर यह तो अनुदारता और निर्बलता की पराकाष्ठा है कि वह इन पूर्वाग्रहों के आगे झुक जाए कि ऐसी नियुक्तियां तो हिन्दू समाज के भीतर कुंठा पैदा करेंगी। अतः जाति के बंधनों पर खुला प्रहार किया जाना चाहिए।

माउट स्टुअर्ट एलफिंस्टन के विवेकपूर्ण विचारों का उद्धरण

पैरा 23- लेकिन प्रस्तुत हैं भारत के प्रति उदारमना तथा विशाल हृदय प्रशासक श्री एलफिंस्टन के विवेकपूर्ण विचार, जो सही कार्य प्रणाली की ओर संकेत करते हैं। वह कहते हैं, ''देखा गया है कि मिशनरी लोग निम्नतम जाति में सर्वोत्तम छात्र पाते हैं लेकिन हमें इस बारे में सतर्क रहना ही होगा, कि हम उस जाति के लोगो को कोई विशेष प्रोत्साहन किस प्रकार प्रदान करते हैं। वे न केवल अति हेय हैं, बल्कि वे समाज के बड़े-बड़े विभाजनों के अति अल्पसंख्या वाले लोगों में से हैं। आशंका है कि यदि हमारी शिक्षा प्रणाली ने सबसे पहले अपनी जड़ें उनके भीतर जमाईं, तो वह कभी और विकास नहीं करेगी। हमारे सामने एक ऐसा वर्ग आ सकता है, जो उपयोगी ज्ञान में तो शेष से बेहतर होगा, पर वह उन जातियों की घृणा का पात्र हो जाएगा, जिन्हें हम नई उपलब्धियों वाले वर्ग से हीन समझने लगेंगे। ऐसी स्थिति वांछनीय होगी, जब यदि हम इसी पर संतोष कर लें कि हम अपनी शक्ति का आधार अपनी सेना या आबादी के एक हिस्से की कुर्की को बना लें, लेकिन उसका हर ऐसे प्रयास से कोई मेल नहीं खाता, जो और अधिक व्यापक आधार पर टिकी हो।''

ख

वक्तव्य

जिसे बंबई प्रेसिडेंसी में दलित वर्ग की शिक्षा की स्थिति के बारे में

भारतीय सांविधिक आयोग

को

बहिष्कृत हितकारिणी सभा

(दलित वर्ग संस्थान, बंबई)

की ओर से

डा. भीमराव अम्बेडकर, एम.ए.,पी-एच.डी., डी. एससी., बार-एट-ला,
सदस्य, विधान परिषद बंबई

ने दिया

टिप्पण - **इस वक्तव्य में पिछड़े वर्ग और दलित वर्ग वाक्यांश एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग किए गए हैं।**

I - 1813 से 1854 तक

1. कहा जा सकता है कि बंबई प्रेसिडेंसी में ब्रिटिश शासन के दौरान 1815 में बंबई शिक्षा समिति की स्थापना से शुरू हुई। इस समिति ने यूरोपियन बच्चों की शिक्षा के लिए अपने प्रयास जारी नहीं रखे। सूरत और थाणे में स्थानीय बच्चों को इस समिति के स्कूलों के लिए प्रोत्साहित किया गया और 1820 के प्रारंभ में बंबई में स्थानीय बच्चों के लिए चार पृथक स्कूल खोले गए। उनमें लगभग 250 विद्यार्थी थे। उसी साल अगस्त में स्थानीय बच्चों की शिक्षा के लिए और उपाय किए गए। स्थानीय भाषाओं में स्कूली पुस्तकें तैयार करने और स्थानीय स्कूलों की स्थापना या सहायता करने के लिए समिति ने एक विशेष समिति नियुक्त की। परन्तु शीघ्र यह महसूस किया गया कि इस प्रयास का व्यापक क्षेत्र मुख्यत: गरीब बच्चों की शिक्षा के लिए स्थापित समिति के उद्देश्यों से परे है और 1922 में समिति एक पृथक निगम बन गई। तदुपरान्त इसका नाम बोंबे नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसायटी रखा गया। बाद में 1827 में इसका नाम बदल कर बंबई नेटिव स्कूल सोसायटी कर दिया गया। माननीय माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन इस नई सोसायटी के पहले प्रेसीडेंट थे। मुख्य न्यायाधिपति और बंबई सरकार की कार्यकारी परिषद के तीन सदस्यों को वाइस प्रेसीडेंट बनाया गया और प्रबंध समिति में बारह यूरोपियन और बारह भारतीय सदस्य थे, जिनमें कैप्टन जार्ज जेरबिस आर. ई. और सदाशिव काशीनाथ छत्रे को सचिव बनाया गया। सोसायटी ने अपना कार्य सरकार से मिलने वाले 600 रुपये प्रतिमाह के अनुदान से आरम्भ किया। 1825 तक बंबई सरकार ने भी अपने खर्चे से जिलों के कस्बों में प्राथमिक स्कूल खोले और उन्हें कलक्टर के अधीन रखा। 1840 में इन दो स्वतंत्र संस्थाओं की गतिविधियों में तालमेल रखने के लिए छह सदस्यों का शिक्षा बोर्ड बनाया गया, जिसमें तीन सदस्य सरकार द्वारा और 3 देसी नेटिव एजुकेशन सोसायटी द्वारा नियुक्त किए गए। यह बोर्ड 1855 में जन-शिक्षा के निदेशक की नियुक्ति तक शिक्षा विभाग का प्रभारी था।

2. एक मार्च 1856 को जब यह बोर्ड भंग हुआ, तो बंबई प्रेसिडेंसी में 15 अंग्रेजी कालेज और स्कूल थे। इनमें विद्यार्थियों की संख्या 2850 थी। वहां 256 वर्नाकुलर स्कूल थे, जिनकी छात्र संख्या 18,888 थी। इसी रिपोर्ट में बोर्ड ने कहा है:

> 24 अगस्त 1855 में अहमदनगर के कुछ निवासियों से एक याचिका प्राप्त हुई, जिसमें छोटी जातियों की शिक्षा के लिए एक स्कूल की स्थापना करने का और बाद में बनाए गए नए नियमों के अनुसार अध्यापकों को आधा वेतन देने का अनुरोध किया गया था। याचिकादाताओं ने स्कूल के एक कमरे का निर्माण कर लिया था और विद्यार्थियों की संख्या तीस बताई गई थी। इस प्रकार के स्कूल की स्थापना समृद्ध और सवर्ण जातियों के पूर्वाग्रहों के आड़े आती थी और अल्प वेतन पर अध्यापक के मिलने में कुछ कठिनाई अनुभव हो रही थी, परन्तु चूंकि याचिका इस विषय पर बाद की अधिसूचना में दी गई शर्तों के

अनुसार की गई थी, हमने अनुरोध को तुरन्त स्वीकार कर लिया और नवम्बर में स्कूल खोल दिया गया। *हमने विषय का मात्र उल्लेख किया है, क्योंकि यह पहला अवसर है कि हमने इन जातियों के लिए स्कूल खोला है* (मूल में नहीं)।

3. बोर्ड के इस वक्तव्य से कि प्रेसिडेंसी में छोटी जातियों के लिए पहली बार स्कूल खोला गया था, यह प्रश्न उठता है कि 1855 से पूर्व दलित जातियों की शिक्षा के बारे में ब्रिटिश सरकार की क्या नीति थी ?इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व यह जरूरी है कि प्रेसिडेंसी में 1813 से 1855 के बीच की ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि पेशवा सरकार के दौरान दलित जातियां शिक्षा से पूरी तरह वंचित थी। राज्य शिक्षा के किसी भी विचार में वे शामिल नहीं थे। इसका कारण यह था कि पेशवा राज्य मनु के सिद्धान्तों पर आधारित धर्म-तंत्र-राज्य था। उसके अनुसार शूद्रों और अतिशूद्रों को (शिक्षा विभाग की पिछड़ी जातियों के समकक्ष जातियां) जीवन स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार भले ही रहा हो, किन्तु शिक्षा का कोई अधिकार नहीं था। इतनी विवशताओं में जी रही दलित जातियों ने इस घृणित धर्मतंत्र के पतन पर राहत की सांस ली। ब्रिटिश शासन की स्थापना से दलित जातियों में उच्च आकांक्षाएं जगीं। पहली बात यह है कि यह एक लोकतंत्र था, जिसके बारे में वे सोचते थे कि इसमें कोई ऊंच-नीच नहीं है और सभी इंसान बराबर हैं। यदि लोकतंत्र अपने सिद्धान्तों पर सही अर्थों में चले, तो वह पेशवा के धर्मतंत्र के पूर्णतः विपरीत था। दूसरे, दलित जातियों ने देश को जीतने में अंग्रेजों का साथ दिया था और उन्हें सहज विश्वास था कि इसके बदले में अंग्रेज विशेष रूप से नहीं, तो कम से कम अन्य वर्गों के समान तो उनकी सहायता करेंगे ही।

4. स्थानीय लोगों में शिक्षा का प्रसार करने के प्रश्न पर अंग्रेज लम्बे समय तक चुप्पी साधे रहे। हालांकि भारत के प्रशासन के उच्चाधिकारी भारत के लोगों में ज्ञान के प्रसार के अपने नैतिक दायित्व और उसकी प्रशासनिक आवश्यकता से पूरी तरह बेखबर नहीं थे, फिर भी 1813 तक सार्वजनिक रूप से सरकार के दायित्व के संबंध में कोई घोषणा नहीं की गई थी। 1813 में संविधि 53, जार्ज चतुर्थ अध्याय 155 की धारा 43 में संसद ने निर्णय दिया कि 'भारत के राजस्व में से प्रति वर्ष एक लाख रुपये से अनधिक अलग रखा जाएगा, जो भारत के साहित्य में आवश्यक सुधार करने और यहां के विद्वानों को प्रोत्साहन देने तथा भारत में राज्य क्षेत्रों के निवासियों में विज्ञान की शिक्षा का प्रसार करने में व्यय किया जाएगा।' इस संविधि व्यवस्था के अंतर्गत कोई सुसंगत, सुदृढ़ और सुसंगठित प्रयास 1823 तक नहीं हुआ। क्योंकि कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने 3 जून 1814 के पत्र में 1813 की संविधि की धारा 43 के कार्यान्वयन के तरीके को निर्धारित करते हुए गवर्नर जनरल इन काउंसिल को निदेश दिया था कि हिन्दुओं में संस्कृत की शिक्षा को बढ़ावा देने से उन उद्देश्यों की पूर्ति हो जाएगी जो संसद चाहती थी। परन्तु जब स्थानीय लोगों में शिक्षा को एक सुदृढ़ और सुसंगठित आधार प्रदान करने हेतु संगत प्रयास किए गए, तो दलित जातियों को निराशा ही हाथ लगी, क्योंकि

अंग्रेजी सरकार ने जान-बूझकर यह विनिर्णय दिया कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग तक ही सीमित रखी जाए। कहीं ऐसा न हो कि तथ्यों को काल्पनिक समझ लिया जाए, इसलिए बंबई प्रेसिडेंसी के बोर्ड आफ एजूकेशन के 1850-51 के प्रतिवेदन के निम्नलिखित उद्धहरण की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है:

पैरा 5- कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के मतानुसार बोर्ड द्वारा निर्धारित प्रणाली इस प्रकार इस प्रेंसिडेंसी के शिक्षा बोर्ड ने शिक्षा योजना निर्धारित की, जो माननीय कोर्ट से प्राप्त डिस्पैचों की प्रमुख निषेधाज्ञाओं के अनुरूप है। उसका गौण आधार है, उन लोगों की राय, जो भारत में शिक्षा प्रणाली के विकास पर मनोयोग से विचार करते रहे है, यथा आक्लैंड के अर्ल मेजर कैंडी तथा अन्य। उसका प्रमुख आधार है स्वयं अति बुद्धिमान स्वदेशी लोगों द्वारा खुलेआम घोषित आवश्यकताएं। हम दोहराते हैं कि परिषद में मान्यवर न्यायमूर्ति के पूर्ववर्ती ने बोर्ड को सूचित किया था कि यह प्रक्रिया बदली ही जाए।

पैरा 8 - उच्च वर्गों को शिक्षित करने के औचित्य पर कोर्ट के विचार यदि हमें कहने की अनुमति दी जाए, तो हमें माननीय कोर्ट के उतने ही सूझबूझ वाले संकेत इस बारे में दीख पड़ते हैं कि वे कौन से क्षेत्र हैं, जिनकी ओर सरकारी शिक्षा की धारा को मोड़ा जाए, खास तौर पर उस दशा में जब व्यय की इस शाखा के लिए अति सीमित राशि उपलब्ध है। माननीय कोर्ट ने 1830 में मद्रास को इस प्रकार लिखा है, "लेकिन शिक्षा में सुधार से लोगों का मनोबल और आध्यात्मिक स्तर उठाने के सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय वे हैं, जिनका संबंध उच्च वर्ग के व्यक्तियों की शिक्षा से होता है। इन लोगों के पास समय होता है और अपने देशवासियों के मन पर उनका सहज प्रभाव होता है। इन वर्गों का शिक्षा-स्तर अंततः उठाकर आप समाज के विचारों और उसकी भावनाओं में कहीं महान और अधिक लाभदायक परिवर्तन ला सकेंगे, अपेक्षाकृत उसके जिसे आप अधिक संख्या वाले वर्ग पर सीधा प्रभाव डालकर लाने की आशा कर सकते हैं। इसके अलावा आप हमारी इस आतुरता से परिचित हैं कि हम चाहते हैं कि हमारे पास सुरुचिपूर्ण स्वभाव और योग्यता से सम्पन्न मूल निवासियों का ऐसा समूह हो, जो अपने देश के सिविल प्रशासन में और अधिक हिस्सा ले सकें तथा उसमें और उच्च पद पा सकें। अभी तक हमारी भारत सरकार की यह परिपाटी नहीं रही है।" फिर भी हम अन्य अनेक पक्षों से सुनते हैं, हम उन लोगों से भी सुनते हैं जिन्हें यह बात और अच्छी तरह जाननी चाहिए कि जन-वर्ग को शिक्षित करने के लिए भारत के 14 करोड़ लोगों में (क्योंकि संख्या का कोई महत्व नहीं होता) यूरोप की कला और विज्ञान का रस घोलने के लिए कितनी आवश्यकता है और कितनी सुविधा प्राप्त है। हम वैसी ही अन्य सामान्य बातें सुनते हैं, जो इस विषय में भ्रामक धारणाओं से परिपूर्ण हैं। एक दर्शक भी शायद यह सोचने के लिए लालायित हो सकता है कि शिक्षा बोर्डों के हाथ में तो राज्य के समूचे संसाधन हैं. यह कैसा भ्रम है? स्थिति यह है कि उनके पास तो दाल में नमक

के बराबर अति अल्प अंश है। वह तो इंग्लैंड के एक अकेले प्रतिष्ठान के लिए नियत राशि से भी कम है।

पैरा 9 - गत दस वर्षों के दौरान शिक्षा संबंधी प्रमुख तथ्यों का सिंहावलोकन आवश्यक है पिछले कुछ पैराओं में जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह पता चलता है कि प्रेसिडेंसी में शिक्षा संबंधी प्रयासों के दौरान जो प्रमुख लक्षण दृष्टिगोचर हुए हैं, उनका विश्लेषण और वास्तविक तथ्यों की सावधानी से पड़ताल करना उपयोगी होगा, यदि विश्वास पैदा करने के लिए पर्याप्त उद्यम किया जाए और निष्पक्षता बरती जाए तथा निराधार विवाद तथा सभी प्रकार की अटकलबाजियों को दूर करने के लिए दृढ़ निश्चय का परिचय दिया जाए। लगता है कि वर्तमान काल ऐसे सिंहावलोकन की विशेष अपेक्षा रखता है, क्योंकि 1850 में दूसरा दशक शुरू हो गया है और उसमें प्रेसिडेंसी के स्कूल एक सरकारी बोर्ड के पूर्ण नियंत्रण में आ गए हैं और यह स्पष्ट है कि चूंकि अब तक काफी सूचना इकट्ठी हो जानी चाहिए और वर्तमान सदस्यों में से अधिकतर उस काल के अधिकांश भाग में बोर्ड के सदस्य रहे हैं। अत: उन्हें आशा होगी कि अपने अनुभव का उल्लेख करके वे उन कतिपय अस्पष्ट पर अति दिलचस्प सवालों पर रोशनी डाल सकते हैं, जो निश्चय ही इस बोर्ड में उनके उत्तराधिकारियों के समक्ष समय-समय पर उठेंगे।

पैरा 10 - बंगाल और बंबई दोनों में स्व-स्फूर्त समान प्रणाली अब हम शिक्षा संबंधी उन प्रमुख तथ्यों का यथारूप सूक्ष्म विवेचन करने का प्रयास करते हैं, जिन्होंने हमारा ध्यान आकर्षित किया है और हमारा विचार है कि जब उन तथ्यों को समुचित रूप से समझ लिया जाएगा, तो स्पष्ट रूप से दीख पड़ेगा कि भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में, जो अनेक विवादास्पद प्रश्न उठ खड़े हुए हैं, वे स्वयमेव सुलझते नजर आएंगे और अन्य प्रेसिडेंसियों तथा बंबई में सामान्यत: स्वयमेव एक ऐसी प्रणाली का विकास हो रहा है, जो देश की परिस्थितियों के नितांत अनुकूल है और जैसा कि स्व-स्फूर्त विकास दर्शाता है कि उसके सामान्य लक्षण नजर आ रहे हैं।

पैरा 11 - बंबई में शिक्षा संबंधी आंकड़े अगले पृष्ठ पर दिए गए विवरण में उस काल का, जब शिक्षा प्रतिष्ठान पहले पहल 1840 में और अप्रैल 1850 में बोर्ड के नियंत्रण में आए, सरकारी शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों तथा स्कूलों की संख्या का तुलनात्मक विवरण दिया गया है। उससे पता चलता है कि उत्तरवर्ती काल में 4 अंग्रेजी तथा 83 वर्नाक्यूलर स्कूल जोड़े गए और छात्रों की संख्या में सामान्य वृद्धि शत प्रतिशत से भी अधिक हो गई। इस समय सरकारी शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की कुल संख्या 12,712 है। उनका अनुपात इस प्रकार है:

अंग्रेजी शिक्षा	1,699
वर्नाक्यूलर शिक्षा	10,730
संस्कृत शिक्षा	283

(सारणियों से तुलना : 1840 में 97 स्कूल थे और छात्रों की संख्या 5,491 थी, 1850 में स्कूलों की संख्या 185 थी और छात्रों की संख्या 12,712 थी)

'**पैरा 12 - वही विषय** लेकिन अति सक्षम अधिकारियों के आकलन के अनुसार बंबई प्रेसिडेंसी की आबादी एक करोड़ है। एक पिछली रिपोर्ट (1842-43, पृष्ठ 26) में उल्लिखित प्रशियाई जनगणना विधि से आकलित आंकड़ों के नियम को यदि हम लागू करें तो इतनी बड़ी जनसंख्या में 7 और 14 वर्ष के बीच के लगभग 9,00,000 नर बच्चे स्कूल जाने योग्य होंगे। अत: इसका अर्थ है कि इस प्रेसिडेंसी की सरकार स्कूल जाने योग्य हर 69 बच्चों में से एक से अधिक बच्चे को शिक्षा प्राप्ति का अवसर नहीं दे सकी है।

पैरा 13 - वही विषय इसके अलावा यह स्वीकार किया गया है कि वर्नाक्यूलर स्कूल में दी गई शिक्षा अच्छे स्तर से कोसों दूर है। श्री बिलोबी के विवरण का अधिकांश भाग इन स्कूलों के घटिया स्वरूप और घटिया परिणामों की तीखी आलोचना से भरा पड़ा है। बोर्ड न केवल इस तथ्य को स्वीकार करता है, बल्कि उसने विगत अनेक वर्षों की ओर खास तौर पर संकेत दिया है और कुछ सक्षम प्रेक्षकों की भी राय है कि उसने वर्नाक्यूलर स्कूलों की एक बेहद भद्दी तस्वीर पेश की है। लेकिन जो त्रुटियां बताई गई हैं, उनको दूर करने के प्रत्यक्ष उपाय क्या हैं? श्री बिलोग्बी ने बहुत ही सही तरीके से बताया है: ''स्कूल मास्टरों का एक उत्तम वर्ग, नारमल स्कूल, अधिक दक्ष पर्यवेक्षण, वर्नाक्यूलर साहित्य में वृद्धि- लेकिन ये वे सब विषय हैं, जिनके प्रति गत अनेक वर्षों से बोर्ड ध्यान देता रहा है और उनकी ओर अतिरिक्त खर्च के बिना एक कदम भी नहीं बढ़ाया जा सकता। लेकिन महामहिम की परिषद के पत्र से हमें यह पता चला है कि हो सकता है कि आने वाले काफी अर्से तक सरकार को ऐसा अधिकार प्राप्त न हो कि वह बोर्ड को अतिरिक्त आर्थिक सहायता दे सके।''

पैरा 14 - निष्कर्ष कि जन-शिक्षा का कोई साधन है ही नहीं इन तथ्यों से यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि यदि 175 वर्नाक्यूलर स्कूलों को संगठन की समुचित दशा में रखने और 10,730 बच्चों को ठोस प्राथमिक शिक्षा देने के लिए पर्याप्त धन नहीं है, तो देश के 'जन-जन' को, 14 करोड़ लोगों को, बंबई प्रेसिडेंसी के 9,00,000 बच्चों को शिक्षित करने का समूचा प्रश्न ही निरर्थक हो जाएगा। उद्देश्य ऐसा नहीं है, जिसे सरकार पूरा या लगभग पूरा कर ले। शिक्षा बोर्डों को अनसुनी उदारता की काल्पनिक अटकलों में फंसकर सीमित व्यावहारिक कर्मक्षेत्र से विचलित नहीं होना चाहिए।

पैरा 15 - सीमित साधनों से संचालन की श्रेष्ठ प्रणाली के बारे में निदेशकों के कोर्ट के विचार लगता है माननीय कोर्ट ने सदा ही उस निष्कर्ष को ध्यान में रखा है जो पिछले पैरा में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि लोगों में सुधार के लिए उनके शैक्षिक प्रयास केवल बहुत छोटे पैमाने पर ही किए जा

सकते हैं, उन्होंने यह जरूरी समझा है कि वे अपनी विभिन्न सरकारों को बताएं कि सीमित साधनों से महानतम सफलताएं वास्तव में कैसे प्राप्त की जा सकती हैं? हम इस विषय में मद्रास सरकार को भेजी गई उनकी निषेधाज्ञाओं को उद्धृत कर चुके हैं (पैरा 7) और उसी तिथि को उस सरकार को भेजे गए डिस्पैच में उसी आशय की भावना व्यक्त की गई है: "हमारी यह उत्कट इच्छा है कि हम भारत के मूल निवासियों के उच्च वर्ग को ऐसे साधन उपलब्ध कराएं कि यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा मिल सके और सभ्य यूरोप के साहित्य तक उनकी पहुंच हो सके। अवकाश के क्षणों तथा सहज प्रभाव से लैस वर्गों को जो स्वरूप प्रदान किया जा सके, वही अंततः समूचे जन-वर्ग का स्वरूप निर्धारित करेगा।"

पैरा 16 - कौन हैं भारत के उच्च वर्ग? जब यह बताया जा रहा है कि भारत में आबादी के केवल छोटे से भाग को सरकारी शिक्षा की परिधि में लाया जा सकता है और जब माननीय कोर्ट ने वस्तुतः तय कर लिया है कि यह भाग 'उच्च वर्ग' का होना चाहिए तो यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि उच्च वर्ग में कौन-कौन शामिल हैं। इसलिए यूरोपीय जिज्ञासु के लिए यह नितांत जरूरी है कि वह यूरोप की सादृश्यताओं से अपने मन को मुक्त कर ले जो अक्सर स्वयं को अनजाने में चुपके-चुपके आंग्ल-भारतीय अटकलों की ओर ले जाती हैं। यूरोप की, विशेषतः इंग्लैंड की, परिस्थितियों ने शिष्टाचार, धन, राजनीतिक व सामाजिक प्रभाव के सुस्पष्ट आधार पर उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच एक लक्ष्मण रेखा खींच दी है। भारत में ऐसी कोई लक्ष्मण रेखा नहीं है। यहां सभी निरंकुश शासकों की भांति राजा की इच्छा सर्वोपरि थी, वह चाहे तो रंक को राजा बना सकता था, पर ऐसी कोई रेखा न होने के कारण यहां आचरण में सदैव भारी समानता रही है। अंग्रेजी धारणा के अनुसार भिखारी केवल पशु वार्डों में रहने के लिए या मुहताजखानों में बेगार करने के लिए उपयुक्त हैं, भारत में उसका सम्मान होता है और ब्राह्मणीय (वैदिक) विचारधारा के अनुसार आदरणीय है। उसके अनुसार वह एक ऐसा उच्च प्राणी है, जिसने ज्ञान प्राप्ति और देवता की अखंड आराधना के लिए जीवन के सभी प्रकार के भोग तथा मोह को त्याग दिया है।

पैरा 17 - भारत के उच्च वर्ग जो वर्ग अब भी भारत के प्रभावशाली और उच्च वर्ग समझे जाते हैं, उनकी श्रेणियां इस प्रकार हैं:

प्रथम - जमींदार और जागीरदार, भूतपूर्व सामंतों के प्रतिनिधि और देशी शक्तियों के उच्च प्राधिकारी, और वे जिन्हें क्षत्री वर्ग कहा जाता है।

द्वितीय - व्यापार या वाणिज्य से धन अर्जित करने वाले अथवा वैश्य वर्ग।

तृतीय - सरकार के उच्च कर्मचारी।

चतुर्थ - ब्राह्मण, उनके साथ भले ही लम्बे अंतराल के बाद रहे हों, उच्च जातियों के उन कातिबों या मुंशियों को जोड़ा जा सकता है जो कलम का खाते हैं, यथा बंबई के

प्रभु और शैनवी, बंगाल के कायस्थ बशर्ते कि शिक्षा या पद की दृष्टि से उनका रुतबा हो।

पैरा 18 - ब्राह्मण सबसे अधिक प्रभावशाली इन चार वर्गों में अतुलनीय दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावशाली, सर्वाधिक संख्या में और कुल मिलाकर, जो सबसे आसानी से सरकार द्वारा काम में लाया जा सकता है, वह है ब्राह्मण वर्ग। पूरे भारत में यह बात सर्वविदित है कि पुराने जागीरदार या क्षत्री वर्ग हमारे राज में बराबर पतनोन्मुख हैं। उनका पुराना व्यवसाय समाप्त हो गया है और उन्होंने नया व्यवसाय अपनाने में कोई रुचि या क्षमता नहीं दिखाई और शांति का पाठ नहीं पढ़ा। प्रेसिडेंसी में भूस्वामियों के इस अभिजात वर्ग को संबल देने के श्री एलफिंस्टोन और उनके उत्तराधिकारियों के प्रयत्न बुरी तरह विफल हुए। इस जाति के लिए नागरिक सम्मान तथा शिक्षा द्वारा उन्नति के द्वार खोलने के सभी प्रयासों पर भी पानी फिर गया। इस जाति को और कुछ भी नहीं सुहाता। वह तो झूठी शान-शौकत और फिजूलखर्ची में मस्त रहती हैं। वह तो हिन्दुस्तान के मैदानी इलाकों में अपने पूर्वजों की विजय-गाथा की यादों में खोई रहती हैं। ना ही कुछ अपवादों को छोड़कर वैश्य वर्ग में उच्च शिक्षा के प्रभाव के लिए बहुत बड़ा मार्ग खुल सका है। यों तो सभी देशों में होता है पर भारत में अधिक से अधिक सभ्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा व्यापारियों के नौजवान जल्दी ही शिक्षा समाप्त कर देते हैं, ताकि वे अपने व्यवसाय के अनुसार या बाजार का विशेष अनुभव प्राप्त कर सकें। अंतिम वर्ग राज्य के कर्मचारियों का है। सरकार के संपर्क में आने वाले बहुत से लोगों पर उनका भारी प्रभाव होता है लेकिन उनसे भी कहीं अधिक संख्या वाले उन लोगों पर उनका कोई प्रभाव नहीं है, जो सरकारी सेवा में नहीं हैं और जनता में उनकी साख वैसी ही है, जैसी कि इंग्लैंड के सरकारी कर्मचारियों की, जिनके बारे में बड़े भद्दे ढंग से कहा जाता है कि वे तो सरकार के भाड़े के टट्टू हैं।

पैरा 19 - ब्राह्मणों की विपन्नता उपरोक्त विश्लेषण यद्यपि लम्बा दीख पड़ता है, परन्तु फिर भी वह कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों के लिए अपरिहार्य है। पहला तो यह है कि उससे पता चलता है कि शिक्षा प्रचार के लिए जिस वर्ग का उपयोग प्रभावशाली वर्ग के रूप में सरकार कर सकती है, वह है ब्राह्मण और लगभग उनकी जैसी उच्च जातियां। लेकिन ब्राह्मण तथा ये उच्च जातियां अधिकांशत:अति दरिद्र हैं। भारत के अनेक भागों में तो ब्राह्मण 'भिखारी' का पर्याय बन गया है।

पैरा 20 - धनी वर्ग फिलहाल उच्च शिक्षा का समर्थन नहीं करेगा अत: हम देख सकते हैं कि 24 अप्रैल 1850 के अपने पत्र में माननीय न्यायमूर्ति की परिषद ने, जो कठोर आदेश दिया था, उसे लागू करना कितना निराशाजनक है। सरसरी तौर पर वह स्वयं में कितना सत्याभाषी और समुचित दीख पड़ता है। वस्तुत: उसका स्वयं बोर्ड ने बहुधा प्रयास किया है, अर्थात उच्च शिक्षा को कठोरता से उस धनी वर्ग तक सीमित रखा जाए, जो

उसका खर्च उठा सकता है और असाधारण बुद्धिमत्ता वाले नौजवानों तक भी। जब भी बोर्ड ने इस प्रकार के दृष्टिकोण को लागू करने का प्रयास किया है, तो सदैव उसका उत्तर यही मिला है कि धनी वर्ग उच्च शिक्षा के प्रति पूर्णत: उदासीन रहा है और गरीबों में से असाधारण बुद्धिमत्ता को खोजने का कोई मार्ग तभी निकाल सकता है, जब स्कूली शिक्षा द्वारा उनके गुणों को परखा जाए और उनका विकास किया जाए। इसमें संदेह नहीं कि धनी वर्गों का एक अल्पांश अपनी रुचि दिखा रहा है और उसने उच्च शिक्षा के लाभों को स्वीकार किया है। वह वर्ग अधिकतर बंगाल में दीख पड़ता है, जहां सरकार ने अधिक लम्बे अर्से से शिक्षा का प्रसार किया है। बंबई में वह उतना नहीं दीख पड़ता। हमारे विचार में यह अनिवार्य है कि इस अनुभूति के साथ-साथ ऐसे वर्ग की संख्या बढ़ेगी ही कि उच्च उपलब्धियां विशिष्टता प्रदान करती हैं। उनके कारण सामाजिक समता के आधार पर यूरोपीयों से निकट संपर्क स्थापित होता है। लेकिन फिलहाल सामान्य प्रस्थापना के रूप में हम संतुष्ट हैं कि यूरोप की कला और विज्ञान संबंधी अकादमीय शिक्षा को भारत के प्रति संपन्न वर्गों के छात्रों अथवा पैसे पर आधारित नहीं किया जा सकता।

पैरा 21 - निम्न जातियों की शिक्षा के बारे में प्रश्न वर्षों के अनुभव के आधार पर हमने इन तथ्यों से यह व्यावहारिक निष्कर्ष निकाला है कि उच्च जातियों के जो निर्धन बच्चे हमसे शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए एक अति चौड़ा द्वार खोला जाना चाहिए। लेकिन पुन: यहां भी एक और दिमाग चाटने वाला प्रश्न उठता है और उसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि गरीबों के बच्चों को बेरोकटोक सरकारी संस्थाओं में प्रवेश दिया जाता है, तो वह कौन सी बाधा है, जो ढेड़, महार आदि जैसी सभी हेय जातियों को इन संस्थाओं की चारदीवारी के भीतर भारी संख्या में आने से रोक सकती है।

पैरा 22 - हिन्दुओं के सामाजिक पूर्वाग्रह इसमें संदेह नहीं कि यदि इन दलितों का बंबई में कोई वर्ग बनाया जाए, तो बोर्ड की सेवा में रत प्रोफेसरों तथा मास्टरों के मार्गदर्शन में उन्हें समाज में किसी से भी बेहतर बुद्धिमत्ता वाले व्यक्तियों में परिणत किया जा सकता है। तब वे जो योग्यता प्राप्त करेंगे, उसके बल पर वे देशज प्रतिभा के लिए खुले सर्वोच्च पदों तक पहुंच सकेंगे और कोई बाधा उनकी इस इच्छा को दबा नहीं सकेगी। वे जज बन सकेंगे, ग्रांड जूरी और साम्राज्ञी के शांति-कमीशन के सदस्य बन सकेंगे। अनेक उदार लोगों का विचार है कि ब्रिटिश सरकार के भीतर यह तो अनुदारता और निर्बलता की पराकाष्ठा है कि वह इन पूर्वाग्रहों के आगे झुक जाए कि ऐसी नियुक्तियां, तो हिन्दू समाज के भीतर कुंठा पैदा करेंगी। अत: जाति के बंधनों पर खुला प्रहार किया जाना चाहिए।

'पैरा 23 - माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन के विवेकपूर्ण विचारों का उद्धरण लेकिन प्रस्तुत है भारत के पक्षधर तथा अति उदारमना तथा विशाल हृदय प्रशासक श्री एलफिंस्टन के विवेकपूर्ण विचार जो सही कार्य प्रणाली की ओर संकेत करते हैं। वह कहते हैं, "देखा गया है कि मिशनरी लोगों को निम्नतम जाति के छात्र सर्वोत्तम लगते हैं, लेकिन हमें

इस बारे में सतर्क रहना ही होगा कि हम उस जाति के लोगों को कोई विशेष प्रोत्साहन किस प्रकार प्रदान करते हैं। वे न केवल अति हेय हैं, बल्कि वे समाज के बड़े-बड़े विभाजनों के अति अल्पसंख्या वाले लोगों में से हैं। आशंका है कि यदि हमारी शिक्षा प्रणाली ने सबसे पहले अपनी जड़ें उनके भीतर जमाईं, तो वह कभी और विकास नहीं करेगी। हमारे सामने एक ऐसा वर्ग आ सकता है, जो उपयोगी ज्ञान में तो शेष से बेहतर होगा, पर वह उन जातियों की घृणा का पात्र हो जाएगा, जिन्हें हम नई उपलब्धियों वाले वर्ग से हीन समझने लगेंगे। ऐसी स्थिति वांछनीय होगी, जब यदि हम इसी पर संतोष कर लें कि हम अपनी शक्ति का आधार अपनी सेना या आबादी के एक हिस्से की कुर्की को बना लें, लेकिन उसका हर ऐसे प्रयास से कोई मेल नहीं खाता, जो और अधिक व्यापक आधार पर टिकी हो।"

5. इस तरह यह स्पष्ट है कि 1855 तक बंबई प्रेसिडेंसी में यदि दलित जातियों के लिए कोई स्कूल नहीं खोले गए, तो यह अंग्रेज सरकार की सोची समझी नीति थी कि शिक्षा की सुविधा उच्च जातियों के गरीबों विशेष रूप से ब्राह्मणों तक ही सीमित रखी जाएं। यह दूसरी बात है कि यह नीति सही थी या गलत। सच्चाई यह है कि इस अवधि में सरकार ने दलित जातियों को शिक्षा के लाभ से वंचित रखा।

II - 1854 से 1882 तक

6. कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने अपने 19 जुलाई 1854 के पत्र संख्या 49 में टिप्पणी की कि "अब हमारा ध्यान संभवत: एक बात की ओर जाना चाहिए, जो कि अभी भी अधिक महत्वपूर्ण है और जिसको हमें स्वीकार करना होगा। अभी तक बहुत उपेक्षा की गई अर्थात जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए आवश्यक उपयोगी और व्यावहारिक ज्ञान किस प्रकार उन लोगों तक पहुंचाया जाए, जो अपने प्रयत्नों से शिक्षा प्राप्त करने में सर्वथा अक्षम हैं और हम चाहेंगे कि इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु विशेष प्रयास करें, जिसके लिए हम भारी राशि मंजूर करने के लिए तैयार हैं।" यह बिलकुल सही है कि इस पत्र ने इस देश में जन शिक्षा की नींव डाली। इसी नीति के परिणामों पर सर्वप्रथम 1882 में भारतीय शिक्षा संबंधी हंटर आयोग ने पहली बार विचार किया। 28 वर्ष की उपलब्धियां निम्नांकित आंकड़ों से स्पष्ट हैं -

	प्राथमिक शिक्षा 1881-82 स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई	1521	.49
ब्राह्मण	63071	20.17
अन्य हिन्दू	202345	64.69

	प्राथमिक शिक्षा 1881-82 स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
मुस्लिम	39231	12.54
पारसी	3517	1.12
आदिम जातियां और पर्वतीय आदिवासी	2713	.87
छोटी जातियों के हिन्दू	2862	.87
यहूदी और अन्य	373	.12

माध्यमिक शिक्षा

1881-82

		मिडिल स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत	हाई स्कूलों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई		1429	12.06	111	2.26
ब्राह्मण		3639	30.70	1978	40.29
अन्य हिन्दू	कृषक	624	5.26	140	2.85
	छोटी जातियां	17	1.4	–	–
	अन्य जातियां	3823	32.25	1573	32.04
मुस्लिम		687	5.80	100	2.04
पारसी		1526	12.87	965	19.66
आदिम जातियां और पर्वतीय आदिवासी		6	.05	–	–
अन्य (यहूदियों आदि सहित)		103	.07	92	.86

कालिज शिक्षा
1881-82

		कालिजों में छात्र संख्या	छात्रों की कुल संख्या का प्रतिशत
ईसाई		14	3
ब्राह्मण		241	50
अन्य हिन्दू	कृषक	5	1
	छोटी जातियां	0	0
	अन्य जातियां	103	21.3
मुस्लिम		7	1.5
पारसी		108	21.5
आदिम जातियां और पर्वतीय आदिवासी		0	0
अन्य (यहूदियों आदि सहित)		2	.04

7. ये आंकड़े क्या दर्शाते हैं? इनसे पता चलता है कि हालांकि सरकार की नीति जन शिक्षा की थी, परन्तु आम आदमी के लिए शिक्षा उतनी ही दुर्लभ थी, जितनी 1854 से पहले थी और हिन्दुओं की निम्नतम तथा आदिम जातियां अभी भी शिक्षा के क्षेत्र में सबसे अधिक पिछड़ी थी। यहां तक कि 1881-82 में भी इस प्रेसिडेंसी में इन समुदायों का एक भी छात्र कालिजों अथवा हाई स्कूलों में नहीं पढ़ता था। दलित जातियों को शिक्षा के मामले में अन्य जातियों के स्तर तक लाने में विफल होने का क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें फिर इस प्रेसिडेंसी में सरकार की शिक्षा नीति के इतिहास को देखना होगा।

8. 1854 के कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के पत्र में 40 साल बाद पहली बार यह स्वीकार किया गया कि सरकार का कर्तव्य है कि भारत के जन-जन तक शिक्षा का प्रसार किया जाए, परन्तु अभी भी ऐसे सुधार के लिए विरोधी लोग मौजूद थे, जिन्हें उस पत्र में वर्णित सिद्धान्त को लेकर भारी आशंकाएं थी और जो उस नीति को रद्द करने के लिए आंदोलन कर रहे थे। पिछड़ी जातियों के जीवन स्तर को उठाने के कारण शासन को भयंकर परिणामों का सामना करना पड़ सकता है। यह बात बोर्ड आफ कंट्रोल के प्रेसिडेंट लार्ड एलेनब्रो जैसे लोगों को अभी भी सता रही थी। लार्ड एलेनब्रो कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के अध्यक्ष को 28 अप्रैल 1858 के अपने पत्र में निम्नलिखित चेतावनी देने से नहीं हिचकिचाए:

सज्जनों! हाल ही में मुझे ऐसे अनेक पत्र मिले हैं, जिनमें 1854 में कोर्ट आफ डायरेक्टर्स

द्वारा दिए गए अनुदेशों के अंतर्गत भारत के विभिन्न भागों में शिक्षा की स्थिति की समीक्षा की गई है और मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे उनसे कोई ऐसा आभास नहीं हुआ कि उस समय स्थापित प्रणाली से अपेक्षित लाभ हुआ है। जब कि लगता है कि लागत में जिस वृद्धि की अपेक्षा की गई थी, वह हो रही है।

* * * * *

पैरा 11. मैं समझता हूं कि हम छोटी जातियों के लोगों को अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए बहुत कम प्रेरित कर पाते हैं और यदि हम शिक्षा का अपने मनोनुकूल विस्तार करने में सफल होते हैं, तो हमें श्रमिक वर्ग का अधिक बौद्धिक विकास करना होगा, भले ही इसमें अधिक धनाढ्य व्यक्तियों की उपेक्षा हो जाए।

पैरा 12. इसके परिणामस्वरूप किसी स्वस्थ समाज की स्थापना नहीं होगी। हमारी सरकार छोटी जाति के सर्वाधिक शिक्षित व्यक्ति की उस महत्वाकांक्षा को पूरा कराने के साधन भी उपलब्ध नहीं करा सकी, जो हमने उनके मन में जगाई थी।

पैरा 13. हमें निर्धन व्यक्तियों का एक ऐसा असंतुष्ट समाज बनाना चाहिए, जिसका हमारे द्वारा दी गई उच्च शिक्षा के कारण जनसाधारण पर भारी प्रभाव हो।

पैरा 14. छोटी जातियों को शिक्षा और सभ्यता ऊंची जातियों से मिलनी चाहिए और इस प्रकार छोटी जातियों में एक नई शक्ति का संचार होना चाहिए, किन्तु शिक्षा और सम्यता सभी भी नीचे से ऊपर की ओर नही जाती। यदि शिक्षा और सम्यता केवल छोटी जातियों को उपलब्ध कराई जाए, तो इससे केवल विक्षोम पैदा होगा, जिसके पहले शिकार विदेशी होंगे।

पैरा 15. यदि हम शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं, तो हमें सबसे पहले ऊंची जातियों के लोगों को शिक्षित करने का प्रयास करना चाहिए।

पैरा 16. इसके केवल दो रास्ते हैं, कालिजों की स्थापना की जाए, जिनमें केवल ऊंची जातियों को प्रवेश दिया जाए और सेना के पुनर्गठन में स्थानीय लोगों के उन्हीं बच्चों को कमीशन दिया जाये, जो इसे पाने के पात्र हैं।

9. अस्पृश्य जातियों के प्रति यूरोपीय अधिकारियों की इस चिढ़ को अंततः भारत मंत्री ने 1859 के अपने पत्र में दूर किया, जिसमें जन शिक्षा के लिए सरकार के दायित्व की बात दोहराई गई थी।

10. जैसा कि स्पष्ट है कि सरकार द्वारा जन शिक्षा के अपने दायित्व को स्वीकार करने से दलित जातियों को एक ऐसा लाभ मिला, जो केवल नाममात्र का था, क्योंकि विभिन्न जिलों में स्कूल तो सर्वसाधारण के लिए खुले थे, परन्तु इनमें दलित जातियों के दाखिले का प्रश्न अभी हल होना था। ऐसा एक प्रश्न 1856 में भी उठा था, परन्तु सरकार का फैसला दलितों के पक्ष में नहीं था, जैसा कि बंबई प्रेसिडेंसी के जन शिक्षा निदेशक की 1856-57 की रिपोर्ट के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:

पैरा 17. छोटी जातियों और बनवासी जन जातियों के लिए स्कूल सरकार की ओर

से सीधे छोटी जातियों के लिए कोई स्कूल नहीं खोले गए हैं और सर्वोच्च सरकार ने ऐसे स्कूलों के लिए अनुमति नहीं दी है। कहने के लिए सरकार द्वारा पूर्णतः समर्थित आम स्कूल तो सभी जातियों के लिए खुलें हैं। 1855-56 की मेरी रिपोर्ट के परिप्रेक्ष्य में सरकार ने निम्नलिखित आदेश दिया: ''*अभी तक सरकार के सामने केवल एक ही मामला लाया गया हैं, जिसमें सरकारी स्कूलों में छोटी जातियों के छात्रों के प्रवेश का प्रश्न उठाया गया है। यह मामला एक महार छात्र का है, जिसकी ओर से जून 1856 में एक याचिका पेश की गई, जिसमें शिकायत की गई थी कि यद्यपि वह स्कूल की फीस देने के लिए तैयार था तथा उसे धारवाड़ गवर्नमेंट स्कूल में दाखिला नहीं दिया गया।*''

इस अवसर पर सरकार को एक अति व्यावहारिक संकट का सामना करना पड़ा, जिसका संबंध एक प्रश्न पर विचार करने से था। प्रश्न यह था कि उनके अमूर्त अधिकार की धारणा उन स्थानीय लोगों की सामान्य भावनाओं के प्रतिकूल होती जिनकी यथासंभव जागृति के लिए सरकार के शिक्षा विभाग की स्थापना की गई है और जैसा कि कुछ संकोच के साथ उस समय पारित संकल्प* में दीख पड़ेगा। यह फैसला किया गया कि एक अकेले व्यक्ति यानी केवल उस महार के पक्ष में जो पहली बार केवल सवर्ण जातियों के छात्रों वाले स्कूल में प्रवेश की याचना लेकर आगे आया था, यह ठीक नहीं रहेगा कि उसे सवर्णों के साथ जबरदस्ती बिठाया जाए और यह संभावित जोखिम उठाया जाए कि स्थानीय लोगों के लिए वह संस्था व्यर्थ सी ही हो जाए।

इस संबंध में बंबई सरकार की कार्यवाही पर भारत सरकार ने दिनांक 23 जनवरी 1857 के पत्र संख्या 111 में निम्नलिखित विचार प्रकट किए:

''गर्वनर जनरल इन काउंसिल का विचार है कि संभवतः बंबई सरकार ने इस बारे में बुद्धिमत्तापूर्ण कदम उठाया है, लेकिन उसमें मुझसे अर्थात (भारत मंत्री से) अपेक्षा की गई है कि मै कहूं कि बालक को बंगाल की प्रेसिडेंसी के किसी सरकारी स्कूल में दाखिला दिए जाने से इंकार नहीं किया जाएगा।''**

---

* 21 जुलाई 1856 का सरकार द्वारा पारित किए गए सकंल्प का मूल पाठ :

1. पत्राचार में चर्चित प्रश्न अति व्यावहारिक कठिनाई वाला है।

2. इस बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता कि महार याचिकादाता के पक्ष में अमूर्त न्याय है और सरकार का विश्वास है कि धारवाड़ में शिक्षा के वर्तमान साधनों का उपयोग करने से फिलहाल जो पूर्वाग्रह उसे रोक रहे हैं, वे संभवतः काफी पहले दूर कर दिए गए हों।

3. लेकिन सरकार को यह ध्यान में रखना ही होगा कि यदि किसी एक या चंदव्यक्तियां के लिए सरसरी तौर पर युगों पुराने पूर्वाग्रहों के साथ छेड़छाड़ की जाएगी, तो उससे संभवतः शिक्षा के ध्येय को भारी क्षति पहुंचेगी। याचिकादाता को जिस असुविधा का सामना करना पड़ रहा है, वह ऐसी नहीं है, जिसकी शुरुआत इस सरकार ने की है और जिसे सरकार उसके पक्ष में तुरंत हस्तक्षेप करके दूर कर दे, जैसी कि याचना उसने की है।

** दिनांक 28 अप्रैल 1858 के डिस्पैच में (संख्या 58) कोर्ट आफ डायरेक्टर्स ने इस विषय पर निम्नलिखित आदेश दिया: ''सरकारी शिक्षा संस्थाएं हमने इसलिए खोली हैं कि उलमें सभी जातियों के बच्चे पढ़ सकें और हम उस सिद्धान्त से विचलित नहीं हो सकते जो मूलतः स्वीकार्य है और जिसे सर्वाधिक प्रमुखता दी जानी चाहिए। यह संभव है कि कुछ मामलों में इस सिद्धान्त को लागू करने से कुछ छात्र स्कूल जाना छोड़ दें। लेकिन यह कहना पर्याप्त है कि जो व्यक्ति उसके व्यावहारिक प्रवर्तन पर आपत्ति करते हैं, उन्हें यह छूट होगी कि वे धन देना बन्द कर दें और एक अलग आधार पर स्कूल खोलने के लिए अपने धन का उपयोग कर सकें।''

इस पत्र के प्राप्त होने के बाद यह संकल्प किया गया कि भारत सरकार को यह आश्वासन दिया जाए कि यह सरकार ऐसे किसी साधन की यथाशक्ति उपेक्षा नहीं करेगी, जिसके द्वारा देश भर के स्कूलों का स्वरूप उतना विशिष्ट न हो जितना कि जाति के मामले में वे व्यवहार रूप में हैं, लेकिन शर्त यह है कि ऐसा करते समय सरकारी स्कूल की सामान्य प्रतिष्ठा पर आंच न आए और उनकी दक्षता बनी रहे और वह उद्देश्य सफल हो, जिसके लिए उनकी स्थापना की गई है। यह भी निश्चय किया गया कि इस बारे में जांच की जाए कि उस सिद्धान्त का व्यवहार पक्ष क्या है? जिसके बारे में कहा जाता है कि वह प्रचलित है और सरकारी स्कूलों की सामान्य उपयोगिता पर कुप्रभाव डाल रहा है।

11. बंगाल में प्रचलित प्रणाली के बारे में की गई जांच से पता चला कि भारत सरकार की मान्यता के विपरीत बंगाल के अधिकारियों ने यह भार शिक्षा संबंधी जिला समितियों पर छोड़ दिया कि वे हर मामले में स्थानीय लोगों की भावनाओं को देखते हुए छोटी जातियों के छात्रों को प्रवेश दें या न दें। इसका नतीजा यह निकला कि दलित जातियां उपेक्षित रह गईं, क्योंकि स्पृश्य जातियां उन्हें विद्या मंदिरों में घुसने नहीं देंगी, जिनकी स्थापना सरकार ने अपने समस्त प्रजाजनों के लिए की थी।

12. इन परिस्थितियों में 1854 के डिस्पैच में उल्लिखित जन शिक्षा व्यवहार रूप में दलित जातियों को छोड़कर शेष सभी को उपलब्ध थी। 1854 में दलित जातियों की शिक्षा पर से भी प्रतिबंध उठाया गया। वह केवल नाममात्र का प्रयास था। भले ही बहिष्कार न करने के सिद्धान्त की पुष्टि सरकार ने कर दी थी पर व्यवहार में बड़ी सफाई से उसकी अनदेखी की गई। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रतिबंध व्यवहार में पहले की तरह बना रहा।

दलितों को शिक्षित करने का जिम्मा जो संस्था ले सकती थी, वह केवल ईसाई मिशनरी थी। माउंट स्टुअर्ट एलफिस्टन के शब्दों में उन्हें 'दलित जातियां सर्वोत्तम जातियां लगी।' किन्तु सरकार धार्मिक तटस्थता पर कृत-संकल्प थी और मिशनरी स्कूलों को सहायता नहीं दे सकती थी। यहां तक कि इस अवधि के प्रारम्भ में इस प्रेसिडेंसी ने कोई आर्थिक अनुदान नहीं दिया था, यद्यपि 1854 के शिक्षा संबंधी डिस्पैच में मिशनरी स्कूलों को अनुदान देने पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया था।

13. इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए सरकार ने दो उपाय किए: (1) छोटी जातियों के बच्चों के लिए अलग सरकारी स्कूलों की स्थापना की गई, और (2) अनुदान सहायता के नियमों में ढील देकर मिशनरी संस्थाओं को शिक्षा कार्य में विशेष प्रोत्साहन दिया गया। यदि ये दो उपाय न किए गए होते, तो दलित जातियों को शिक्षित करने के कोई परिणाम नहीं निकलते। 1882 में हंटर आयोग की समीक्षानुसार ये परिणाम अति अल्प थे।

III - 1882 से 1928 तक

14. 1882 के बाद 1923 में बंबई प्रेसिडेंसी की शिक्षा के इतिहास में नये विशेष अध्याय का सूत्रपात हुआ। उस साल प्राथमिक शिक्षा प्रांतीय सरकार के स्थान पर स्थानीय निकायों को सौंप दी गई। इसलिए यह युक्तिसंगत होगा कि 1923 की स्थिति का जाएजा लिया जाए। बंबई प्रेसिडेंसी में 1923 में शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में विभिन्न वर्गों की स्थिति निम्नांकित सारणी में दर्शाई गई है:

प्रेसिडेंसी में लोगों की श्रेणियां*	जनसंख्या-नुसार	शिक्षानुसार क्रम		
	क्रम	प्राथमिक	माध्यमिक	कालिज वाली
उन्नत हिन्दू	चतुर्थ	प्रथम	प्रथम	प्रथम
मध्य क्रम के हिन्दू	प्रथम	तृतीय	तृतीय	तृतीय
पिछड़े हिन्दू	द्वितीय	चतुर्थ	चतुर्थ	चतुर्थ
मुस्लिम	तृतीय	द्वितीय	द्वितीय	द्वितीय

15. इस सारणी से हमें पता चलता है कि शिक्षा की दृष्टि से इन विभिन्न जातियों की तुलनात्मक उन्नति में भारी विषमता है। जनसंख्या की दृष्टि से इन लोगों की जो श्रेणी है और शिक्षा को प्राप्त करने की दृष्टि से उनकी जो श्रेणी है, उसके अनुसार यदि इनकी तुलना की जाए तो हम देखते हैं कि मध्य क्रम जो आबादी की दृष्टि से प्रथम श्रेणी का है, वह कालेज की शिक्षा की दृष्टि से तृतीय श्रेणी का है, माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से तृतीय श्रेणी का है और प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से तृतीय श्रेणी का है। दलित वर्ग जो आबादी की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी में है वह कालेज शिक्षा की दृष्टि से चतुर्थ श्रेणी अर्थात अंतिम श्रेणी में है, माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से अंतिम श्रेणी में और प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से भी अंतिम श्रेणी में है। मुसलमान जो आबादी की दृष्टि से तीसरी श्रेणी में है, वे कालिज शिक्षा की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी, माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी और प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी में हैं, जब कि उन्नत हिन्दू जिन्हें आबादी की दृष्टि से चौथा स्थान प्राप्त हैं, उन्हें कालिज शिक्षा की दृष्टि से प्रथम स्थान, माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से प्रथम स्थान और

* बंबई सरकार के शिक्षा विभाग ने इस प्रेसिडेंसी के लोगों को विभागीय प्रयोजनों के लिए चार अलग-अलग श्रेणियों में रखा है। एक में ब्राह्मण और संबंधित जातियां है, जिन्हें संयुक्त रूप से उन्नत हिन्दू कहा जाता है। मराठों और संबंधित जातियों को मध्य क्रम के हिन्दू नामक अलग श्रेणी में रखा गया है। बाकी लोग जिनमें दलित जातियां, पर्वतीय आदिमजातियां और जरायम पेशा जातियां शामिल हैं उनकी एक अलग श्रेणी है जिसे पिछड़ा वर्ग कहते हैं। इन तीन श्रेणियों में एक चौथी श्रेणी जोड़ी गई है, जिसमें प्रेसिडेंसी और सिंध के मुसलमान शामिल हैं।

प्राइमरी शिक्षा की दृष्टि से भी प्रथम स्थान प्राप्त है। इसके आधार पर हम निस्संकोच कह सकते है कि सापेक्षत: इस संबंध में 1882 की स्थिति की तुलना में कोई सुधार नहीं हुआ हैं।

16. उपरोक्त विवरण से जो बंबई प्रेसिडेंसी के जन शिक्षा निदेशक की 1923-24 की रिपोर्ट पर आधारित है, यही स्पष्ट होता है कि विभिन्न जातियों की शैक्षिक उन्नति में अन्तर है। परन्तु विभिन्न जातियों के बीच शिक्षा में अंतर कोई बड़ी बात न होती, यदि यह खाई बहुत गहरी न होती। जब तक हम विषमता के अंतर को न जान लें, तब तक हम किसी महत्त्वपूर्ण निश्चय पर नहीं पहुंच सकते। स्थिति को इस दृष्टि से स्पष्ट करने के लिए निम्नांकित सारणी प्रस्तुत है:

लोगों की श्रेणियां	लोगों की श्रेणी प्रति एक हजार छात्र	माध्यमिक शिक्षा आबादी के अनुपात में प्रति एक लाख छात्र	कालिज की शिक्षा आबादी के अनुपात में प्रति दो लाख छात्र
उन्नत हिन्दू	119	3000	1000
मुस्लिम	92	500	52
मध्य क्रम वर्ग	38	140	14
पिछड़ा वर्ग	18	14	शून्य और यदि हो भी तो एकाध।

17. उपरोक्त आंकड़ों से पता चलता है कि प्राथमिक, माध्यमिक और कालिज शिक्षा में प्रत्येक समुदाय दूसरों से कितना आगे है। इनसे पता चलता है कि इस प्रेसिडेंसी में विभिन्न जातियों के बीच कितना अलग-अलग अंतर है। इससे पता चलता है कि कुछ जातियों की स्थिति अत्यंत दयनीय है। उपरोक्त आंकड़ों से दो निर्विवाद तथ्य प्रकट होते हैं: (1) इस प्रेसिडेंसी में पिछड़े वर्गों की शिक्षा की स्थिति दयनीय है। आबादी की दृष्टि से उन्हें द्वितीय जैसा उच्च स्थान प्राप्त हैं, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें ऐसा स्थान प्राप्त है, जो न केवल अंतिम है, बल्कि न्यूनतम भी है और (2) प्रेसिडेंसी के मुसलमानों ने शिक्षा के क्षेत्र में लम्बे-लम्बे डग भरे हैं, यहां तक कि 30 वर्ष की अल्प अवधि में उन्होंने न केवल मध्य क्रम तथा पिछड़े वर्ग जैसी अन्य जातियों को बहुत पीछे छोड़ दिया है, बल्कि वे ब्राह्मणों तथा संबधित जातियों

के निकट भी आ गए हैं।

18. इसका क्या कारण हो सकता है? इस शाश्वत प्रश्न का फिर वही उत्तर है, सरकार के असमान व्यवहार की नीति। दो वर्गों के प्रति बर्ताव कितना असमान रहा है, वह शिक्षा की पंचवर्षीय रिपोर्ट के अंशों से प्रकट है। शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों के साथ किए गए व्यवहार के बारे में तीसरी पंचवर्षीय रिपोर्ट (1892-96) में दिए गए विचार उल्लेखनीय हैं:

''बंबई में मुस्लिमों की शिक्षा के आंकड़ों के संबंध में. . . निदेशक की टिप्पणी है कि 'यदि परिस्थितियां प्रतिकूल न होतीं' तो वृद्धि और अधिक होती। बंबई में बहुत पहले ही समझ लिया गया है कि मुसलमानों ने आबादी के अन्य वर्गों की अपेक्षा सार्वजनिक संस्थाओं का अधिक उपयोग किया. . . मुसलमानों की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए क्या किया गया, इस आम प्रश्न पर निदेशक ने कहा है:

''पहली बात तो यह है कि हर जिले में डिप्टी या सहायक डिप्टी इंस्पेक्टर के रूप में एक मुसलमान अधिकारी की नियुक्ति की गई है और हमारे यहां शोलापुर और हैदराबाद में तीन स्नातक मुसलमान डिप्टी हैं, जब कि चौथे को राजस्व विभाग में उच्च वेतनमान पर भेज दिया गया है। इस तरह एक भी जिला ऐसा नहीं है, जहां की मुस्लिम आबादी से कर्मचारी वर्ग का सम्पर्क नहीं है। फिर बंबई, कराची और जूनागढ़ (काठियावाड़ का मुस्लिम राज्य) में मुसलमानों के लिए हाई स्कूल खोलने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए हैं, जिनमें फीस कम है। अन्य अंजुमनों ने अन्यत्र छोटे-छोटे स्कूल भी खोले हैं। कुछ क्षेत्रों में विभाग ने भी उनके हित में विशेष स्तर रखे हैं और विशेष स्कूल खोले हैं और प्रांतीय तथा स्थानीय लोगों की एक तिहाई छात्रवृत्तियां उनके लिए आरक्षित रखी हैं। खान बहादुर काजी शहाबुद्दीन (कभी बड़ौदा के दीवान थे) ने उनके लिए विशेष छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की और सिंध में खैरपुर के देशी राज्य के वारिस ने भोजन संबंधी कुछ छात्रवृत्तियां आर्ट कालिज के छात्रों को दी हैं (मैनें बड़ी कठिनाइयों से इन्हें भरा है हालांकि वे 25 रुपये प्रतिमास की है) फीस के मामले में प्राथमिक स्कूलों में मुसलमानों के साथ बहुत उदारता बरती जाती है। उन्हें प्रशिक्षण कालिजों में बुलाने के लिए विशेष नियम बनाए गए हैं और उनकी परीक्षा प्रणाली हिन्दुओं की अपेक्षा सरल है। बंबई की संयुक्त स्कूल समिति ने काफी अर्से से मुसलमानों में शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए एक मुसलमान डिप्टी इंस्पेक्टर की नियुक्ति की --''

19. दलित जातियों की शिक्षा के बारे में पांचवी पंचवर्षीय रिपोर्ट (1902-07) में व्यक्त विचारों की तुलना इससे करें:

959 बंबई ''बंबई की सेन्ट्रल डिवीजन में छोटी जातियों के छात्रों को स्कूलों में नि:शुल्क दाखिला दिया जाता है और उन्हें पुस्तकों, स्लेटों आदि के रूप में उपहार दिए जाते हैं-- काठियावाड़ में दलित जातियों के केवल तीन छात्र पढ़ रहे हैं। दक्षिणी डिवीजन में उनके

लिए 72 विशेष स्कूल अथवा कक्षाएं चल रही हैं, जिन्हें अधिकांश अप्रशिक्षित अध्यापक चला रहे हैं।"

20. इस असमान व्यवहार का जन्मदाता हंटर आयोग है। हंटर आयोग ने मुसलमानों का कितना पक्ष लिया, यह स्पष्ट हो जाएगा, यदि हम मुसलमानों के लिए इसके द्वारा की गई सिफारिशों की तुलना दलितों के हितों के संबंध में की गई उसकी सिफारिशों से करें। मुसलमानों के बारे में इस आयोग ने 17 सिफारिशें की थीं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

1. मुसलमानों में शिक्षा को दिया जाने वाला विशेष प्रोत्साहन स्थानीय नगरपालिका और प्रांन्तीय कोष पर वैध प्रभार माना जाए।
7. मुसलमानों में उच्च अंग्रेजी शिक्षा को, चूंकि यह ऐसी शिक्षा है, जिसमें उसी समुदाय को विशेष सहायता की जरूरत है, उदारतापूर्वक प्रोत्साहित किया जाए।
8. जहां जरूरी हो, मुसलमानों के लिए विशेष क्रमबद्ध छात्रवृत्तियां आरम्भ की जाएं जो (क) प्राथमिक स्कूलों और मिडिल स्कूलों में भी; (ख) मिडिल स्कूलों और हाई स्कूलों में भी; (ग) दसवीं कक्षा और प्रथम कला परीक्षाओं के परिणामों के आधार पर और कालिजों में भी दी जाएं।
9. सरकारी कोष से चलाए जाने वाले स्कूलों की सभी कक्षाओं में नि:शुल्क रखे जाने वाले छात्रों का एक निश्चित अनुपात मुसलमान छात्रों के लिए स्पष्ट रूप से आरक्षित किया जाए।
10. जहां पर मुसलमानों के कल्याण के लिए शैक्षिक धर्मार्थ कोष हैं और वे सरकार के प्रबंधन में हैं, वहां पर प्रत्येक धर्मार्थ खाते के कोष को केवल मुसलमानों में शिक्षा के प्रसार पर खर्च किया जाए।
11. जहां मुसलमान, निजी संस्थाओं अथवा व्यक्तियों के प्रबंध के अंतर्गत कार्य कर रहे हैं वहां सहायतानुदान प्रणाली के आधार पर अंग्रेजी की शिक्षा देने वाले स्कूलों अथवा कालिजों को स्थापित करने के लिए उन्हें उदार सहायतानुदान के रूप में प्रोत्साहन दिया जाए।
12. जहां जरूरी हो, वहां मुसलमान शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए नार्मल स्कूल अथवा कक्षाएं खोली जाएं।
14. मुसलमानों के प्राथमिक स्कूलों के निरीक्षण के लिए अब तक की अपेक्षा अधिक मुसलमान निरीक्षक अधिकारियों की नियुक्ति की जाए।
17. शिक्षित मुसलमानों और अन्य वर्गों को दिए जाने वाले संरक्षण के प्रश्न पर स्थानीय सरकारों का ध्यान दिलाया जाए।

21. हंटर आयोग ने जो सिफारिशें की हैं, इनमें से प्रत्येक दलित जातियों के हित में

भी आवश्यक थी। परन्तु जब हम पिछड़ी जातियों के हितों में आयोग द्वारा की गई सिफारिशों का विश्लेषण करते हैं, तो वे ऐसे निदेश नहीं देतीं कि पिछड़ी जातियों की शिक्षा को सरकारी कोष पर वैध प्रभार माना जाए, छात्रवृत्तियां उनके लिए आरक्षित की जाएं, उनकी शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं की देखरेख के लिए विशेष निरीक्षक रखे जाएं अथवा उनमें शिक्षा के प्रसार को बढ़ावा देते हुए उन्हें सार्वजनिक संरक्षण प्रदान किया जाए। आयोग ने तो मात्र इतना कहा है कि (1) इस सिद्धान्त की अब पुष्टि की जाए कि जाति के आधार पर किसी छात्र को स्कूल या कालिज में प्रवेश पाने से इंकार नहीं किया जाए और यह सिद्धान्त ऐसी प्रत्येक संस्था पर लागू किया जाए, जो विशेष जातियों के लिए आरक्षित नहीं हैं और जो सरकारी कोष, चाहे वह प्रांतीय हो, नगरपालिका का हो अथवा स्थानीय हो, से पूरी तरह चलाई जा रही हैं। (2) जिन क्षेत्रों में ऐसे छात्र पर्याप्त संख्या में है, जिनसे कि अलग स्कूल या कक्षाएं खोली जा सकें और जहां सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल उन्हें पर्याप्त शिक्षा नहीं देते हैं, वहां छोटी जातियों के बच्चों के लिए विशेष पृथक् स्कूल या कक्षाएं खोली जाएं। वास्तव में आयोग ने मुसलमानों के बारे में जो सिफारिशें की थीं, वे उनके बजाए पिछड़ी जातियों के हित साधन के लिए जरूरी थीं। चूंकि हंटर आयोग को भी, जिसकी अध्यक्षता ऐसा व्यक्ति कर रहा था, जिसके मन में मुसलमानों के प्रति प्रत्यक्ष सहानुभूति थी, स्वीकार करना पड़ा कि "1871-73 की जांच से यह सिद्ध हो गया है कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र के अलावा मुसलमानों के पिछड़ेपन को बढ़ा चढ़ाकर बताने की प्रवृत्ति रही है।" इसके बावजूद हंटर आयोग ने जो सिफारिशें की हैं, वे वही दो हैं, जिनका उल्लेख किया गया है। दलितों को इन दोनों सिफारिशों से भी कोई विशेष लाभ नहीं मिलता। सिद्धांत की पुष्टि निरर्थक है, भले ही वह पांचवीं बार की गई हो। आयोग द्वारा लगाए गए परन्तुक के अतंर्गत इस सिद्धान्त को व्यवहार में नहीं लाया जाना था। इसी प्रकार दलित जातियों के लिए अलग से स्कूल खोलना भी संभव नहीं था। जिस सरकार के सामने प्राथमिक शिक्षा देने का कार्य है, उसके लिए अलग स्कूल खोलना संभव नहीं है, क्योंकि उसमें अतिरिक्त खर्च होगा। इसके अलावा यह परन्तुक कि ऐसे स्कूल उन स्थानों पर खोले जाएं, जहां पिछड़ी जातियां बहुतायत में हैं, सिफारिशों को नकारने के लिए पर्याप्त था। इसका सीधा सा कारण यह है कि देहातों में एक ही बस्ती में पिछड़ी जातियां मुश्किल से बड़ी संख्या में मिल सकती हैं।

22. यह समझना मुश्किल है कि हंटर आयोग ने पिछड़ी जातियों की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं की ओर इतना नगण्य ध्यान क्यों दिया? यदि उसने मुसलमानों के प्रति उदारता को आवश्यक समझा था, तो उसे कम से कम यह तो देखना चाहिए था कि न्याय की दृष्टि से तो यह उदारता पिछड़ी जातियों के प्रति होनी चाहिए थी जो शिक्षा, धन और सामाजिक हैसियत में मुसलमानों से कहीं पीछे थीं। जब एक बार हंटर आयोग ने पिछड़ी जातियों को पृष्ठभूमि में धकेल दिया है, तो वे वहीं पर रहें और सरकार ने उनकी ओर कभी कोई ध्यान

नहीं दिया। इस उपेक्षा की मिसाल के तौर पर दिल्ली में भारत सरकार के शिक्षा विभाग के 21 फरवरी 1913 के संकल्प की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। भारत सरकार की ओर से अब तक जारी संकल्पों में यह सबसे महत्वपूर्ण था, जिसमें उसने फैसला किया कि "कई प्रांतों में शिक्षा की व्यापक प्रणालियों के प्रसार के लिए धन उपलब्ध होने पर सरकारी खजाने से भारी अनुदान देकर स्थानीय प्रशासनों की मदद की जाए"। उस संकल्प में उन्होने प्रांतीय सरकार को विशेष रूप से बताया कि 'अधिवासी जाति' तथा मुस्लिम जाति की शिक्षा संबंधी आवश्यकताएं क्या-क्या हैं ? परन्तु पूरे संकल्प में कहीं भी पिछड़ी जातियों का कोई उल्लेख नहीं है। बंबई सरकार ने झटपट सुझाव स्वीकार कर लिया और 1913 में मुसलमानों में शिक्षा के प्रसार के संबंध में सिफारिश करने वाली शिक्षा समिति में एक मुसलमान को शामिल कर लिया। सरकार की ऐसी आपराधिक उपेक्षा के प्रति कोई क्षोभ उचित ही होगा, खास तौर पर जब यह अनुभव किया जाए कि 1913 के बाद भारत सरकार ने, जो भारी अनुदान दिए थे, वे महामहिम सम्राट की उदार घोषणा को मूर्त रूप देने के लिए दिए गए थे। सम्राट ने यह घोषणा उस समय की थी, जब वह 6 जनवरी 1912 को कलकत्ता विश्वविद्यालय के मानपत्र का उत्तर दे रहे थे। उन्होंने कहा था:

"मेरी यह कामना है कि इस पूरे देश में स्कूलों और कालिजों का जाल बिछ जाए जहां से वफादार साहसी और उपयोगी नागरिक बनकर निकलेगें, जो उद्योग और कृषि और जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने बलबूते पर टिक सकेंगे। मेरी यह भी कामना है कि मेरी भारतीय प्रजा के घरों में ज्ञान के प्रसार से प्रकाश फैले। उस ज्ञान के फलस्वरूप चिन्तन, सुख-सुविधा, श्रम और स्वास्थ्य का एक उच्चतर स्तर आए। शिक्षा के माध्यम से ही मेरी कामना फलेगी और फूलेगी और भारत में शिक्षा का उद्देश्य मेरे हृदय का सबसे अति प्रिय धर्म होगा।"

IV. 1923 के बाद

23. सुधार कानून 1921 से लागू हुआ। शिक्षा को एक मंत्री के अधीन हस्तांतरित कर दिया गया और स्वाभाविक रूप से उससे तीव्र विकास की अपेक्षा की गई। लेकिन दलित जातियों को इसमें संदेह था कि शिक्षा के विषय को मंत्रियों के हाथ में देने से उन्हें कोई लाभ होगा भी। इस मामले में वे नौकरशाही के हाथों काफी कष्ट उठा चुके थे। पहले चरण में तो नौकरशाहों ने शिक्षा का उन्हें लाभ उठाने ही नहीं दिया। दूसरे चरण में नौकरशाही ने उन्हें शिक्षा प्रदान करने में कोई सहायता नहीं की। इसके साथ ही नौकरशाही इस सिद्धान्त को नकारने में अति कुशल थी कि पिछड़ी जातियों को शिक्षा प्राप्त करने का कोई अधिकार है। पिछड़ी जातियां इतनी कुशल नहीं थी कि नौकरशाही का स्थान लेने के लिए संघर्षरत भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग से उसी कुशलता से अपने अधिकार का आग्रह कर सके। चूंकि भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की जड़ें उस अतीत में जमी हुई थीं, जिसमें पिछड़े वर्ग को कोई

मान्य अधिकार नहीं थे। अत: पिछड़े वर्ग को आशंका थी कि वर्तमान में भी अतीत को पुनर्जीवित कर दिया जाए।

24. दुर्भाग्य से उनकी आशंकाएं सही साबित हुईं और यह कहना सही हो सकता है कि बंबई प्रेसिडेंसी में इन सुधारों के अधीन पिछड़ी जातियों की स्थिति बद से बदतर हो गई। मौजूदा हालात में यह एक अति कटु टिप्पणी लग सकती है, लेकिन अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम (बंबई प्रेसिडेंसी अधिनियम संख्या 4, 1923) ने बंबई प्रेसिडेंसी के पिछड़े वर्गों के लिए जो स्थिति पैदा कर दी, उसे किसी अन्य प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम एक अति महत्वपूर्ण दृष्टि से पाखंड है। यह प्रणाली पहले की ही भांति स्वैच्छिक है और सदा ही वैसी ही बनी रहेगी, क्योंकि न तो उसे अनिवार्य बनाने के लिए कोई दायित्व डाला गया है और न ही उस दायित्व की पूर्ति के लिए कोई समय सीमा निर्धारित की गई है। इसके अलावा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम ने प्राथमिक शिक्षा पर नियंत्रण के लिए प्रशासनिक तंत्र में अति अनाप शनाप परिवर्तन कर दिए। अभी तक तो प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण तथा प्रबंधन प्रांतीय सरकार को सौंपा गया था और प्राथमिक शिक्षा के लिए सारा खर्च प्रांतीय राजस्व से मिलता था, सिवाए स्थानीय बोर्डों के उस छोटे से अनुदान के जो कतिपय सुस्पष्ट स्रोतों से उनके राजस्व का एक तिहाई होता था। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम के अधीन स्थिति पलट गई है। अब स्कूलों का नियंत्रण और प्रबंधन जिला स्कूल बोर्डों को सौंप दिया गया है (जो स्थानीय जिला बोर्डों की समितियां हैं) और बजाए इसके कि स्थानीय बोर्ड प्रांतीय सरकार को अनुदान राशि दे, उल्टे प्रांतीय सरकार से अपेक्षा की जाती है कि वह जिला स्कूल बोर्डों को अनुदान दे। इतनी निरकुंश भावना से यह परिवर्तन किया गया कि अधिनियम इन स्कूल बोर्डों को अपना निजी कार्यकारी अधिकारी नियुक्त करने का अधिकार देता है। ऐसा विशेषाधिकार तो बंबई नगरपालिका जैसे उन्नत निगम को भी नहीं दिया गया है।

25. सभा का विचार है कि यह परिवर्तन बहुत क्रांतिकारी है और निश्चय ही यह प्रेसिडेंसी के सर्वोत्तम हित विशेषत: पिछड़ी जातियों के हित के प्रतिकूल होगा। यह बात ध्यान में रखनी ही होगी कि शिक्षा की महती आवश्यकता को जनता के सभी वर्गों ने नहीं समझा है। आम धारणा यह है कि शिक्षा से सरोकार केवल ब्राह्मणों का ही है। केवल चंद लोग ही ऐसे हैं, जिन्होंने शिक्षा के प्रसार की राजनीति अपनाई है। स्कूल बोर्ड में तो ऐसे अनेक अनभिज्ञ ग्रामीण होंगे, जो इस परम्परा में पले हों कि शिक्षा से तो केवल ब्राह्मणों का ही वास्ता है। अत: वे तो उसके प्रति उदासीन ही रहेंगे और उसे अनिवार्य बनाए जाने का विरोध ही करेंगे। यदि शिक्षा का कुशलता से संचालन करना है, तो इसे कुछ समय के लिए विधान परिषद के सीधे नियंत्रण में प्रांतीय सरकार के पास ही रहने दिया जाए, वहां कुछ ऐसे राजनेता होंगे जो शिक्षा की आवश्यकता को समझते होंगे। अत: शिक्षा का काम शिक्षा विभाग से लेकर

स्कूल बोर्डों को सौंप देने का अर्थ होगा कि उसे विश्वासपात्र क्षेत्रों से छीनकर अयोग्य हाथों में सौंप दिया गया है। यदि हस्तांतरण सामान्य रूप से शिक्षा की प्रगति में बाधक है, तो यह दलितों के लिए तो विशेष रूप से हानिकारक है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भले ही इस बात में कुछ संदेह हो सकते हैं कि आम आदमी शिक्षा में विश्वास रखता है या नहीं, परन्तु एक बात निश्चित है कि वह पिछड़े वर्गों को शिक्षित बनाने में विश्वास नहीं रखता। छोटी जातियों को प्राथमिक शिक्षा दिए जाने के बारे में ऊंची जातियों का जो रवैया है, उसके विषय में हंटर आयोग ने कहा है, "अनेक गवाहों ने बयान दिया है कि छोटी जातियों के बालकों को स्कूलों में दाखिला दिए जाने का स्पष्ट विरोध किया गया है। मद्रास के गवाह ने उस मामले का उल्लेख किया है जिसका संबंध कालीकट में प्राचीन दास जाति चेरूमांओं के लिए खोले जा रहे स्कूल से था, परन्तु नायर और तिया स्कूल के रास्ते में ही लड़कों के हाथों से उनकी पुस्तकें छीन लिया करते थे। इस विषय पर विचार-विमर्श के दौरान हमें बताया गया कि मध्य प्रांत और बंबई के कुछ भागों में ग्रामीण समुदाय ने छोटी जातियों की शिक्षा पर विशेष आपत्तियां इस आधार पर उठाईं कि शिक्षा से उनका जीवन उन्नत हो जाएगा और उन्हें प्रेरणा मिलेगी कि वे अपने वर्तमान दासता भरे जीवन से मुक्ति पाने का प्रयास करें। बंबई के जन शिक्षा निदेशक ने अपनी 1896-97 की रिपोर्ट में एक मामले का उल्लेख किया है, जिसमें कैरा जिले के स्थानीय अधिकारियों ने इस कार्यवाही की अपेक्षा की कि छोटी जातियों के छात्रों को स्कूल में दाखिला दिया जाए। इसका फल यह हुआ कि पांच-छः बड़े-बड़े स्कूल वर्षों तक बंद पड़े रहे और एक गांव में तो छोटी जातियों के लोगों की झोंपड़ियां और फसलें जला दी गईं और दो वर्षों तक के लिए उस गांव पर भारी जुर्माना ठोक दिया गया।"

26. जब ग्रामीण समुदायों का ऐसा व्यवहार हो, तो कैसे यह आशा की जा सकती है कि ऐसे स्कूल बोर्ड जिसमें अधिकांश ग्रामीण समुदायों के लोग होंगे, कैसे दलित जातियों की शिक्षा के मामले में अपने कर्तव्य का निष्ठा से पालन करेंगे? शिक्षा का नियंत्रण स्कूल बोर्डों के हाथ में देने से वही स्थिति होगी, जैसे अभियोक्ता को शासक बना दिया जाए। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पिछड़ी जातियों ने स्कूल बोर्डों को प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण दिए जाने की निंदा करने वाले संकल्प पारित किए हैं। यदि दलित जातियों के प्रतिनिधियों को पर्याप्त संख्या में बोर्डों में रखा जाता तो कुछ राहत मिलती। पर ऐसी बात नहीं हैं। दलित जातियों को काउंसिल से लेकर स्थानीय बोर्डों तक के स्वशासी निकायों में प्रतिनिधित्व देने की योजना सरकार ने उस अभिभावक की तर्ज पर बनाई है, जो नहीं चाहता कि उसके संग्रहालय में हर प्रजाति का एक से अधिक नमूना हो। सरकार स्थानीय जिला बोर्ड में दलित जातियों का एक ही प्रतिनिधि मनोनीत करती है, जब कि कुल सदस्य 40 के करीब होते हैं और स्कूल बोर्डों से कहा गया है कि वे दलित जाति के एक सदस्य को सहयोजित करें। सहयोजन

के सिद्धान्त में सदा गलत व्यक्ति के सहयोजन का खतरा रहता है। हाल ही में स्कूल बोर्ड के चुनावों में पूर्वी खानदेश के दलित वर्गों को इस खतरे का सामना करना पड़ा। लेकिन यदि सही व्यक्ति को सहयोजित कर लिया जाता है तो 15 सदस्यों की विरोधी टोली में, जो स्कूल बोर्ड की अधिकतम संख्या है, एक अकेला व्यक्ति क्या कर सकता है।

27. यदि सरकार दलित जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार सच्चे मन से करना चाहती है, तो कुछ ऐसे उपाय हैं, जो सरकार को करने ही चाहिए। सभा का अपना विश्वास है कि सरकार को इस संबंध में क्या करना चाहिए और उन्हें क्रमवार प्रस्तुत करना चाहती है:

1. जब तक अनिवार्य शिक्षा अधिनियम को रद्द नहीं किया जाता और स्कूल बोर्डों को प्राथमिक शिक्षा का हस्तांतरण बंद नहीं किया जाता, तब तक सभा को आशंका है कि दलित वर्गों की शिक्षा के हित को भारी आघात लगता रहेगा।
2. जब तक प्राथमिक शिक्षा की अनिर्वायता को बाध्यकारी नहीं बनाया जाता और जब तक प्राथमिक स्कूलों में दाखिले के नियम का कठोरता से पालन नहीं किया जाता, तब तक पिछड़ी जातियों की शैक्षिक प्रगति के लिए आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न नहीं होगीं।
3. जब तक हंटर आयोग द्वारा मुसलमानों की शिक्षा के बारे में की गई सिफारिशों को दलित जातियों की शैक्षिक प्रगति के लिए भी लागू नहीं किया जाता, तब तक उनकी प्रगति अधूरी ही रहेगी।
4. जब तक दलित जातियों को सरकारी नौकरियों में नहीं लिया जाता, तब तक उनका शिक्षा के प्रति अनुराग नहीं बढ़ेगा।

28. सभा प्रेसिडेंसी में सुधारों के अनुसार दलित जातियों की शिक्षा के संबंध में ये टिप्पणियां करते हुए यह भूलना नहीं चाहती कि दलित जातियों की शिक्षा के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं, जिनके अनुसार कुछ छात्रावास खोले गए हैं और उच्च शिक्षा के लिए कुछ छात्रवृत्तियां भी दी गई हैं। परन्तु सभा यह कहना चाहती है कि जब तक प्राथमिक शिक्षा के प्रसार को सुनिश्चित करने के लिए कदम नहीं उठाए जाते, तब तक दलित जातियों की उच्च शिक्षा के लिए प्रावधान करना व्यर्थ होगा। साथ ही यह भी भरोसा नहीं कि ये रियायतें जारी भी रहेंगी। दूसरी ओर वे शिक्षा के प्रभारी मंत्री की विशेष नीति पर और विधायी परिषद में दलित जातियों की मतदान क्षमता पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। ये दोनों अस्थिर आधार हैं और उन पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

ग

वक्तव्य

जिसे बंबई प्रेसिडेंसी में दलित जातियों के हितों की अल्पसंख्यकों के रूप में रक्षा किए जाने संबंधी उपायों तथा प्रांतीय स्वायत्तता के अंतर्गत उन्हें सुनिश्चित करने हेतु बंबई विधान परिषद के गठन में आवश्यक परिवर्तन करने और उससे गारंटी प्राप्त करने के बारे में

भारतीय सांविधिक आयोग

को

बहिष्कृत हितकारिणी सभा

(दलित वर्ग संस्थान, बंबई)

की ओर से

डा. भीमराव अम्बेडकर, एम.ए.,पीएच.डी., डी.एससी., बार-एट-ला,
सदस्य, विधान परिषद, बंबई

ने दिया।

29 मई 1928
दामोदार हाल,
बंबई-12,
भारत

I - पर्याप्त प्रतिनिधित्व के माध्यम से संरक्षण

1. *आरंभिक:* सांविधिक आयोग में किसी भारतीय को नियुक्त न करने के संसद के फैसले से सभा को बड़ी राहत मिली है। यदि आयोग भारतीयों की स्वराज की मांग पर विचार करता, तो किसी भारतीय की नियुक्ति के लिए आंदोलन उचित होता, परन्तु तथ्य यह है कि आयोग को देश के विभिन्न हितों की एक ही नहीं, बल्कि अनेक मांगों पर विचार करना होगा। ऐसी स्थिति में आयोग में सभी ऐसे हितों को प्रतिनिधित्व दिए जाने के लिए आंदोलन होना चाहिए था। सभा यह बताना चाहती है कि दलित जातियां तभी सतुंष्ट होगीं, जब सांविधिक आयोग में उनके प्रतिनिधि सहित विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले भारतीयों को नियुक्त किया जाए। लेकिन सांविधिक आयोग में प्रतिनिधित्व की मांग ऐसी नहीं थी, इसलिए सभा उन लोगों से सहमत नहीं हुई, जिन्होंने इस मांग के लिए आग्रह किया था। यह सत्य है कि सभा को आयोग में दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए जितना अपने विचारों के अनुसार विरोध करना चाहिए था, उतना उसने नहीं किया। परन्तु इसका कारण यह था कि सभा ने यह महसूस किया कि इस देश में जहां वाइसराय से लेकर नीचे तक के अधिकारियों की यह आदत हो गई है कि वे मुट्ठी भर शोर मचाने वाले लोगों की बात तो सुनें और सिर झुकाए जुल्म सहने वाले करोड़ों लोगों की परवाह न करें, वहां इसकी अधिक उम्मीद नहीं की जा सकती। बर्क के शब्दों में, चूंकि हरियाली में टिड्डों की तरह आधे दर्जन राजनीतिज्ञ अपने दुराग्रही इंकार से अपनी ओर सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं, जब कि अधिसंख्य लोग एक बड़े से शाह बलूत के पेड़ तले बैठे हजारों मूक पशुओं की तरह शांत भाव से जुगाली करते रहते हैं और भारत सरकार सोचती है कि हायतौबा मचाने वाले ये राजनेता ही यहां के प्रतिनिधि हैं। इनकी संख्या भी काफी होती है, परन्तु ये नन्हे, दुबले-पतले, फुदकने वाले कीड़ों से भिन्न होते हैं, पर शोर मचाने वाले और उपद्रवी कीड़े होते हैं। परन्तु सभा का अपने विचारों के लिए आग्रह न करने का एक और कारण भी है। सभा की राय में सांविधिक आयोग में भारतीयों को शामिल न करना दलित जातियों पर कोई मामूली अनुकंपा नहीं की गई है। दलित जातियों को शामिल न किए जाने के कारण वह उस पूर्वाग्रह से बच गई है, जिसका उनके मामले पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता। सभा ने उनके मामले को आयोग के समक्ष रखने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली है।

2. *1919 में दलितों के साथ हुआ अन्याय:* मौंटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट (पैरा 151) में पूरी तरह स्वीकार किया गया कि सामाजिक विषमताओं और विभाजनों का होना भारतीय समाज का एक ऐसा निराला लक्षण है, जिसका उन विचारों के साथ तालमेल नहीं बैठता जिन पर विश्व में अन्यत्र प्रतिनिधि संस्थाएं टिकी हैं। रिपोर्ट तैयार करने वालों की मान्यता है (पैरा 153) कि "उन्हें हमें एक ऐसा मार्ग दिखाना होगा कि हम अन्यत्र प्रचलित लोक

प्रशासन की प्रणालियों का तालमेल भारतीय जीवन की विशेष परिस्थितियों से बिठा सकें।" रिपोर्ट तैयार करने वालों ने सुधारों का कड़ा विरोध करने वाली दलित जातियों को शांत करने के लिए उनके हितों की रक्षा का उपाय किया जैसा कि उनकी रिपोर्ट के पैरा 155 में दिए गए निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाएगा। उसमें कहा गया है: "हमने दर्शाया है कि रैयत की राजनीतिक शिक्षा का काम तेजी से नहीं हो सकता और इसमें बहुत कठिनाइयां हो सकती हैं। जब तक यह काम पूरा नहीं होता, तब तक यह भय बना रहेगा कि, जो उससे बलवान और चतुर होंगे, वे उस पर अत्याचार करेंगे और जब तक कि यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि उसकेहितों को उसके हाथों में निरापद रूप से छोड़ा जा सके अथवा विधायिका उसकेप्रतिनिधित्व और हितों पर विचार न करे, तब तक उसकी रक्षा के लिए हम सत्ता अपने हाथों में रखें। इस तरह दलित जातियों के बारे में हमारा इरादा यह है कि हम उनके प्रतिनिधित्व के लिए यथासंभव सर्वोत्तम व्यवस्था करें, ताकि वे भी अतंतोगत्वा आत्मरक्षा का पाठ सीख सकें। परन्तु यदि ऐसा पाया जाता है कि उनके हितों को आघात पहुंचता है और सामान्य प्रगति का लाभ उन्हें नहीं मिलता तो हमें उनकी सहायता हेतु साधनों को अपने अधिकार में रखना ही होगा --।"

3. सभा को खेद है कि साउथबरो कमेटी ने इन वायदों की घोर अवहेलना की, जब कि बाद में उसकी नियुक्ति इसलिए की गई थी कि वह मताधिकार प्रणाली की खोज करे, निर्वाचन-क्षेत्रों का गठन करे और इस बारे में सिफारिश करे कि भारत में प्रचलित विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखने में प्रस्तावित लोक प्रशासन की प्रणाली में क्या-क्या समंजन करने होंगे। साऊथबरो कमेटी दलितों के हितों की रक्षा के लिए समुचित उपाय सुझाने की समस्या के प्रति इतनी घोर उदासीन थी कि भारत सरकार को भी, जो इस मामले में खास दिलचस्पी नहीं रखती थी, साऊथबरो कमेटी की रिपोर्ट पर अपने डिस्पैच के पैरा 13 में कहना पड़ा: "हम (गैर-सरकारी मनोनयन पर) प्रस्ताव को सामान्यत: स्वीकार करते हैं, परन्तु एक जाति ऐसी है, जिसके मामले में हमें लगता है कि हमें उसकी ओर कमेटी में अधिक ध्यान देना चाहिए। भारतीय संवैधानिक सुधार संबंधी रिपोर्ट में दलित वर्गों की समस्याओं को स्पष्ट मान्यता दी गई है और सुधारों को लागू करने की प्रतिज्ञा की गई है। कमेटी की रिपोर्ट में जिन जातियों को हिन्दू-अन्य कहा गया है, भले ही उनकी व्याख्या अलग-अलग तरीके से की गई है, पर मोटे तौर पर वे एक ही प्रकार की जातियां हैं। उनके बहिष्कार में कठोरता में अंतर को छोड़कर उनकी स्थिति कमोवेश मद्रास के पंचमाओं जैसी है। निश्चित रूप से वे उस हिन्दू समाज के अंग नहीं है, जिन्हें उनके मंदिरों में प्रवेश की अनुमति दी जाती है। वे कुल आबादी का लगभग पांचवा भाग हैं और मार्ले-मिंटो काउंसिल में उन्हें कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। कमेटी की रिपोर्ट में दलित जातियों का दो बार उल्लेख हुआ है, परन्तु केवल यह बताने के लिए कि उनके मतदाताओं की संख्या संतोषजनक न होने के कारण उनके लिए

मनोनयन की व्यवस्था की गई है। इसमें इन लोगों की दशा तथा अपनी देखभाल स्वयं कर पाने की उनकी क्षमता के बारे में कोई चर्चा नहीं की गई है। ना ही उसमें बताया गया है कि उनके लिए कितने मनोनयन की व्यवस्था हो। मताधिकार कमेटी की रिपोर्ट के पैरा 24 में मनोनयन वाली सीटों के प्रतिबंधों को ऐसे आधार पर उचित ठहराया गया है, जिससे यह पता नहीं चलता कि कमेटी दलित जातियों का उल्लेख कर रही थी। इस समुदाय के लिए उसने प्रतिनिधित्व का जो मापदंड रखा है, वह इस प्रकार है:

प्रांत	कुल जनसंख्या (दस लाख में)	दलित वर्गों की जनसंख्या (दस लाख में)	कुल सीटें	दलित वर्गों के लिए सीटें
मद्रास	39.8	6.3	120	2
बंबई	19.5	0.6	113	1
बंगाल	45.0	9.9	127	1
संयुक्त प्रांत	47.0	10.1	120	1
पंजाब	19.5	1.7	85	–
बिहार तथा उड़ीसा	32.6	9.3	100	1
मध्य प्रांत	12.0	3.7	72	1
असम	6.0	0.3	54	–
कुल योग	221.4	41.9	791	7

"ये आकंड़े स्वयं सबूत हैं। यह सुझाव दिया गया है कि ब्रिटिश भारत की पूरी आबादी के पांचवे हिस्से को लगभग 800 सीटों में से सात सीटें दी जाएं। यह सच है कि सभी परिषदों में लगभग छठा भाग अधिकारियों का ऐसा होगा, जिससे अपेक्षा की जाए कि वह दलितों के हितों को ध्यान में रखेगा, परन्तु हमारे विचार में यह वह व्यवस्था नहीं है, जो सुधार संबंधी रिपोर्ट का लक्ष्य पा सके। रिपोर्ट तैयार करने वालों ने कहा है कि दलित जातियों को आत्मरक्षा का पाठ भी सीखना चाहिए। यह आशा करना निश्चय ही हास्यास्पद है कि एक ऐसी असेम्बली में जहां 60 से 90 तक सवर्ण हिन्दू हों, वहां दलितों का मात्र एक प्रतिनिधि शामिल करके वह परिणाम प्राप्त किया जाए। रिपोर्ट के पैरा 151, 152, 154 और 155 के सिद्धान्तों को सार्थक करने के लिए हमें अस्पृश्यों के साथ अधिक उदार व्यवहार करना ही होगा।"

4. सभा को इस बात की प्रसन्नता है कि अकेले उसकी ही यह राय नहीं है कि 1919 की सुधार योजना के निर्माताओं ने दलित जातियों के साथ अन्याय किया है। दो वर्ष बाद

सुधारों की इस योजना में और सुधार तथा विस्तार की संभावना पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की गई मुडीमैन कमेटी का भी यही विचार था। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट के पैरा 64 में स्वीकार किया कि दलितों को दिया गया प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है।

5. *दलित जातियों को अनिवार्यतः दिए जाने वाले प्रतिनिधित्व की मात्रा :-* दलित जातियों को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाए, जिसे पर्याप्त कहा जा सके? सभा के विचार में यह मानते हुए कि सिंध प्रेसिडेंसी से अलग हो जाएगा, बंबई विधान परिषद के गठन की निम्नलिखित योजना के बारे में ऐसा सोचा भी जा सकता है कि उससे पर्याप्त प्रतिनिधित्व की दलित जातियों की मांग पूरी हो जाएगी।

बंबई विधान परिषद का गठन

सिंध के बिना बंबई प्रेसिडेंसी के लिए

निर्वाचन क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिए आरक्षित	मुसलमानों के लिए आरक्षित	मराठों और संबद्ध जातियों के लिए आरक्षित
I सामान्य				
(क) शहरी				
1. बंबई शहर उ.	5	1	1	
2. बंबई शहर द.	3	–	–	
3. अहमदाबाद शहर	3	1	1	
4. सूरत शहर	1	–	–	
5. शोलापुर शहर	3	1	1	जैसा ऊपर
6. पूना	1	–	–	
(ख) ग्रामीण				
उत्तरी क्षेत्र				
7. अहमदाबाद जिला	5	1	1	
8. भडौच जिला	4	1	1	
9. कैरा जिला	5	1	1	
10. पचंमहाल जिला	4	1	1	
11. सूरत जिला	5	1	1	
12. थाणा जिला	5	1	1	

मध्य क्षेत्र				
13. अहमदनगर जिला	5	1	1	
14. खानदेश पूर्वी जिला	6	1	1	
15. खानदेश पश्चिमी जिला	5	1	1	
16. नासिक जिला	5	1	1	
17. पूना जिला	6	1	1	
18. सतारा जिला	6	1	1	
19. शोलापुर जिला	5	1	1	
दक्षिण क्षेत्र				
20. बेलगांव	5	1	1	
21. बीजापुर	5	1	1	
22. धारवाड़	6	1	1	जैसा अब है
23. कनारा	4	1	1	
24. कोलाबा	4	1	1	
25. रत्नागिरी	6	1	1	
कुल सामान्य सीटें	112	22	22	
II विशेष				
26. श्रमिक संघ	4			
27. विश्वविद्यालय	3			
28. यूरोपियन	4			
29. मिलमालिक	2			
30. वाणिज्य	2			
31. कृषि	3			
32. इनामदार	1			
33. सरकारी	9			
कुल विशेष सीटें	28			
कुल योग	140			

यह बंबई विधान परिषद की सदस्य संख्या रहे।

6. यदि यह निर्णय लिया जाता है कि सिंध को बंबई प्रेसिडेंसी में शामिल किया जाएगा तो सभा बंबई विधान परिषद के गठन की निम्नलिखित योजना का प्रस्ताव रखना चाहेगी:

बंबई विधान परिषद का गठन

II सिंध सहित बंबई प्रेसिडेंसी के लिए

निर्वाचन क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिए आरक्षित	मराठों और संबद्ध जातियों के लिए आरक्षित
I. गैर-मुस्लिम			
(क) शहरी			
1. बंबई शहर उ.	5	1	
2. बंबई शहर द.	4	–	
3. कराची शहर	1	–	
4. अहमदाबाद शहर	3	1	
5. सूरत शहर	2	–	
6. शोलापुर शहर	4	1	
7. पूना शहर	2	–	
(ख) ग्रामीण			
8. अहमदाबाद जिला	5	1	
9. भड़ौच जिला	4	1	जैसा अब है
10. कैरा जिला	4	1	
11. पचंमहाल जिला	4	1	
12. सूरत जिला	4	1	
13. थाणा जिला	4	1	
14. अहमदनगर जिला	4	1	
15. खानदेश पूर्वी जिला	5	1	
16. नासिक जिला	·4	1	
17. पूना जिला	5	1	
18. सतारा जिला	5	1	
19. बेलगांव	4	1	
20. बीजापुर	4	1	
21. धारवाड़	4	1	
22. कनारा जिला	4	1	

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिए आरक्षित	मराठों और संबद्ध जातियों के लिए आरक्षित
23. रत्नागिरी जिला	5	1	
24. पूर्वी सिंध जिला	2	–	
25. पश्चिमी सिंध जिला	2	–	जैसा ऊपर है
26. शोलापुर जिला	4	1	
27. कोलाबा	4	1	
28. खानदेश पश्चिमी जिला	4	1	
योग	86	22	
II. मुसलमान			
(क) शहरी			
29. बंबई शहर	2		
30. कराची शहर	2		
31. अहमदाबाद	1		
32. सूरत शहर	1		
33. पूना शहर	1		
34. शोलापुर शहर	1		
(ख) ग्रामीण			
35. उत्तरी क्षेत्र	2		
36. मध्य क्षेत्र	3		
37. दक्षिणी क्षेत्र	3		
38. हैदराबाद जिला	2		
39. कराची जिला	2		
40. लरकाना जिला	2		
41. सक्खर जिला	2		
42. थार तथा पारकर जिला	2		
43. नवाबशाह जिला	2		
44. ऊपरी सिंध सीमा	2		
योग	30		

निर्वाचन-क्षेत्र	कुल सीटें	दलित जातियों के लिए आरक्षित	मराठों और संबद्ध जातियों के लिए आरक्षित
III. विशेष			
45. श्रमिक संघ	4		
46. विश्वविद्यालय	2		
47. यूरोपीय	4		
48. मिलमालिक	1		
49. वाणिज्य	1		
50. कृषि	1		
51. इनामदार और जागीरदार	2		
52. अधिकारी	9		
योग	24		
कुल योग	140		

परिषद की यह कुल सदस्य संख्या रहे।

7. दोनों मामलों में 140 सदस्यों की परिषद में दलितों के 22 प्रतिनिधियों की मांग सभा ने की है। सभा यह जोर देकर कहना चाहती है कि 140 की परिषद में दलितों का यह प्रतिनिधित्व न्यायोचित है। सभा इससे अवगत है कि कुछ लोग कह सकते हैं कि यह मांग बहुत ज्यादा है। इस बात को दलित जातियों के प्रति पूर्वाग्रह ही समझा जाना चाहिए। उसके बारे में नहीं कहा जा सकता कि उसका कोई निश्चित आधार है। सभा का विचार है कि दलितों की संख्या का सही आकलन इस प्रकार के विचारों की भ्रांति दूर करने का सही आधार होगा क्योंकि यह स्वीकार किया ही जाना चाहिए कि जनसंख्या ही ऐसा एक मापदंड है, जिसके आधार पर किसी समुदाय का प्रतिनिधित्व निश्चित किया जा सकता है। अतः दलितों की सही संख्या की गणना विशेष महत्व का मामला है। 1919 में बंबई प्रेसिडेंसी के दलितों को साऊथबरो कमेटी का अन्याय सहना पड़ा है। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में बिल्कुल गलत आंकड़े दिए है।* यह एक ऐसा आकड़ा है, जो 1911 की जनगणना के अनुसार नितांत

* साऊथबरो कमेटी द्वारा दिए गए जो आंकड़े भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर लिए गए, उनकी संख्या उपरोक्त तालिका में वर्णित है जो 577516 है। साऊथबरो कमेटी ने जिस प्राधिकार को प्रमाण माना, उसके हिसाब से 1911 में दलित वर्गों की संख्या 2145208 थी।

अप्रमाणिक है। साऊथबरो कमेटी ने दलित वर्गों की, जो संख्या दर्शायी, वह इतनी अल्प थी कि भारत सरकार का यह नगण्य सुझाव भी निष्प्रभावी रहा कि बंबई विधान परिषद में दलित वर्गों के दो प्रतिनिधि हों। दलित जातियों की संख्या को कम करके दिखाने के लिए वैसे ही प्रयत्न अब उत्तरदायी क्षेत्रों में किए जा रहे हैं। उदाहरणार्थ 23 फरवरी 1928 को भारत सरकार की ओर से विधान सभा में बोलते हुए श्री वाजपेयी ने कहा: "भारत में दलित वर्गों की संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताई गई है। जैसा कि अब तक कहा जा रहा है, उनकी संख्या 6 करोड़ नहीं है, बल्कि वास्तव में 2 करोड़ 85 लाख है।" सभा को आशंका है कि आयोग भी साऊथबरो कमेटी जैसी भूल का शिकार हो सकता है और उसके फलस्वरूप ऐसे प्रस्ताव रख सकता है, जो गलत गणना पर आधारित हों। इसलिए सभा आयोग का ध्यान इस संबंध में भारत के जनगणना निदेशक के कथन की ओर दिलाना चाहती है। 1921 की भारत की जनगणना के पहले खंड के अध्याय XI में निदेशक ने कहा है: "पैरा 193- पिछले कुछ वर्षो के दौरान समाज के एक कतिपय वर्ग को 'दलित वर्ग' कहा जा रहा है। जहां तक मुझे मालूम है, इस शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। ना ही यह निश्चित है कि इसमें कौन आते हैं।" शिक्षा-प्रगति की 1912 से 1917 तक की पंचवर्षीय समीक्षा में (अध्याय 18, पैरा 505) दलित जातियों के संबंध में शैक्षिक सहायता और प्रगति की दृष्टि से विशेषत: विचार किया गया है और रिपोर्ट के 13 वें परिशिष्ट में समाज के इस वर्ग में आने वाली जातियों और जनजातियों की एक सूची दी गई है। इस सूची के अनुसार दलित जातियों की कुल आबादी तीन करोड़ दस लाख अथवा ब्रिटिश भारत की पूरी हिन्दू और जनजातीय आबादी का 19 प्रतिशत बैठती है। किसी सार्वजनिक रिपोर्ट में सामाजिक भेदभाव के उल्लेख से नाराजगी पैदा होने की आशंका है और उसे द्वेषमूलक समझा जा सकता है, परन्तु क्योंकि सूचियां पहले ही तैयार कर ली गई हैं और यह तथ्य है कि दलितों ने विशेष रूप से दक्षिण भारत में वर्ग चेतना और वर्ग संगठन प्राप्त कर लिया है और परोपकारी संस्थाओं द्वारा गठित विशेष मिशन उनकी सेवा करते हैं और सरकारी तौर पर उन्हें प्रतिनिधित्व दिया गया है, अत: निश्चय ही यह उचित दीख पड़ता है कि तथ्यों का सामना किया जाए और उनकी संख्या के बारे में कोई निश्चित आंकड़े प्राप्त किए जाएं। इसलिए मैंने प्रांतीय अधीक्षकों से कहा है कि वे मुझे जनगणना के आंकड़ों पर आधारित उन जातियों की अनुमानित संख्या बताएं जिनका समावेश सामान्यत: 'दलित' की श्रेणी में किया गया था। संयुक्त प्रांत के सरकारी कर्मचारियों के दायित्व की भावना तो इतनी ज्यादा नजाकतभरी थी कि वह एक मोटे अनुमान के प्रयास को भी वहन नहीं कर सकी। जो आकंड़े दिए गए हैं, वे एक निश्चित समान मापदंड पर नहीं दिए गए हैं, क्योंकि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में एक ही वर्ग के विषय में भिन्न-भिन्न नीति अपनाई गई है और मुझे कुछ मामलों में 1911 की रिपोर्ट और सारणियों से प्राप्त सूचना और शिक्षा संबंधी रिपोर्ट में दिए गए आंकड़ों के आधार पर अनुमान में संशोधन करना

पड़ा है। वह सामान्य त्रुटि भी है, जिसकी पहले चर्चा की जा चुकी है कि किसी जाति की कुल संख्या दर्ज नहीं की गई है। लेकिन निकट स्वीकार्य विवरण (नीचे उद्धृत) न्यूनतम संख्या का एक कच्चा अनुमान प्रस्तुत करता है, जिसे हिन्दू समाज का दलित वर्ग समझा जा सकता है। इन प्रांतीय आंकड़ों का कुल योग कोई पांच करोड़ तीस लाख बैठता है। लेकिन इसे भी एक कम तथा अनुदार अनुमान कहना पड़ेगा, क्योंकि इसमें न तो (1) संबधित जातियों और जन-जातियों की पूरी संख्या शामिल है और (2) न ही वे आदिम जातियों हैं, जो अभी हाल में हिन्दू धर्म में शामिल हो गई हैं और उनमें से अनेक को अशुद्ध माना जाता है। हम दावे से कह सकते हैं कि उन सभी दलित वर्गों की संख्या जिन्हें अशुद्ध माना जाता है, भारत में ही लगभग साढ़े पांच करोड़ से छ करोड़ के बीच है --।"

भारत में दलित वर्गों की संख्या

प्रांत	
योग	52680,000
असम	2000,000
बंगाल	9000,000
बिहार और उड़ीसा	8000,000
बंबई	2800,000
मध्य प्रांत और बरार	3300,000
मद्रास	6072,000
पंजाब	2893,000
सयुंक्त प्रांत	9000,000
बड़ौदा	177,000
मध्य भारत	1140,000
ग्वालियर	500,000
हैदराबाद	2339,000
मैसूर	932,000
राजपूताना	2267,000
त्रावनकोर	1260,000

8. जनगणना निदेशक का यह सुविचारित अनुमान भारत के विभिन्न प्रांतों में दलित वर्गों की संख्या के बारे में सभी अटकलों और अनुमानों को निरस्त कर देता है। इससे श्री वाजपेयी के अनुमान की वैधता समाप्त हो जाती है, क्योंकि यह अनुमान उन आंकड़ों की छानबीन करने के बाद लगाया गया है, जो प्रांतीय शिक्षा संबंधी रिपोर्टों में दिए गए हैं और जो श्री वाजपेयी के वक्तव्य का आधार हैं। वे रिपोर्ट की संख्या को निरख-परख कर तैयार किए

गए हैं। इनकी सत्यता स्वीकार करनी होगी, क्योंकि जैसा कि निदेशक ने कहा है कि यह अनुमान सोच समझ कर की गई जांच के बाद लगाया गया है। इसलिए सभा को सांविधिक आयोग से आग्रह करना चाहिए कि वह अन्य आंकड़ों की अपेक्षा इन आंकड़ों को स्वीकार करे। इस अनुमान के अनुसार बंबई प्रेसिडेंसी में दलित जातियों की कम से कम आबादी 2800,000 है, जो कुल जनसंख्या का 10.8 प्रतिशत बैठती है। सिर्फ उनकी जनसंख्या के आधार पर ही वे 140 में से 15 सीटों के हकदार हैं।

9. यदि किसी जाति को प्रतिनिधित्व उसकी संख्या के अनुपात में ही दिया जाता है, तो दलित जातियों के लिए सात अतिरिक्त सीटों की मांग ऐसी प्रतीत होगी, जो उन्हें बिना परिश्रम किए ही मिल गई हैं। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि इस प्रकार के मामलों को तय करने के लिए किसी जाति की केवल संख्या को ही आधार नहीं माना जा सकता। किसी जाति के लिए प्रतिनिधित्व का कोटा निर्धारित करते समय उस जाति की सामाजिक स्थिति को भी ध्यान में रखना होगा। जाति की स्थिति का अर्थ है कि उसके पास सामाजिक संघर्ष में आत्मरक्षा के लिए कितनी सामर्थ्य होनी चाहिए। यह सामर्थ्य जाति की शैक्षिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी जाति की सामाजिक स्थिति जितनी कमजोर होगी, उतना ही उसे दूसरी जातियों की अपेक्षा चुनाव में लाभ मिलना चाहिए। इसमें दो राय नहीं कि इस प्रेसिडेंसी में दलित जातियों की शैक्षिक और आर्थिक स्थिति सबसे खराब है। इसलिए अपनी संख्या के आधार पर चुनाव में जितने लाभ के वे हकदार हैं, उससे अधिक उन्हें मिलने चाहिए। उतनी ही संख्या और स्थिति वाली अन्य जातियों की तुलना में दलित जातियों को चुनाव में अधिक लाभ मिलना चाहिए, क्योंकि अन्य जातियां उतनी दलित नहीं हैं, जितनी कि दलित जातियां हैं। न ही किसी अन्य जाति को उतनी असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, जितना दलित जातियों को, जो उन्हें अपनी वर्तमान अपमानजनक स्थिति से ऊपर नहीं उठने देती। इसी कारण सभा प्रतिनिधित्व में वृद्धि की मांग को उचित समझती है। एक और कारण भी है, जिसकी वजह से सभा सोचती है कि दलित जातियों के लिए मांगा गया अतिरिक्त प्रतिनिधित्व उचित है। अल्पसंख्यकों को यदि संरक्षण देना है, तो उनका प्रतिनिधित्व प्रभावशाली होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह मात्र एक नाटक होगा। यदि यह नीति अपनाई जाती है, तो यह स्वीकार करना होगा कि यदि किसी अल्पसंख्यक समुदाय को संरक्षित रखना है, तो उसका पर्याप्त प्रतिनिधित्व होना चाहिए, ताकि उनकी आवाज दूसरों के आगे बिल्कुल दब न जाए। यदि इसी बात को एक प्रस्तावना के रूप में प्रस्तुत किया जाए तो कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वह इतना विशाल हो कि उस पर कोई दूसरा पूरी तरह हावी न हो सके। सभा का विचार है कि इस अतिरिक्त प्रतिनिधित्व की मांग यदि दलित जातियां करती हैं, तो वे इस

बात की हकदार हैं कि देश के अन्य अल्पसंख्यकों के समान ही वे इस सिद्धान्त को अपने पक्ष में लागू करा सकें।

10. *सभी अल्पसंख्यक जातियों के प्रति निष्पक्ष व्यवहार की आवश्यकता:-* प्रतिनिधित्व की मात्रा को तय करने वाले ये सिद्धान्त वे सिद्धान्त हैं, जिन्हें भारत सरकार ने साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट की समीक्षा करते समय अपने डिस्पैच में निर्धारित किया है। सभा यह बताना चाहती है कि समूचे भारत में किसी अन्य जाति की अपेक्षा दलित जातियों के मामले में इन सिद्धान्तों को लागू करना और अधिक उचित होगा। परन्तु व्यवहार में समूचे भारत में दलित जातियों को इन सिद्धान्तों के लाभ से नितान्त वंचित किया गया है। वस्तुत: यह लाभ मुसलमान जैसे संप्रदाय पर न्यौछावर कर दिया गया है, जो दलित जातियों की अपेक्षा देश में कहीं सशक्त और बेहतर स्थिति में है। असमान व्यवहार के एक ऐसे ही उदाहरण के संबंध में सभा आयोग का ध्यान दो निम्नलिखित मामलों की ओर दिलाना चाहेगी:

प्रांत	मुसलमानों की संख्या	मुसलमानों की सीटें	दलित वर्गों की आबादी	दलित वर्गों की सीटें
मध्य प्रांत	574276	11	3060232	2
बंबई प्रेसिडेंसी	1207443	7	1627980	1

दलित जातियों के प्रति ऐसे अन्याय पर कोई कितना ही क्रुद्ध क्यों न हो जाए, भारत सरकार को तनिक भी लज्जा नहीं है, क्योंकि उसने खुल्लमखुल्ला इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक अतिसीमित उद्देश्य से किया है कि उन्हें केवल मुसलमानों पर लागू किया जाए। जैसा कि सर्वविदित है, उसका कारण यह था कि भारत सरकार ने विभिन्न जातियों के राजनीतिक महत्व के बारे में भेदभाव किया। सभा देश के नागरिकों का राजनीतिक महत्व के आधार पर श्रेणीकरण करने पर विरोध प्रकट करती है। इससे अधिक सुरक्षित और संरक्षित अन्य कोई नियम नहीं हो सकता है कि जातियों को राजनीतिक रूप से समान महत्व दिया जाए। यह द्वेषमूलक भेदभाव सभी सांप्रदायिक दंगों की जड़ है और समान अवसर के सिद्धान्त का हनन करता है। जब संसद ने सुधारों की पहली किस्त प्रदान की, उस समय भारत के प्रशासन में इस सिद्धान्त को लागू करना दलित वर्गों के हित के लिए घातक सिद्ध हुआ। सभा को प्रसन्नता है कि वर्तमान भारत मंत्री यह स्वीकार करते हैं कि दलित वर्गों की स्थिति ऐसी समस्या है जिस पर गंभीरता से विचार किया जाए और इस बारे में अब निर्णय लिया जा सकता है कि पहले लागू किए गए राजनीतिक सुधारों के क्षेत्र को व्यापक बनाया जाए। लेकिन

सभा को आंशका है कि ऐसी मान्यता का दलित जातियों के लिए कोई मूल्य नहीं होगा,यदि वह उन परिवर्तनों में परिलक्षित नहीं होते,जो देश के संविधान के ढांचे के बारे में अब लागू किए जाएं।

11. *प्रतिनिधित्व प्रणाली:-* सभा मनोनयन के सिद्धान्त का विरोध करती है और आग्रह करती है कि दलित जातियों के लिए निर्वाचन का सिद्धान्त लागू किया जाए। निर्वाचन न केवल उत्तरदायी सरकार की दृष्टि से सिद्धान्ततः ठीक है,बल्कि राजनीतिक शिक्षा की दृष्टि से व्यवहार रूप में आवश्यक है। हर जाति को राजनीतिक शिक्षा का अवसर मिलना ही चाहिए और उसे प्राप्त करने का अच्छा तरीका यही है कि मतदान का उपयोग किया जाए। इसे दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाए कि किसी अन्य जाति की अपेक्षा जिन दलित वर्गों को ऐसी शिक्षा की अधिक जरूरत है, उन्हें ही इस बात का अवसर न मिल सके कि वे भारत के तेजी से विकसित हो रहे राजनीतिक जीवन में हिस्सा न ले सकें। मंत्रित्व एक अति महत्वपूर्ण विशेषाधिकार है और दलित वर्ग उसे गंवाना नहीं चाहते। राजनीतिक सुधारों को लागू करने से उन्हें कोई बड़ा लाभ तभी मिल सकता है,जब उन्हें देश के मंत्रिमंडल में स्थान प्राप्त हो सके,जहां से वे सरकारी नीति पर प्रभाव डाल सकें। यह अवसर उन्हें तभी मिल सकेगा,जब उन्हें अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिले। उत्तरदायी सरकार के अधीन मनोनीत सदस्य पद के अयोग्य बने रहेंगे। मनोनयन की प्रणाली,जो दलित जातियों को इस अधिकार से वंचित रखती हैं, स्वयं ही निदंनीय है।

12. दलित जातियों के लिए चुनाव के सिद्धान्त लागू करने के बारे में दो आपत्तियां उठाई जाती हैं।

(क) *निर्वाचन क्षेत्रों के गठन में कठिनाई:-* सभा का विचार है कि यह आपत्ति गंभीर नहीं है,क्योंकि उसमें ईमानदारी नहीं है। यदि निर्वाचन-क्षेत्रों में गठन के मामले में कोई ऐसी कठिनाई है,जिसके कारण सरकार को दलित वर्गों के लिए प्रतिनिधित्व के मामले में निर्वाचन के स्थान पर मनोनयन को तरजीह देनी पड़ी,तो यह समझ में नहीं आता कि किस प्रकार और किस बूते पर सरकार ने मुसलमानों तथा यूरोपीयों के लिए निर्वाचन का सिद्धान्त लागू किया। ये समुदाय भी दलित वर्गों की अपेक्षा कम बिखरे हुए नहीं हैं। इसलिए उनके लिए भी कोई निर्वाचन-क्षेत्र नहीं बनाया जा सकता जिसमें मौजूदा निर्वाचन-क्षेत्र भी शमिल हैं। इसलिए तर्क की दृष्टि के उपरोक्त बात को बेहूदा नहीं कहा जा सकता। फिर भी बंबई सरकार ने अपनी सदभावना का परित्याग करते हुए,जब उसे लगा कि समरूप निर्वाचन-क्षेत्रों का गठन करना असम्भव है। तथाकथित दलित वर्गों के लिये निर्वाचन-क्षेत्रों के गठन के बारे में इन सभी कठिनाइयों का समाधान सभा द्वारा तैयार की गई प्रतिनिधित्व की योजना में कर दिया गया है। अतः अब इस बारे में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि मनोनयन के सिद्धान्त का स्थान निर्वाचन का सिद्धान्त ले ले।

(ख) *पर्याप्त संख्या में मतदाता प्राप्त करने में कठिनाई* :- क्या किसी निर्वाचन क्षेत्र में इतनी संख्या में मतदाता होंगे, जो परिषद में दलित वर्गों के निर्वाचन को वास्तविक निर्वाचन का रूप दे सकते हैं। मनोनयन के स्थान पर निर्वाचन को स्थान दिए जाने में कठिनाई बताते समय प्रायः यह सवाल उछाला जाता है और उसका उत्तर 'ना' में दिया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि कठिनाई होगी, यदि यह निश्चय किया जाए मताधिकार की वर्तमान सीमा को छेड़ा नहीं जाएगा और जब तक आज जैसी सीमा बनी रहती है, सभा को स्वीकार करना ही होगा कि दलित वर्गों में निर्वाचकों की संख्या अति अल्प होगी। इसने उत्तरदायी सरकार को मजाक बना दिया है। इसका अर्थ है कि सात लाख लोगों की अल्पसंख्या को वर्तमान मताधिकार के अधीन मतदाता होने का सौभाग्य प्राप्त है और वे दो करोड़ लोगों की समूची प्रेसिडेंसी पर हुकूमत करें। ऐसी स्थिति स्पष्टतः रद्दी और भद्दी है और इसे भविष्य में जारी नहीं रखा जा सकता, यदि ऐसी उत्तरदायी सरकार हो जो न केवल नाम की हो, बल्कि काम की भी हो। लगता है कि मताधिकार के प्रश्न पर उसी वर्ग ने समुचित आग्रह नहीं किया है, जो सुधारों की मांग के बारे में सबसे ज्यादा ढोल पीटता रहा है। कहा जाता है कि इस वर्ग का लक्ष्य तो लोकतंत्र है, लेकिन यदि सच बात बताई जाए, तो वर्मा सरकार के शब्दों में "वे मुख्यतः लोकतांत्रिक संस्थाओं के पक्षधर इसलिए हैं कि वे एक लोकतांत्रिक राष्ट्र से अपील कर रहे हैं। लोकतंत्र की उनकी यह अपील समुचित नहीं है, क्योंकि वे 'जनता' की उपेक्षा करते हैं, सुधारों में इनके मुख्य हितों का लक्ष्य वे अधिकार होते हैं, जिन्हें वे कार्यपालिका पर जमाने की आशा करते हैं। उनकी मांग का मूल आधार यह होता ही नहीं कि ग्रामीण मतदाता सच्चे अर्थ में व्यापक मताधिकार और उत्तरदायी मतदान का प्रयोग कर सकें। जब तक वांछित नियंत्रण के लिए उनका अपना वर्ग विधायी पार्षद प्रदान करता रहेगा, उनके लिए इसका कोई मूल्य नहीं कि वे अल्पसंख्यक मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करें या बहुसंख्यकों का।" भले ही मताधिकार के प्रश्न पर भारतीय राजनेताओं के मतभेद का यह सही मूल्यांकन हो या न हो पर तथ्य यह है कि सत्ता के हस्तांतरण के प्रश्न के मुकाबले मताधिकार का प्रश्न कांग्रेस राजनीति में बड़ा ही गौण स्थान रखता है। सभा की राय है कि कांग्रेसी राजनेताओं का यह रवैया मताधिकार और सत्ता के हस्तांतरण के प्रश्न के बीच सच्चे संबंध के नितांत प्रतिकूल है,। यह मानना ही पड़ेगा। भारत सरकार का कथन है कि जो शक्तियां इस समय प्रशासन को संभाले हुए हैं, उन्हें तभी हटाया जा सकता है, जब उनका स्थान लेने के लिए संतोषजनक व्यवस्था हो जाए। उसे वे सभी क्षेत्र स्वीकार करेंगे, जो स्थिति के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाना चाहते हैं। अब जाहिर है कि ये विकल्प तो निर्वाचक ही होंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देश की सरकार को कितना और किस प्रकार का दायित्व सौंपा जाए। यह बात निर्वाचकों की संख्या पर निर्भर करेगी। मताधिकार का यह प्रश्न इतना अहम् है कि केवल इसी के आधार पर यह तय किया जा सकता है कि राजनैतिक सत्ता का हस्तांतरण

कितना हो। अतः मताधिकार कैसा हो, यह एक अति महत्वपूर्ण सवाल है। फिलहाल इसे जिस प्रकार तय किया जा रहा है, उसके बारे में सभा बताना चाहती है कि उत्तरदायी सरकार के मुख्य लक्ष्य की नितांत उपेक्षा की गई है। *मताधिकार का अर्थ है,सहजीवन की शर्तों को तय करने का अधिकार।* इसके अलावा और कोई अर्थ मताधिकार का नहीं हो सकता है। यदि मताधिकार का यह अर्थ है,तो उसके अनुसार यह अधिकार उन लोगों को दिया जाना चाहिए,जिनके पास सौदेबाजी की अधिक शक्ति नहीं है और उन्हें इस बात का खतरा है कि उनसे शक्तिशाली शक्तियों द्वारा सहजीवन की शर्तें इस प्रकार तय की जाएं कि वे उनके प्रतिकूल हो। यदि यह सच है,तो प्रतिनिधि सरकार के औचित्य का तकाजा है कि यदि मताधिकार का ठीक-ठीक अर्थ लगाया जाए,तो उसकी सीमा इतनी नीची हो कि उस तक समाज के निर्धन तथा दलित वर्गों के बहुसंख्यकों की पहुंच हो। वास्तव में केवल वयस्क मताधिकार की मताधिकार ही वह प्रणाली है,जो उस शब्द के सही अर्थ के अनुरूप हो सकती है। लेकिन सभा संतुष्ट हो जाएगी,यदि विधान परिषद के लिए मताधिकार की सीमा उसी स्तर पर निश्चित कर दी जाए,जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में ताल्लुका, स्थानीय बोर्ड के लिए है और प्रेसिडेंसी के शहरी इलाकों में वह तीन रुपये प्रतिमाह का किराया हो। सरकार प्रायः यह आशंका करती रही है कि यदि मताधिकार की सीमा को इतना कम कर दिया जाएगा, तो उसमें प्रबुद्ध लोगों का एक बड़ा वर्ग आ जाएगा। यह आशंका निराधार है। यह जरूरी नहीं कि विशाल सम्पत्ति वाला अज्ञानी न हो। न ही यह जरूरी है कि नितान्त निर्धन व्यक्ति में ऊचें दर्जे की बुद्धिमत्ता न हो। सम्पत्ति भी कुशाग्रता को कुंठित कर सकती है। दूसरी ओर निर्धनता बुद्धि को कुशाग्र बनाती ही है और प्रायः उसे ऐसा करना ही चाहिए। अतः सरकार का यह आग्रह कि अनपढ़ों को रोकने के लिए विशाल सम्पत्ति की योग्यता होनी चाहिए, अंध-विश्वास के सिवाय और कुछ नहीं है। इस अंध-विश्वास को सदा सर्वदा उच्च वर्गों तथा सरकार ने पनपाया है,ताकि जनता जनार्दन अपनी सरकार का गठन करने के अधिकार से वंचित रहे।

13. *निर्वाचन प्रणाली:-* सभा की राय है कि जहां तक दलित वर्गों का संबंध है, सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में स्वतंत्र चुनाव का सवाल ही नहीं उठता। दूसरी ओर सभा यह भी नहीं चाहती कि सांप्रदायिक निर्वाचक-मण्डल हो। उसकी राय में इतना पर्याप्त होगा कि सामान्य निर्वाचन-क्षेत्रों में दलित वर्गों के लिए आरक्षित सीटों की व्यवस्था कर दी जाए। जहां तक दलित वर्गों में से निर्वाचन के लिए उम्मीदवारों का संबंध है, सभा आग्रह करेगी कि आवासीय शर्त को पूर्णतया रद्द कर दिया जाए और निरपेक्ष की शर्त में आंशिक छूट दी जाए।

14. *विधायिका में प्रतिनिधित्व:-* सभा सादर इस बात का विरोध करती है कि 1919 में विधायिका में दलित वर्गों के अधिकार को मान्यता नहीं दी गई। जो महत्वपूर्ण मामले सीधे भारत सरकार के नियंत्रण में अथवा कुछ मामले प्रांतीय सरकारों के लिए आरक्षित

हैं, उनमें भारत सरकार का अब भी सर्वोच्च नियंत्रण है। हस्तांतरित विषयों के बारे में भी उसे निरीक्षण का अधिकार है। अत: यह जाहिर है कि ऐसे विशाल अधिकारों के बारे में दलित वर्गों की भी कोई आवाज होनी चाहिए और सभा मांग करेगी कि बंबई प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों के तीन सदस्य ऐसे हों, जिन्हें स्थानीय विधान परिषद में उनके प्रतिनिधि विधायिका के लिए चुने।

II गारंटी द्वारा संरक्षण

15. समुचित प्रतिनिधित्व की मांग के अलावा सभा का विचार है कि उसे यह मांग भी करनी ही चाहिए कि देश के संविधान के खडों में उसके मूल अंश के रूप में इस गारन्टी का समावेश किया जाए कि बंबई प्रेसिडेंसी में अल्पसंख्यक के रूप में दलित वर्गों को नागरिक अधिकार प्राप्त हों। ऐसी गारन्टी में दलित वर्गों के हितों से संबधित निम्नलिखित प्रस्थापनाओं की मान्यता भी शामिल हो:-

(1) निश्चय ही दलित वर्गों की शिक्षा को प्रांत के राजस्व पर प्रथम प्रभार के रूप में मान्यता दी जाएगी और शिक्षा के लिए कुल अनुदान का एक समुचित और न्यायोचित अनुपात अलग से दलित वर्गों के हित के लिए रखा जाए।

(2) निश्चय ही जाति के किसी बंधन के बिना दलित वर्गों के इस अधिकार को मान्यता दी जाएगी कि थल सेना, नौ सेना और पुलिस में बिना रोक टोक उनकी भर्ती हो।

(3) निश्चय ही 30 वर्ष की अवधि तक दलित वर्गों के इस अधिकार को मान्यता दी जाएगी कि सभी पदों के लिए, चाहे वे राजपत्रित हों या अराजपत्रित, भर्ती के मामलें में उन्हें वरीयता दी जाएगी।

(4) निश्चय ही दलित वर्गों के इस अधिकार को मान्यता दी जाएगी कि हर जिले के लिए स्वयं उनमें से पुलिस का एक विशेष इन्सपेक्टर नियुक्त किया जाएगा।

(5) निश्चय ही प्रान्तीय सरकार स्थानीय निकायों में (यथोक्त प्रकार से) दलित वर्गों के प्रभावी प्रतिनिधित्व के अधिकार को मान्यता देगी।

(6) निश्चय ही दलित वर्गों के इस अधिकार को मान्यता दी जाएगी कि वे भारत सरकार से अपील कर सकते हैं, यदि प्रान्तीय सरकार इन अधिकारों का उल्लंघन करे और निश्चय ही भारत सरकार को यह अधिकार दिया जाएगा कि वह इस मामले में विधि का पालन करने के लिए प्रांतीय सरकार को विवश कर सके।

16. *ऐसी गारंटियों का औचित्य:-* यह कहा जा सकता है कि चूंकि परिषद में दलित वर्गों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया गया है, अत: उनके अधिकारों को वैसा खतरा नहीं हो सकता, जैसा कि प्रतिनिधित्व से वंचित किसी अल्पसंख्यक जाति को हो सकता है। प्रशन उठता है कि फिर यह गारंटियां क्यों दी जाएं? सभा को इस अतिरंजित आस्था के प्रति आंशका

है कि प्रतिनिधि शासन-प्रणाली इस बारे में सक्षम हो कि वह बहुसंख्यकों के अत्याचार से अल्पसंख्यकों की रक्षा प्रभावी ढंग से कर सकती है। इस संबंध में सभा आयोग का ध्यान जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों की ओर दिलाना चाहेगी। उनका विचार है : "यह धारणा कि लोगों को इस बात की कोई आवश्यकता नहीं है कि वे 'स्व' पर नियंत्रण की अपनी शक्ति को सीमित करें, हो सकता है कि उस समय अपने आप में प्रमाण दीख पड़ती हों, जब जन निर्वाचित सरकार एक ऐसी बात थी जिसकी कि केवल कल्पना ही की जा सकती थी अथवा जिसके बारे में पढ़ा जा सकता था कि वह अतीत की किसी सुदूर अवधि में रही होंगी-- लेकिन अब यह अनुभव किया गया है कि 'स्व' राज और स्वयं पर नियंत्रण की लोगों की शक्ति ऐसे वाक्यांश है, जो मामले की सारी तस्वीर पेश नहीं करते। जो लोग अधिकार का प्रयोग करते हैं, वे लोग सदा ही वे ही लोग नहीं होते, जिन पर उनका प्रयोग किया जाता है और चर्चाधीन स्वराज स्वयं द्वारा प्रत्येक पर राज नहीं है, बल्कि शेष सभी के द्वारा प्रत्येक पर राज है। इसके अलावा जनता की इच्छा से अभिप्राय लगभग सर्वाधिक संख्या वालों की इच्छा से है या लोगों के सर्वाधिक सक्रिय अंश से है, या उन लोगों से है जो स्वयं को बहुसंख्यक के रूप में स्वीकार्य करा लेते हैं। अत: लोग अपनी संख्या के एक अंश को दबाने की इच्छा रख सकते हैं और इसके प्रति भी सावधानी की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी शक्ति के किसी अन्य प्रयोग के प्रति। अत: व्यक्तियों पर सरकार की नियंत्रण की शक्ति उस अवस्था में भी महत्व रखती है, जब सत्ताधारी नियमित रूप से समाज के प्रति अर्थात समाज में सर्वाधिक शक्तिशाली वर्ग के प्रति जवाबदेह हों। यूरोपीय समाज के जिन बुद्धिजीवियों तथा महत्वपूर्ण वर्गों को उनके वास्तविक या काल्पनिक हितों के लिए लोकतंत्र अनुकूल नहीं बैठता, उनके लिए भी यह दृष्टिकोंण उतना ही सार्थक है और सहज रूप से अपनी मान्यता को सिद्ध करता है तथा राजनीतिक विचारधारा में अब प्राय: बहुसंख्यकों का ऐसा दोष माना गया है, जिसके प्रति समाज को सचेत रहना चाहिए।"

17. इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनिधि सरकार किसी राष्ट्र में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए ऐसी गारंटी की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकती। वास्तव में निर्विवाद रूप से यह आग्रह किया जा सकता है कि प्रतिनिधि शासन प्रणाली में यदि अल्पसंख्यकों की रक्षा के लिए गांरटी की कोई व्यवस्था न हो, तो उसे उस प्रयोजन के लिए नितांत अपर्याप्त समझा जाए और वह उन्हें सुरक्षा प्रदान कर ही नहीं कर सकेगी और उनके लिए एक अति खतरनाक तजुर्बा होगा। यूरोप का युद्धेत्तर इतिहास ऐसे मामलों से भरा पड़ा है। मित्र राष्ट्रों और चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, हंगरी, रोमानिया के बीच शांति संधियां तथा पौलेंड और जर्मनी के बीच उत्तरी साइलेशिया के बारे में करार में ऐसे खंड हैं, जिनमें अल्पसंख्यकों के लाभ के हित की गारंटी दी गई है। वे इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं कि अल्पसंख्यक केवल प्रतिनिधि शासन प्रणाली पर निर्भर नहीं रह सकते, बल्कि उन्हें अपने अधिकारों के

लिए गारंटी के रूप में संरक्षण प्राप्त करना ही चाहिए।

18. यदि यूरोपीय लोगों में जहां राजनीति को काफी सीमा तक धर्मनिरपेक्ष बना दिया गया है, प्रतिनिधि सरकार इतनी कमजोर है, तो भारत में जहां राजनीति केवल धर्म पर ही आधारित है, वहां सरकार कितनी अधिक कमजोर होगी। दलित वर्गों की रक्षा इस प्रकार की राजनीति से की जानी चाहिए। सच्ची नागरिकता के लिए धर्म पर आधारित यह राजनीति कितनी विनाशकारी हो सकती है, इसका उल्लेख माननीय सर एलेक्जेण्डर कार्ड्यू के.सी. एस. आई. आई.,सी.एस., ने 31 दिसम्बर 1918 के पत्र संख्या 1146 (सुधार के नोट) में किया है। इस नोट का उद्धरण नीचे दिया जाता है।

2. "सबसे पहले यह पूछा जाना चाहिए कि लोकतांत्रिक विचार भारत के लोगों के वर्तमान चिन्तनधारा के अनुसार हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि हमें प्रत्येक व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करना होगा और यह विश्वास रखना होगा कि चूंकि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन एक बार मिलता है, इसलिए उसे उसी जीवन में अपना सर्वोत्तम विकास करने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिए। ये सिद्धान्त भारत की वर्तमान चिन्तनधारा में स्वीकार नहीं किए जा रहे हैं। आज की सोच यह है कि वर्तमान जीवन पिछले अनेक जीवनों की एक कड़ी है। इस जीवन में प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति उसके पिछले जन्मों के अच्छे और बुरे कर्मों का ही फल है। इसलिए सामाजिक जीवन में उसका स्थान निश्चित है, जिसे बदला नहीं जा सकता। अतः यह बात स्वीकार करनी होगी कि लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धान्त उन विचारों के प्रतिकूल हैं, जिन पर भारत में लोग हजारों वर्षों से विश्वास करते आए हैं।

3. "इस सिद्धान्त से कि वर्तमान जन्म में प्रत्येक व्यक्ति का स्थान उसके पिछले जन्मों के कर्मों का फल है, मिलती जुलती बात वर्ण व्यवस्था है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अपरिवर्तनीय है। इस प्रकार ब्राह्मण के घर पर जन्मा व्यक्ति ब्राह्मण के अलावा दूसरा नहीं हो सकता और पैरियार (दक्षिण का अछूत) के घर जन्मा व्यक्ति कभी भी पैरियार के अलावा दूसरा नहीं हो सकता। इन परिस्थितियों में अवसर की समानता असंभव है और भारतीय परिप्रेक्ष्य में यह अवांछनीय नहीं है।

इस वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोच्च है। यह जाति कम से कम दक्षिण भारत में प्रारम्भ से जातिभेद की प्रणेता रही है और इसने अन्य सभी जातियों पर अपना पूर्ण वर्चस्व स्थापित किया है। ब्राह्मणों का वर्चस्व का दावा केवल जाति और बुद्धि पर ही आधारित नहीं है, बल्कि यह धर्मादेशों पर भी आधारित है। भारत में सदियों से ब्राह्मण को पवित्र माना गया है। उसे लोग भोजन कराकर उसकी शिक्षा और उसकी पुत्रियों के विवाह के लिए धन देकर तथा उसे भूमिदान करके धार्मिक पुण्य प्राप्त करने में विश्वास करते आए हैं। ब्राह्मणों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हैं–

6. "जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार के वर्चस्व के कारण ब्राह्मणों ने सहज ही राजनीति पर भी आधिपत्य जमा लिया है– विशाल पैरियासमुदाय अथवा मसीही समुदाय का कोई भी प्रतिनिधि न तो कभी इन चुनाव क्षेत्रों में से किसी से चुनाव लड़ा है, न ही कभी उसे लड़ने का अवसर मिलेगा। यह अनुभव इस बात का जोरदार संकेत देता है कि अतीत की भांति भविष्य में भी राजनैतिक तंत्र ब्राह्मणों के ही हाथ में रहेगा, जब तक कि अन्य वर्गों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के लिए विशेष उपाय न किए जाएं।

8. "ब्राह्मणों के बाद लम्बे अर्से से हिन्दू जातियों का वह विशाल समूह चला आ रहा है, जिसमें कुछ ऊंची और कुछ नीची जातियों के लोग हैं। वे सामान्यत: गैर-ब्राह्मण समूह कहे जाते हैं, लेकिन वे सभी एक-दूसरे से अलग-थलग हैं और अधिकतर एक-दूसरे का विरोध करते हैं। वे इस बारे में बदनाम हैं कि यदि इन जातियों में से किसी एक का सदस्य प्रभावशाली पद प्राप्त कर लेता है, तो वह नियंत्रण वाले कार्यालयों में अपने जातीय भाइयों को भर देता है। सरकार के स्थायी आदेश इस प्रवृत्त से परिचित हैं और उसे दूर करने के लिए उनमें निर्देश हैं। संयुक्त रिपोर्ट भी इसके बारे में जानकारी रखती है, क्योंकि उसमें कहा गया है-" भारतीय समाज में धर्म, नस्ल और जाति की अनेक दरारें हैं जो सदा ही उसकी एकजुटता के लिए खतरा हैं।" जाति के ये भेद न के वल भारतीय समाज की एकजुटता के लिए खतरा पैदा करते हैं, बल्कि उनके कारण कभी ऐसी एकजुटता आई ही नहीं।

9. "ब्राह्मणों तथा गैर-ब्राह्मण सवर्ण हिन्दूओं के बाद उन छोटी जातियों अथवा अधिक सही ढंग से कहा जाए, तो जातिहीन व्यक्तियों का नम्बर आता है, जिनकी संख्या इस प्रेसिडेंसी (अर्थात मद्रास) में कोई एक करोड़ है। सुविधा के लिए उन्हें पंचमांह अथवा पैरियार जाति के लोग कहा जा सकता है। इन लोगों को न केवल छोटी जाति का माना जाता है, बल्कि उनकी उपस्थिति मात्र से ही वास्तव में ऐसी अपवित्रता आ जाती है, जिसे दूर करने के लिए धार्मिक कर्मकांड करना पड़ता है।

13. "यह एक ऐसा समाज है, जो अनपढ़ है, जो निश्चित विभेद वाली जातियों में बंटा है। उसमें ब्राह्मण सर्वोच्च हैं। विभिन्न गैर-ब्राह्मण हिन्दू जातियां मध्यक्रम में हैं और सबसे नीचे छोटी जातियों के लोग हैं, जिन पर दोनों ही निस्संकोच भाव से अत्याचार करते हैं। ऐसे समाज में लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना करना अति कठिन कार्य है। लगता है कि संयुक्त रिपोर्ट तैयार करने वालों ने भी पर्याप्त रूप से इस कठिनाई को अनुभव नहीं किया। *"निश्चय ही सुधार की किसी योजना का पहला बुनियादी उसूल यह होता है कि आबादी के मूक विशाल जनसमूह के उत्तम प्रशासन के लिए पर्याप्त रक्षोपायों की व्यवस्था की जाए।"*

19". यदि वर्तमान स्थिति का यह यथार्थ वर्णन है तो यूरोप के अल्पसंख्यकों की तुलना में दलित वर्गों के अधिकारों की गारंटी का अधिक औचित्य है। परिस्थितियों के कारण विश्व

में बहुत से लोग पिछड़ गए हैं, परन्तु पिछड़ने के बाद भी वे ऊपर उठने के लिए स्वतंत्र हैं। दलित वर्ग सदा से पिछड़े वर्ग रहे हैं, क्योंकि उनका उत्थान देश के अधिसंख्य लोगों की धार्मिक भावनाओं से मेल नहीं खाता। विभिन्न विधान परिषदों द्वारा पारित संकल्पों के बारे में कुछ लोगों ने मूडीमेन कमेटी के सामने बहुत कुछ कहा है, जैसे दलित जाति के लोगों को कुओं से पानी भरने दिया जाए, उनके लिए डिस्पेंसरियां और धर्मशालाएं खोली जाएं शिक्षा मंत्रियों द्वारा जारी किए गए परिपत्रों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें कहा गया है कि दलित वर्गों के लोगों के बच्चों को भी स्कूलों में अन्य बच्चों के साथ दाखिला दिया जाए। परन्तु ये संकल्प और परिपत्र कितने बड़े मजाक हैं, यह आयोग के परिशिष्ट 'क' के इस वक्तव्य को पढ़ने से स्पष्ट हो जाएगा। इससे दलित वर्गों के प्रति अधिसंख्य लोगों के दृष्टिकोण का पता चलता है, जैसा कि देश के विभिन्न समाचारपत्रों में समय-समय पर प्रकाशित घटनाओं (मद सं 1 और 10) से स्पष्ट है। इन समाचारों को पढ़ने से पता चलेगा कि दलित वर्गों को सेना, नौ सेना और पुलिस में भर्ती नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे अधिसंख्य लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती है (मद सं. 8) उन्हें स्कूलों में दाखिला नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उनका दाखिला अधिसंख्य लोगों की धार्मिक भावनाओं के प्रतिकूल है (मद सं 12)। वे सरकारी डिस्पेंसरियों से इलाज नहीं करा सकते, क्योंकि डाक्टर उन्हें अपनी डिस्पेंसरियों को तथा स्वयं को दूषित नहीं करने देंगे (मद सं. 2 और 5)। वे साफ सुथरे नहीं रह सकते, क्योंकि अपनी एक निश्चित स्थिति से ऊपर जीवन यापन करना अधिसंख्य लोगों की धार्मिक भावना के आड़े आता है (मद सं. 1 और 6)। इस सामाजिक संहिता को इतनी कड़ाई से लागू किया जाता है कि दलित वर्गों के नागरिकता के अपने अधिकार का प्रयोग करने से अधिसंख्य लोग भड़क जाते हैं और वे और अधिक सामाजिक अत्याचार करते हैं (मद सं. 4,7 और 11)। यह स्वीकार करना होगा कि जब समाज ही अत्याचार पर उतर आए तो इसके अत्याचार उन्हीं कार्यों तक सीमित नहीं रहते, जो इसके अधिकारी लोग करते हैं और ये आत्मा को ही दास बना देते हैं। ऐसे अत्याचार से रक्षा राज्य की पुलिस ही कर सकती है। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे संघर्ष में जिसमें एक ओर दलित वर्ग हों और दूसरी ओर सवर्ण हिन्दू हों, पुलिस की शक्ति सदैव अत्याचारी बहुसंख्यकों के साथ होती है (मद सं. 11)। इसका कारण यही है कि दलित वर्गों का कोई व्यक्ति देश की पुलिस अथवा मजिस्ट्रेटों में नहीं होता।

इसे ध्यान में रखते हुए दलित वर्गों के प्रति यह अन्याय होगा कि उन्हें इस धारणा के भुलावे में रखा जाए कि उनके हित तो उनके देशवासियों के हाथों में सुरक्षित रहेंगे, क्योंकि दलित वर्गों के पक्ष में कुछ परिषदों ने संकल्प पारित किए हैं और कुछ मंत्रियों ने परिपत्र जारी किए हैं। सभा आयोग को यह चेतावनी देना चाहती है कि वह हिन्दू बहुमत के सर्वोत्तम उदाहरणों के प्रलोभन में पड़कर उसके बारे में बेहतर राय न बना ले। एक ओर भाईचारे

साथ प्राधिकार के आदेश का प्रयोग करना, दूसरी ओर भाईचारे के साथ आदेश का पालन करना और आश्रितों के बहुजन हिताय के लिए सभी प्रकार के आदेश देने की उच्चतर बुद्धिमत्ता होना, ये एब ऐसी तस्वीरें हैं, जो पढ़ने में तो बड़ी भली मालूम होती हैं, लेकिन ऐसी तस्वीरें तभी सार्थक होंगी, जब दलित वर्गों में से कोई भी हिन्दू समाज के भले व्यक्तियों के अस्तित्व को न नकारे। दलित वर्गों का कोई भी व्यक्ति यह आंशका नहीं करता कि एक भले हिन्दू के प्रशासन के अधीन महान और सार्वजनिक सुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। लेकिन तथ्य यह है कि कानूनों और संस्थाओं को भले आदमियों के अनुकूल नहीं अपितु बुरे आदमियों के अनुकूल बनाया जाता है। इस दृष्टि से यह निरापद होगा कि संविधान के खंडों में गारंटी का समावेश करके आवश्यक सरंक्षण प्रदान किया जाए, बजाए इसके कि उसे इस काल्पनिक आधार पर अरक्षित छोड़ दिया जाए कि अत्याचारी बहुमत में अल्पमत के प्रति सहानुभूति रखने वाले चन्द भले व्यक्ति हैं, दलित वर्गों के अलावा अन्य व्यक्ति ऐसी गारंटियों को अनावश्यक समझ सकते हैं, लेकिन दलित वर्गों की दृष्टि से यह रक्षा का एक अनिवार्य उपाय है। सुधारों के बारे में दलित वर्गों के बीच इतनी घोर आशंका व्याप्त है कि प्रारम्भ से ही सुधारों के प्रति उनके मन में इतना तीव्र रोष था कि दलित वर्गों द्वारा श्री मौंटेग्यू को दिए गए एक मानपत्र में उन्होंने कहा: "यदि इस दशा में ब्रिटिश हाथों से सत्ता तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं के हाथों में सौंपने की कोई कोशिश की गई, तो ऐसी हर कोशिश का विरोध हम अपने रक्त की अंतिम बूंद तक करेंगे।" गारंटी की प्रणाली के अलावा और कोई चीज ऐसी आशंकाओं को निर्मूल नहीं कर सकती। सरकार आस्था पर टिकी होती है, तर्क पर नहीं। यदि नए संविधान के प्रति दलित वर्गों की कोई आस्था नहीं बन सकती, तो राजनीतिक सूझबूझ का तकाजा है कि यदि हो सके, तो यहां मांगी गई गारंटियों की रियायत से उस आस्था को खरीद लिया जाए।

अनुलग्नक-क

मद संख्या 1

(टाइम्स आफ इंडिया 8 फरवरी 1928 से)

अंत्यजों का उत्थान नहीं

पिछले महीने बंबई के सनातनी रूढ़िवादी अग्रवाल मारवाड़ियों के बीच स्थानीय नर नारायण मंदिर में महामहोपाध्याय पंडित अनन्त कृष्ण शास्त्री (प्रोफेसर कलकत्ता विश्वविद्यालय) ने गत मास एक प्रवचन दिया, जिसे भारतीय समाज सुधार की तीव्र प्रगति के बारे में एक महत्वपूर्ण घटना माना जाता है। उसे अवांछित विस्मरण से बचाया जाना चाहिए। प्रवचन का विषय था 'पतितों के उत्थान का मार्ग' और अध्यक्षता बंबई के नए वैष्णव मंदिर के श्री जगदगुरु अनंताचार्य महाराज ने की थी। प्रवचन में वक्ता ने शास्त्रों से प्रमाण देकर सिद्ध किया कि आदि काल से विभिन्न जातियां चली आ रही हैं और वे अनन्त काल तक

रहेंगी। उन्होंने कहा कि जो अंत्यजों के उत्थान की बात करते हैं, वे गाल बजाते हैं। वास्तविकता यही है कि अंत्यजों का इस दृष्टि से उत्थान करने का कोई उपाय नहीं है कि उन्हें चारों वर्णों में से किसी एक वर्ण में शामिल कर लिया जाए या उनकी वर्तमान सामाजिक स्थिति में परिर्वतन किया जाए।

रूढ़िवादी उदारता

विद्वान वक्ता ने उत्थान के अयोग्य पतितों के उत्थान की एकमात्र संभावना बताई अर्थात उनके कुछ उन अहरणीय धन्धों को उदारतापूर्वक पुनः उन्हें सौंप दिया जाए,जिन्हें आजकल अविचारशील तथा अरूढ़िवादी सवर्ण लोगों ने हथिया लिया है। महामहोपाध्याय ने कहा, "20 वीं शताब्दी में लोग सवेरे उठते हैं और अपने कीमती जूते साफ करने बैठ जाते हैं और बजाए इसके कि वे अपना नियत प्रातःकालीन धर्म-कर्म करें, फिर वे अपनी हजामत आप करने लगते हैं। स्वदेशी ढंग से अपने दांत साफ करने के बजाए (बबूल की दातून से) अपने दांतों से ब्रुश रगड़ने लगते हैं। ऐसा करके वे मोची, हज्जाम और दातून बेचने वालों को उनके व्यवसाय से वंचित करते हैं। सब धर्मानुसार कार्य करें और संतुष्ट रहें, अंत्यजों के उत्थान का यही एकमात्र उपाय है, जिन लोगों ने इन पतितों को उनकी रोटी, रोजी से वंचित कर दिया है, वे ही उन्हें उसे वापस करें।"

मद संख्या 2

(टाइम्स आफ इंडिया 2 मार्च 1928 से)

भारत में अंत्यज

लेकिन देशभक्त भड़केंगे, यह सब ब्रिटिश भारत में हुआ, भारतीयों के भारत में नहीं। अभी हाल में मध्य भारत के एक देशी बड़े राज्य में बलाइयों पर क्या बीती? जब उन्होनें सोने और चांदी के आभूषण पहने और स्पृश्य सवर्ण हिन्दू जैसा व्यवहार करने का भद्दा काम किया। और यह है "सौराष्ट्र का समाचार बड़ौदा राज्य क्षेत्र के अंत्यजों के बारे में, जहां महाराजा को स्वयं इन अभागों से गहरी सहानुभूति है"। गुजराती स्कूलों में अंत्यज छात्रों की भर्ती का प्रावधान केवल कागजी कार्रवाई है। लगभग 95 प्रतिशत स्कूलों में अंत्यज बच्चों को कक्षा से बाहर सर्दी, गर्मी और बरसात में बैठे रहना पड़ता है। उनसे गोबर, ईंधन, मिट्टी आदि मंगाई जाती है। अप्रैल 1927 में एक अंत्यज दामनगर डिस्पेन्सरी में दवाई लेने गया। तो डाक्टर ने उसे बारह घंटे इतंजार में खड़ा रखा। इसके बाद उसकी जांच दूर से ही की और दूर से ही उसे दवाई दी। यह सब कुछ बड़ौदा विधायिका के एक अंत्यज सदस्य के सामने हुआ और सूरत का 'प्रताप' लिखता है कि जब नवासरी अंत्यज आश्रम का एक अध्यापक एक बीमार छात्र को स्थानीय अस्पताल में ले गया,तो उन दोनों को प्रभारी डाक्टर ने यह कहकर भगा दिया, "भाग जाओ यहां गांधी का राज नहीं, बड़ौदा सरकार का राज है।"

मद संख्या 3

(ईवनिंग न्यूज, 11 मई 1926 से)

जम्बूसार नगरपालिका में अस्पृश्य

. चार हिन्दूओं का त्यागपत्र

जम्बूसार नगरपालिका के लिए एक अस्पृश्य के नगरपालिका सदस्य चुने जाने पर सनसनी फैल गई है। चार हिन्दू सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया और बाकी ने प्रण किया कि वे उस अस्पृश्य सदस्य को छुएंगें नहीं और यदि छू भी लिया तो तुरन्त नहायेंगे।

मद संख्या 4

(बंबई क्रानीकल से)

कोलाबा दलित जातीय सम्मेलनः उच्च जातीय हिन्दुओं की गुडांगर्दी

'टाइम्स आफ इंडिया' ने अपने 24 तारीख के अंक में महाड़ के दंगों पर एक बयान छापा, परन्तु क्योंकि वह बयान अधूरा है और वहां जो हुआ, उसकी सही तस्वीर प्रस्तुत नहीं करता, इसलिए दंगे का पूरा और सही विवरण देना आवश्यक है।

कोलाबा जिले के दलित जातियों का एक सम्मेलन महाड़ में 19-20 मार्च 1927 को डा. भीमराव. अम्बेडकर, बार-एट-ला की अध्यक्षता में हुआ। दलितों की उपस्थिति ढाई हजार से अधिक थी और उनमें भारी उत्साह था। परन्तु दंगे के कारण सम्मेलन के काम में गंभीर बाधा पड़ी,जिसकी पूरी जिम्मेदारी महाड़ के ऊचीं जाति के हिन्दू निवासियों पर है। सम्मेलन के पहले दिन जब अध्यक्षीय भाषण के बाद कई सवर्ण हिन्दुओं ने भी सम्मेलन को संबोधित किया और दलितों को आश्वासन दिया कि वे हर प्रकार से उनकी सहायता के लिए तैयार हैं और आग्रह किया कि दलित लोग सवर्ण हिन्दुओं के विरुद्ध घृणा न फैलाएं। इसे देखते हुए विषय समिति ने जिस प्रस्ताव का प्रारूप तैयार किया,उसमें यह भी कहा गया था कि ऊंची जाति के हिन्दुओं को दलितों के उत्थान के लिए क्या करना चाहिए। विषय समिति में कुछ लोगों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया कि महाड़ में दलित लोगों को पीने के पानी की बहुत दिक्कत है। यह दिक्कत महाड़ के निवासी दलितों के सामने ही नहीं है, बल्कि गांव वालों को भी उठानी पड़ती है,जो व्यक्तिगत कार्यों या सरकारी कार्यों से महाड़ आते हैं। वहां पानी का इतना अभाव है कि सम्मेलन के लिए 15 रुपये रोज का पानी खरीदना पड़ा। कुछ दिन पहले महाड़ नगरपालिका ने एक प्रस्ताव पारित करके यह घोषणा की थी कि शहर के तालाबों पर जनता को जाने की अनुमति है, परन्तु उसने वहां कोई बोर्ड नहीं लगाया था। लोग वहां जाने से डरते थे। इसलिए विषय समिति के सम्मेलन में उच्च जाति के लोगों के विचार इस विषय में जानकर यह फैसला किया गया कि सम्मेलन में शामिल लोग चोदार तालाब पर इकट्ठें होकर जाएं और दलित जाति के लोगों को पानी लेने का उनका अधिकार दिलाने में सहायता दें।

झूठी अफवाह

जब 20 तारीख की सुबह सम्मेलन फिर शुरू हुआ तो पहला संकल्प जिसमें यह घोषणा की गई कि सवर्ण हिन्दू दलितों के लिए क्या करें, दलित वर्गों के सदस्यों द्वारा सम्मेलन के समक्ष रखा। अध्यक्ष ने सर्वश्री पुरुषोत्तम प्रभाकर जोशी और गोविंद नारायण धारिया (ऊंची जातियों के प्रतिनिधि) से संकल्प पर बोलने का अनुरोध किया। संकल्प में अन्तर्जातीय विवाह से संबंधित एक खंड को छोड़कर उन दोनों ने संकल्प को स्वीकार किया। इस संकल्प को लेकर आम सहमति थी। इसलिए सम्मेलन का सत्र समाप्त होने के बाद सभी लोग एकत्र होकर उस तालाब की ओर बढ़े। जुलूस अत्यन्त शांत था और सब कुछ शांति से गुजरा। परन्तु लगभग दो घंटे बाद बाहर के कुछ बददिमाग लोगों ने एक अफवाह फैला दी कि दलित वर्गों के लोगों का इरादा वीरेश्वर मंदिर में घुसने का है, जिससे बदमाश लोगों की बहुत बड़ी भीड़ इकट्ठा हो गई। उनके पास लाठियां भी थी। भीड़ शीघ्र आक्रामक हो गई और सारा शहर गुंडों की चपेट में आ गया, जो दलितों के खून के प्यासे लगते थे।

बीस घायल

दलित वर्गों के लोग अपने अपने गांवों को रवाना होने से पहले खाना खा रहे थे। जब उनमें से अधिकांश चले गए, तो गुंडे रसोई में घुस गए जहां दलित लोग खाना खा रहे थे। दोनों दलों के बीच युद्ध छिड़ सकता था, परन्तु दलित वर्गों के नेताओं ने अपने लोगों को रोक लिया और इस प्रकार भीषण दंगा टल गया। जब गुंडों को मुकाबला करने वाला कोई नहीं मिला, तो उन्होंने सड़क पर घूमना शुरु कर दिया और उन इक्का दुक्का दलितों पर हमला करना शुरू कर दिया, जो अपने गांवों को लौट रहे थे। वे दलितों के घरों में भी घुस गए और उन्हें बुरी तरह पीटा। कुल मिलाकर 20 दलित घायल हुए। इस घटना में दलितों का व्यवहार प्रशंसनीय था, जब कि बड़ी जातियों के अनेक लोगों का बर्ताव निंदनीय था। जो दलित वहां इकट्ठा हुए थे, उससे कहीं ज्यादा बड़ी जातियों के लोग आ धमके। परन्तु क्योंकि उनके नेताओं का उद्देश्य अहिंसक और पूरी तरह संविधानसम्मत था, इसलिए दलितों ने कोई आक्रामक रुख नहीं अपनाया। दलित वर्गों के पक्ष में यह बहुत बड़ी बात है कि यद्यपि उन्हें बुरी तरह उकसाया गया था, किन्तु इसके बावजूद उन्होंने आत्मसयंम बरता। महाड़ सम्मेलन से यह सिद्ध होता है कि ऊंची जातियां दलितों को सार्वजनिक पनघटों से पानी लेने जैसे प्राथमिक नागरिक अधिकारों के उपयोग के विरुद्ध हैं।

महाड़ और कोलाबा जिलों में सवर्ण हिन्दुओं का सबसे निंदनीय कार्य यह था कि विभिन्न गांवों के अपनी जाति भाइयों को उन्होंने तुरन्त संदेश भेज दिया कि जैसे ही सम्मेलन से भाग लेकर दलित लोग अपने गावों में पहुचें, उन्हें दण्ड दें। इसके परिणामस्वरूप, जो लोग महाड़ सम्मेलन से लौटे, उनके साथ गांव पहुंचने से पहले या बाद में मारपीट की गई। दलितों की विडंबना यह थी कि उनकी संस्था बड़ी जातियों के मुकाबले बहुत कम थी। दलितों

के नेताओं ने अधिकारियों से संरक्षण की अपील की है और डी.एस.पी. सहित जिला अधिकारी मौके पर जाकर जांच कर रहे हैं। बहरहाल यह बताना जरूरी है कि यदि रेजीडेंट मजिस्ट्रेट दो घंटे तक हाथ पर हाथ धरे न बैठा रहता तो दंगा रुक सकता था।

मद संख्या 5

(यंग इंडिया, 5 मई 1927 से)

मानव का मानव के साथ अमानवीय व्यवहार

(लेखक, मो. क. गांधी)

एक अन्य स्तंभ में नवजीवन से उद्धृत अंश दिया गया है। यह जान-बूझकर अमानवीय व्यवहार का अति निदंनीय मामला है। इसमें चिकित्सक ने काठियावाड़ के एक गांव में दलित वर्ग के एक व्यक्ति की मरणासन्न पत्नी के प्रति घोर अमानवीय व्यवहार किया। श्रीयुत अमृतलाल ठक्कर जिसने मामले का विवरण दिया है, उसने स्थान और पार्टियों के नाम नहीं दिए हैं। उन्हें आशंका थी कि कहीं दलित वर्ग के बेचारे स्कूल मास्टर को चिकित्सा कर्मचारी कहीं और परेशान न करें। लेकिन मैं चाहता हूं कि नाम बताए जाएं। ऐसा समय आना ही चाहिए कि जब हमें दलित वर्गों के लोगों को इस बात के लिए प्रेरित करना होगा कि वे इससे भी बड़े जुल्मोंसितम सहने की हिम्मत करें। उनकी पीड़ा पहले ही इतनी घनी है कि उसमें और बढोतरी वे महसूस तक न कर पाएंगे। उन कष्टों के विरुद्ध लोकमत तैयार नहीं किया जा सकता, जिनका साक्ष्य न हो और जड़ का पता नहीं चले। मुझे बंबई की मैडिकल काउंसिल के नियमों का पता नहीं है। पर मैं इतना जानता हूं कि अन्य जगहों पर जो डाक्टर फीस मिलने से पहले मरीज को देखने से इंकार कर देता है, वह काउंसिल के प्रति जवाबदेह होगा। उसका काउंसिल की सूची से नाम काटा जा सकता है अथवा उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई की जा सकती है। निस्संदेह फीस ली जानी चाहिए, परन्तु किसी डाक्टर का पहला काम मरीज की उचित देखभाल करना है। लेकिन यदि बताए गए तथ्य सही हैं, तो वास्तविक अमानवीयता यह है कि चिकित्सक ने अस्पृश्य के घर जाकर स्वयं मरीज देखने और स्वयं थर्मामीटर लगाने से इंकार कर दिया। यदि किसी भी हालत में अस्पृश्यता का नियम लागू होना है, तो निश्चित रूप से वह इस व्यवसाय के इस व्यक्ति पर लागू होना चाहिए, जिसने व्यवसाय को कलंकित किया है। परन्तु मुझे आशा है कि श्रीयुत ठक्कर के संवाददाता, ने कुछ बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है और यदि ऐसा नहीं है, तो चिकित्सक स्वयं सामने आएगा और उस समाज की पर्याप्त भरपाई करेगा जिसे उसने अपने अभद्र व्यवहार से कलंकित किया है।

पढ़ें, समझें और सिर धुनें

काठियावाड़ के एक गांव में दलित वर्गों के बच्चों के लिए एक स्कूल है। अध्यापक एक सुसंस्कृत और देशभक्त व्यक्ति है, जो डेढ़ जुलाहा (अस्पृश्य) जाति से है। उन्होंने महामहिम

गायकवाड़ की अनिवार्य शिक्षा नीति के तहत शिक्षा प्राप्त की है और वह अपनी जाति के उद्धार के लिए भरसक प्रयास कर रहे हैं। वह इतने सभ्य तथा सुसंस्कृत व्यक्ति हैं कि कोई भी उन्हें अस्पृश्य जाति का व्यक्ति नहीं कह सकता। परन्तु उसे क्योंकि सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश काठियावाड़ के एक रूढ़िवादी गांव में अपने ही जाति के बच्चों को पढ़ाना पड़ रहा है, अत: उन्हें सब कोई अस्पृश्य ही मानते हैं। परन्तु इस सबकी परवाह किए बिना वह शान्तभाव से अपना कार्य कर रहे हैं। कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते है, जब धैर्यवान व्यक्ति भी यदि असहनीय परिस्थितियों में रह रहा है तो अपनी वेदना और प्रताड़ना को प्रकट कर देता है। वह इस स्कूल मास्टर के निम्नलिखित पत्र से प्रकट हो जाता है। इसके हर छोटे से छोटे वाक्य से करुणा टपक रही है। मैंने पत्र में लिखे गांव के नाम और सम्बद्ध व्यक्तियों के नाम जान–बूझकर प्रकट नहीं किए हैं, ताकि कहीं ऐसा न हो कि स्कूल मास्टर को और कष्ट सहने पड़े।

6. नमस्कार। मेरी पत्नी ने इस महीने की पांच तारीख को एक बच्चे को जन्म दिया। 7 को वह बीमार पड़ गई, उसे दस्त लग गए, आवाज बंद हो गई, सांस लेने में तकलीफ होने लगी, छाती पर सूजन आ गई और पसलियों में दर्द होने लगाा। मैं डा. --को बुलाने गया, लेकिन उसने कहा, "मैं अस्पृश्य के घर नहीं जाऊंगा। मैं उसकी जांच भी नहीं करूंगा।" तब मैं नगरसेठ के पास गया और गरसिया दरबार के पास गया और उनसे गुजारिश की कि वे इस मामले में मेरी मदद करें। वे आए और नगरसेठ ने जब यह जमानत दे दी कि मेरी ओर से फीस के रूप में वे दो रुपये डाक्टर को देंगे और इस शर्त पर, कि मरीज को घर के बाहर निकालने के बाद ही वह उसे देखेगा, वह आने को तैयार हो गया। वह आया और दो दिन की जच्चा को बाहर निकलवा दिया। तब डाक्टर ने थर्मामीटर एक मुसलमान को दिया। फिर उसने मुझे दिया। मैने थर्मामीटर लगाया और मुसलमान को लौटाया और उसने डाक्टर को दिया। तब कोई रात के आठ बजे होंगे और लैम्प की रोशनी में डाक्टर ने थर्मामीटर देखकर कहा कि "इसे निमोनिया है और सांस घुट रही है"। इसके बाद डाक्टर चला गया और दवाई भेज दी। मैंने बाजार से अलसी का तेल खरीदा और हम उसकी छाती पर अलसी के तेल की पुल्टिस बांध रहे हैं और दवाई दे रहे हैं। डाक्टर फिर उसे जांचने को तैयार नहीं हुआ। उसने दूर से ही देखा। मैने उसे फीस के दो रुपये दिये। बीमारी खतरनाक है। सब कुछ ऊपर वाले के हाथ में है।,

II

मेरे जीवन का प्रकाश बुझ गया है। आज दोपहर बाद दो बजे उसका निधन हो गया।

टिप्पणी करना व्यर्थ है। उस डाक्टर की अमानवीयता के बारे में कोई क्या कह सकता है, जिसने शिक्षित होते हुए भी थर्मामीटर लगाने तक से इंकार कर दिया और साफ भी मुसलमान से कराया। उसने दो दिन से तड़प रही एक नारी को कुत्ते बिल्ली से भी गया बीता समझा। कोई उस समाज को क्या कहे, जो इस अमानवीयता को सह रहा है। कोई केवल समझ कर सिर की धुन सकता है।

ए.वी. ठक्कर

मद संख्या 6

(टाइम्स आफ इंडिया, 1-4-28 और 10-2-28 से)

हिन्दुओं का अत्याचार

बलाइयों के लिए नियम

निर्धारित जीवनचर्या

पिछले मई के महीने में सवर्ण हिन्दुओं ने अर्थात कलोटों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने जिनमें गांव कनाड़िया, बिचौली हफ्सी, बिचौली, मरदाना और इंदौर जिले के 15 दूसरे गांवों के पटेल व पटवारी भी शामिल हैं, बलाइयों से कहा है कि यदि वे इन गांवों में रहना चाहते हैं, तो उन्हें ये नियम मानने पड़ेंगे: 1. बलाई जरी की किनारी वाली पगड़ी नहीं पहनेंगे; 2. वे रंगीन या फैंसी किनारीदार धोती नहीं पहनेंगे; 3. वे किसी हिन्दू की मृत्यु पर उसके रिश्तेदारों को खबर करेंगे, चाहे वे कितने ही दूर रहते हों; 4. हिन्दुओं के शादी, विवाह के अवसर पर बारात के आगे और शादी के दौरान गाने बजाने का काम करेंगे; 5. बलाई स्त्रियां सोने-चांदी के जेवर नहीं पहन सकतीं, वे फैंसी लंहगे व कुर्ती भी नहीं डाल सकतीं; 6. बलाई स्त्रियां हिन्दुओं की स्त्रियों का प्रसव कराएंगी; 7. बलाइयों को ये खिदमतगारी बिना उजरत के करनी होगी और खुशी से उन्हें जो दिया जाएगा, उसे वे स्वीकार कर लेंगे; 8. यदि बंलाई इन शर्तों को नहीं मानते हैं, तो वे गांव छोड़ दें।

बलाइयों का इंकार

बलाइयों ने शर्तें मानने से इंकार कर दिया और हिन्दुओं ने उनके विरुद्ध कार्यवाही शुरू कर दी। बलाइयों का कुओं पर चढ़ना बंद हुआ। उनके पशुओं के चरने पर रोक लगी। हिन्दुओं की जमीन पर होकर गुजरना बंद हुआ। यदि किसी बलाई का खेत हिन्दुओं के खेतों से घिरा है तो उसके रास्ते बंद हुए। हिन्दुओं के जानवर बलाइयों के खेत उजाड़ने लगे। बलाइयों ने दरबार से गुजारिश की परन्तु उन्हें समय पर मदद नहीं मिली और सैकड़ों बलाई जुल्म सहते रहे। उन्हें अपने बाल बच्चों सहित वह गांव छोड़ना पड़ा जहां उनके पुरखे पीढ़ियों से रहते थे। वे धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर जैसे पड़ोसी दूसरे राज्यों के गांवों में जा बसे।

जबरन समझौता

इंदौर से उत्तर में केवल 7 मील दूर रेवती गांव के हिन्दुओं ने कुछ दिन पहले बलाइयों को आदेश दिया कि वे दूसरे गांवों के हिन्दुओं द्वारा बलाइयों के विरुद्ध बनाए गए नियमों पर आधारित स्वीकृत समझौते पर हस्ताक्षर करें। बलाइयों ने इंकार कर दिया। बताया जाता है कि उनमें से कुछ की हिन्दुओं ने बुरी तरह ठुकाई की और एक को खम्बे से बांध दिया और कहा कि उसे तभी छोड़ा जाएगा जब वह समझौते पर हस्ताक्षर के लिए राजी हो जाए।

उसने हस्ताक्षर कर दिए और जान छुड़ाई। कुछ बलाई दौड़कर अगले दिन 20 दिसम्बर को प्रधानमंत्री के पास चले गए और उन्हें रेवती गांव के हिन्दुओं के जुल्म की रामकहानी सुनाई। उन्हें जिले की सभा के पास भेजा गया। इस अधिकारी ने पुलिस की सहायता से जांच की और सिफारिश की कि हिन्दुओं के विरुद्ध भारतीय दंड सहिंता की धारा 342 और 147 के अधीन और बलाइयों के विरुद्ध धारा 147 के तहत कार्रवाई की जाए।

बलाइयों ने गांव छोड़ा

जाति उत्पीड़न

कानून की जानकारी न होना, एक असुविधा

कई गांवों के बलाइयों के प्रति हिन्दुओं के व्यवहार में कोई सुधार नहीं हुआ। यह पहले बताया जा चुका है कि सवर्ण हिन्दुओं ने बलाइयों के साथ दुर्व्यवहार किया। इंदौर जिले के अकेले देपालपुर परगने में भारी संख्या में बलाइयों को घर छोड़ने पड़े और आस पास के राज्यों में शरण लेनी पड़ी। जिन गांवों से बलाइयों को भागना पड़ा वे हैं– बदोली, अहिर खेड़ाल, पिपलोदा, मूरखेड़ा, पामलपुर, बड़ौदा, चटवाड़ा, नेवरीपान, सनौधा, अजनौटी खतेड़ी और सनावड़ा। पामलपुर गांव तो पूरी तरह उजड़ गया और वहां बलाइयों का नामोनिशान नहीं है। बताया जाता है कि इन गावों के एक निवासी नंदा बलाई की हिन्दुओं ने जमकर धुनाई की। रिपोर्ट के अनुसार एक गांव में हिन्दुओं ने बलाइयों की सभी झोपड़ियों में आग लगा दी और अभियुक्तों का अभी तक कोई सुराग नहीं मिला है।

बलाई भोले भाले ग्रामीण है और कानून से अंजान हैं। उन्हें विश्वास है कि एक बार सरकार को अर्जी भेज देने से सब कुछ खुद ही ठीक हो जाएगा। उन्हें अपनी शिकायत दर्ज कराने का न तरीका पता है और ना ही उनके पास साधन हैं। और बताया जाता है कि वे कुछ मामलों में अपने आरोपों के समर्थन में न कोई गवाह पेश कर सके और न खुद पेश हो सके। मजिस्ट्रेट के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि वह मुकदमा खारिज कर दे।

मद संख्या 7

(बंबई क्रानिकल, 25 फरवरी 1928 से)

(रूढ़िवादिता का पागलपन 'अस्पृश्यों' के प्रति कथित बर्बर व्यवहार महार होने का अपराध)

अहमदाबाद से श्री केशवजी रन छोड़ वघेला ने बहिष्कृत हितकारिणी सभा के अध्यक्ष डा. भीमराव अम्बेडकर को सूचना दी है:

''बापूराव लक्ष्मण और उनके भाई कौरव पिछले 6 वर्षों से अहमदाबाद में रह रहे हैं। वे मराठा जाति के दक्कन से आए कुछ लोगों के साथ उठते बैठते थे। दामू और लक्ष्मण नामक कौरव के दो बेटे मराठों की भजन मंडलियों में हिस्सा लिया करते थे। लेकिन हाल

में मराठों को पता चला कि दामू और लक्ष्मण नामक दोनों भाई महार जाति के थे और इस बारे में निश्चय करने के लिए सूरत और अहमदाबाद के बीच चलने वाली पार्सल ट्रेन में काम करने वाले दो महारों को दामू और लक्ष्मण को पहचानने के लिए खास तौर पर बुलाया गया। यह निश्चय कर लेने के बाद कि दामू और लक्ष्मण महार थे, उन्हें इसी महीने की 11 तारीख की आधी रात को कालूपुर भंडारी पोल में भजन मंडली के लिए बुलाया गया। जब पूछा गया कि वे किस जाति के थे, दामू और लक्ष्मण ने उत्तर दिया कि वे सोमवंशी थे। इस उत्तर से मराठे क्रुद्ध हो गए। मराठों ने उन्हें जी भर कर गालियां दी और कहा कि उन्होंने उनके व्यक्तियों और स्थानों को भ्रष्ट किया है। मराठों ने महार बधुंओं की ठुकाई व पिटाई की। एक भाई के पास सोने की अगूंठी थी। वह उससे जबरन छीन ली गई और उसे ग्यारह रुपये में बेच दिया गया। इस रकम में से 6 रुपये उस महार को अदा कर दिए गए, जिसे इन बंधुओं की पहचान के लिए सूरत से बुलाया गया था। दामू और लक्ष्मण ने मराठों से चिरौरी और विनती की कि उन्हें उनके घर लौटने दिया जाए, लेकिन मराठों ने कहा कि वे तभी जा सकते थे, जब वे 500 रुपये का जुर्माना अदा कर दें। जब महार बंधुओं ने कहा कि वे इतनी बड़ी रकम तो नहीं दे सकते, तो एक मराठे ने सुझाव दिया कि महार बंधुओं पर केवल 125 रुपये का जुर्माना किया जाए। लेकिन एक मराठे ने जुर्माने के सुझाव का विरोध करते हुए कहा कि उन्हें केवल जुर्माने से संतुष्ट नहीं होना चाहिए, बल्कि अपनी जाति छिपाने के अपराध के लिए महार बंधुओं को कठोर दंड देना चाहिए।

ऐसा निर्णय कर लेने के बाद महार बंधुओं को रोक लिया गया और सवेरे 9 बजे के लगभग उनका बर्बरतापूर्ण तिरस्कार किया गया। बांई ओर की उनकी मूछें और दांई ओर की उनकी भौंहें उस्तरे से साफ कर दी गईं। उनके शरीरों पर तेल और मिट्टी में सनी कालिख पोत दी गई। उनके गलों में पुराने जूतों की मालाएं डाल दी गईं। उनमें से एक के हाथ में झाडू पकड़ा दी गई। दूसरे के हाथ में तख्ती पकड़ा दी गई। उस पर लिखा था कि अपराधियों को दंड इसलिए दिया गया कि उन्होंने उच्च जाति के लोगों को स्पर्श करने का दुस्साहस किया। महार बंधुओं का जुलूस निकाला गया। कोई 75 लोग उसमें साथ थे। आगे आगे ढोल पीटा जा रहा था।

उक्त दोनों महार बंधुओं ने पुलिस से शिकायत की है। अभियुक्त ने अपने बयान में स्वीकार किया है कि दामू और लक्ष्मण के साथ कथित प्रकार से बर्ताव किया गया, लेकिन कहा कि शिकायत करने वालों ने स्वेच्छा से दंड भुगतना स्वीकार किया था। जाहिर है कि दामू और लक्ष्मण उस समय असहाय थे, जब उन्हें गालियां दी गईं, उन्हें मारा पीटा गया और कठोर दंड की धमकी दी गई और वस्तुत: उनका बर्बरतापूर्वक तिरस्कार किया गया। इस मामले ने तथाकथित अस्पृश्य जातियों के लोगों में भारी सनसनी पैदा कर दी है। शिकायत करने वालों को कानूनी मदद देने के लिए प्रयास किए जा रहे हैं।

मद संख्या 8

(*बोंबे लेजिस्लेटिव काउंसिल डिबेट्स*, 1927, खंड 20)

(भाग 16 पृ. 1373)

पुलिस में महारों की भर्ती

डा. भीमराव अम्बेडकर: क्या सरकार यह बताने की कृपा करेगी कि प्रेसिडेंसी में पुलिस बल में दलितों की भर्ती पर पाबंदी का कोई नियम है?

माननीय श्री जे. ई.बी. हाटसन: ऐसा कोई नियम नहीं है।

डा. भीमराव अम्बेडकर: क्या माननीय सदस्य मुझे बताने की कृपा करेंगे कि बंबई शहर के पुलिस आयुक्त पाबंदी न होते हुए भी दलितों को पुलिस में भर्ती करने से क्यों इंकार करते है?

माननीय श्री जे.ई. बी. हाटसन: यह एक बड़ा मामला है। मैं केवल इतना कह सकता हूं कि कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, जिसे सदन का प्रत्येक सदस्य जानता है और जो पुलिस में इन वर्गों की भर्ती में बाधा है। इस पर कोई पाबंदी नहीं है।

टिप्पणी — श्री हाट्सन द्वारा बताई गई व्यावहरिक कठिनाइयां स्पष्टत: अस्पृश्यता से उत्पन्न कठिनाइयां हैं।

मद संख्या 9

(*बोंबे लेजिस्लेटिव कांउसिल डिबेट्स*, 1928, खंड 22)

(भाग 2, पृष्ठ 96-97)

सरकारी सेवा में क्लर्क

श्री आर. एस. असराले: क्या सरकार यह बताने की कृपा करेगी कि विभिन्न सरकारी विभागों के कार्यालयों में क्लर्कों की संख्या क्या है?

माननीय श्री चुन्नीलाल मेहता: **वांछित सूचना** देने वाला विवरण सदन के सभा पटल पर रख दिया **गया है:**

	मरा० और सम्बद्ध जातियां	मुस्लिम	दलित वर्ग	उन्नत हिन्दू	पारसी	ईसाई व यहूदी	अन्य	कुल
1. सचिवालय	31	11	-	268	38	81	11	440
2. लोक निर्माण विभाग	6	-	-	64	8	10	3	91
3. बंबई कलक्टर	3	8	-	28	-	4	1	44
4. आबकारी आयुक्त	1	-	-	12	5	-	-	18

5. लघुवाद न्यायालय	9	7	–	58	1	5	8	97
6. उच्च न्यायालय	4	15	–	125	22	23	9	198
7. बंबई पुलिस के न्यायालय	7	4	–	32	–	4	–	47
8. बंबई पुलिस आयुक्त	–	7	–	59	–	4	–	87

मद संख्या 10

(टाइम्स आफ इंडिया, 30 मई 1928)

चमारदास और महारदास

ये बड़े-बड़े राजनीतिक सूरमा अस्पृश्यों की मजबूरियों और मुसीबतों का जब बखान करते हैं तो वे कितने ईमानदार होते हैं यह बात महाराष्ट्र सम्मेलन में उस समय एकदम साफ हो गई जब अस्पृश्यता निवारण के प्रश्न को चालाकी से टाल दिया गया। इस चालाकी का विरोध करने वाले लगभग आधा दर्जन लोग स्वराज्य से जुड़े थे। उनमें से एक ने उस पत्र में एक बेलाग लेख लिखा जिसमें इस विकट समस्या के बारे में आम हिन्दुओं के दृष्टिकोंण का भंडाफोड़ किया गया था और महाराष्ट्र सम्मेलन में जो कुछ हुआ था, उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया था। पूना के समता संघ के बारे में लेखक का कहना है, "मेरे एक मित्र ने बातचीत के दौरान एक दिन मुझसे कहा, 'चूंकि आप जैसे लोग उनसे मिल जाते हैं इसलिए ये चमारदास और महारदास इतने गुस्ताख हो जाते हैं' --।" इस कथन से कोई भी समझ सकता है कि सवर्ण हिन्दुओं के मन में अभी भी अस्पृश्यों के प्रति कितनी अधिक नफरत भरी है।

संकल्प और कृत्य

खिन्न सुधारवादी लेखक आगे कहता है, महात्मा जी ने उद्घोषणा की है कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर कलंक है। स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपत राय ने कहा है कि जब तक हिन्दू समाज से अस्पृश्यता का निवारण नहीं होगा तब तक हम स्वराज्य प्राप्त नहीं कर सकेंगे। पिछले सात वर्षों के दौरान अस्पृश्यता निवारण के लिए कांग्रेस द्वारा सकंल्प पारित किए जाते रहे हैं परन्तु इन सभी गतिविधियों का क्या परिणाम निकला? उच्च शिक्षा प्राप्त लोग अभी भी इस प्रकार की बातें करते हैं। हम कांग्रेस और हिन्दू सभा में ऐसे संकल्प पारित करते हैं जिनमें मंदिरों में अस्पृश्यों के प्रवेश करने की वकालत की जाती है और आग्रह किया जाता है कि सार्वजनिक जलाशय, कुएं आदि उनके लिए खोल दिए जाएं। परन्तु जब उन पर अमल करने का समय आता है तो हम अस्पृश्यों की भर्त्सना करते हैं और उन्हें प्रताड़ित करते हैं एवं उनके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करते हैं तथा उन्हें जेल भिजवाते हैं।

मद संख्या -11
दपोली (जिला रत्नागिरि) में हुए दलित वर्ग सम्मेलन में पारित संकल्प

1. (क) यह सम्मेलन इस जिले में दलित वर्गों द्वारा मृत पशुओं का मांस खाने से इंकार करने के कारण उनके विरुद्ध तथाकथित हिन्दुओं द्वारा चलाए जा रहे उत्पीड़न के अभियान पर अपना रोष व्यक्त करता है।

   (ख) इस सम्मेलन को यह जानकर बहुत दुःखहुआ है कि जिले के पुलिस अधिकारी और मजिस्ट्रेट दलित वर्गों के लोगों के साथ गाली-गलौज करते हैं और तथाकथित सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचार और अन्याय से उनकी रक्षा नहीं करते। यथा दलित जातियों के पशुओं को काजी हौज में बन्द कर देते हैं और उनके साथ मारपीट करते हैं और उनका सामाजिक बहिष्कार करके बाजारों से उन्हें दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं नहीं खरीदने देते।

   यह सम्मेलन सरकार से अपील करता है कि वह वतनदार महारों को आम तौर पर दिया जाने वाला 'बलूता' पारिश्रमिक दिलाने के लिए कार्यवाही करे। इन महारों को सवर्ण हिन्दू ग्रामीण यह पारिश्रमिक नहीं दे रहे हैं, क्योंकि इन महारों ने कह दिया है कि वे मृत पशु का मांस नहीं खाएगें और न वे मृत पशुओं को उठाएंगे, न भीख मांगेंगे और न अन्य गलीज काम करेंगे।

2. (क) पता चला है कि अनेक गांवों में पुलिस पटेल दलित वर्गों के लोगों के विरुद्ध उत्पीड़न के आंदोलन को शह देते हैं। अतः यह सम्मेलन सरकार से अनुरोध करता है कि वह ऐसे पुलिस पटेलों के खिलाफ उचित कार्यवाही करे।

   (ख) यह सम्मेलन सरकार से अनुरोध करता है कि वह दलित वर्गों की रक्षा के लिए उनमें से ही एक विशेष पुलिस निरीक्षक प्रत्येक जिले में नियुक्त करे तथा इन वर्गों के लोगों को पुलिस सेवा में भर्ती करे।

   (ग) यह सम्मेलन सरकार से अनुरोध करता है कि वह वादवाल, मातवेन, तुलसी, देगांव, मंडनगढ़, सतारा आदि गावों में सामूहिक जुर्माना करने वाली पुलिस तुरन्त तैनात करे और उसकी कमान दलित वर्गों के सैनिक पेंशनरों के हाथ में हो। इस पुलिस का खर्च इन गांवों में रहने वाले तथाकथित सवर्ण हिन्दू उठाएं, क्योंकि यह तथ्य है कि उत्पीड़न तथा सामाजिक बहिष्कार तथा खुले आक्रमणों के कारण दलित वर्गों के लोगों के लिए इन गांवों में रहना दूभर हो गया है।

(3) इस सम्मेलन की यह दृढ़ सम्मति है कि भारत को स्वराज की कोई अगली किस्त तब तक न दी जाए, जब तक कि दलित वर्गों के हितों की रक्षा के लिए कोई समुचित व्यवस्था न कर ली जाए।

मद संख्या-12

(बंबई क्रानिकल, दिनांक 20-10-27 से)

नगरपालिका के स्कूल (बंबई शहर में)

स्कूल कमेटी ने पानी के 'लोटों' के मामूली से सवाल पर सहम कर अपनी स्थिति हास्यास्पद बना ली है, ऐसा लगता है कि निगम के इस संकल्प के बावजूद कि नगरपालिका के स्कूलों में जाति का कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए, 'दलित वर्गों' के बच्चों को पानी पीने के लिए अलग लोटे दिए जाते हैं। स्कूलों की कमेटी की एक उपसमिति ने सिफारिश की कि सभी बच्चों को एक से लोटे दिए जाएं। लेकिन स्कूलों की कमेटी के सदस्य इस सिफारिश के बारे में गहन सोच में पड़ गए और सभी प्रकार की आशंकाएं उन्होंनें व्यक्त की। कुछ ने कहा कि परिवर्तन से सवर्ण हिन्दू क्षुब्ध हो जाएंगे। जाहिर है कि छोटी जाति के हिन्दुओं के क्षोभ का तो कोई ज्यादा महत्व ही नहीं होता। प्रो. बी.जी. राव ने कहा कि यह एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। श्री डी.जी. दलवी ने, जो स्वयं एक जानेमाने समाज-सुधारक हैं, इन आशंकाओं में एक कानूनी आशंका जोड़ दी कि कुछ माता-पिता तो कमेटी पर मुकदमा ठोक सकते हैं। अंततः स्कूलों की कमेटी ने यह मसला विचार के लिए पुनः उपसमिति को भेज दिया, जिसका एक प्रकार से यही अर्थ था कि उन्हें उपसमिति की सिफारिश स्वीकार्य नहीं है।

जान-बूझकर किया गया अपमान

उपरोक्त आशंकाएं बेतुकी हैं, क्योंकि हर बच्चे से आशा की जाती है कि वह लोटे को सफाई की दृष्टि से और यदि वह जातिभेद पर विश्वास रखता है, तो जाति की दृष्टि से उसे भली-भांति साफ रखे। जिस लोटे को एक बार कोई 'अस्पृश्य' बच्चा इस्तेमाल कर लेता है, वह लोटा साफ हो जाने के बावजूद 'सवर्ण हिन्दुओं' के बच्चों के लिए स्वयमेव अस्पृश्य या बेकार हो जाता है। यह बात अभागे 'दलित वर्गों' के बच्चों का जान-बूझकर किया गया अपमान है। निश्चय ही हमें यह आशा नहीं थी कि स्कूलों की कमेटी उसका समर्थन करेगी। श्री दलवी ने कहा कि कुछ क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा को दृष्टि में रखते हुए माता-पिता कमेटी पर यह दावा ठोक सकते हैं कि उसने ऐसे दायित्व को लागू किया है, जो किसी भी प्रकार कानूनी नहीं है। लेकिन किसी पर भी यह दायित्व नहीं डाला जा सकता कि वे स्कूलों में सांझे लोटों का इस्तेमाल करें। जो माता-पिता अधिक कट्टर हैं, अपने बच्चों को उनके निजी लोटे दे सकते हैं, और अपने 'धर्म' की रक्षा कर सकते हैं। जहां तक दलित वर्गों का संबंध है, उनका अपमान तो होता ही है, चाहे वे अपना निजी लोटा लाएं या अन्य स्कूलों में चले जाएं जहां न्याय का और अच्छा वातावरण हो।

घ

भारतीय सांविधिक आयोग के समक्ष 23 अक्तूबर 1928 को डा. अम्बेडकर का साक्ष्य

भारतीय सांविधिक आयोग, पूना*
दिनांक 23 अक्तूबर 1928

उपस्थिति

आयोग की केन्द्रीय समिति (राजा नवाब अली खां के सिवाय) प्रांतीय समिति के और सभी सदस्य

डा. भीमराव अम्बेडकर (बंबई समिति के एक सदस्य) और डा. पी. जी. सोलंकी (दलित वर्गों के प्रतिनिधि) को बुलाया गया और उनसे पूछताछ की गई।

चेयरमैन: मैंने अपने सहयोगियों को स्मरण करा देना चाहता हूं कि हमारे समक्ष ये दस्तावेज होने चाहिएं: डिप्रेस्ड क्लासेज इन्स्टीटयूट आफ बोंबे की ओर से डा. अम्बेडकर का बयान और डिप्रेस्ड इंडियन एसोसिएशन तथा सर्वेन्ट्स आफ सोमवंशी सोसायटी का संयुक्त ज्ञापन। डा. अम्बेडकर ने अपना स्थान बदल लिया है, क्योंकि वह हमारे बीच इस समय एक साक्षी के रूप में हैं। जैसा कि हम जानते हैं, डा. अम्बेडकर बंबई कमेटी के एक सदस्य हैं। डा. सोलंकी, मेरा विचार है कि क्या आप या आपकी संस्था अन्य दस्तावेज देगी?

डा. सोलंकी: मैं डा. अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत दस्तावेज से सहमत हूं।

---

* भारतीय सांविधिक आयोग, खंड 16, ज्ञापनों और मौखिक साक्ष्य से लिया गया उद्धरण। सम्राट के स्टेशनरी आफिस लंदन से 1930 में प्रकाशित, पृष्ठ 52-75 यह आयोग इसके अध्यक्ष माननीय जान साइमन के नाम से लोकप्रिय है।

2. डा. अम्बेडकर, मैं चाहूंगा कि आप हमें बताएं कि इस प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों के लोगों की संख्या क्या है? क्या इस संबंध में आप हमारी सहायता कर सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार से दलित वर्गों के लोगों की संख्या बंबई सरकार द्वारा प्रस्तुत ज्ञापन के अनुसार लगभग 1478390 है, जो ज्ञापन के पृष्ठ 3 (खंड 7) पर दी गई है।

3. वह कहती है, "1921 की जनगणना के अनुसार दलितों की संख्या 1478390 के करीब है, जिनमें मुख्य रूप से ढेढ़, मांग, महार और होलिया सम्मिलित हैं। आपका इस संख्या के विषय में क्या विचार है?

डा. अम्बेडकर: आप देखेंगे कि मैने ज्ञापन के पृष्ठ 39 पर यह संख्या लगभग 28 लाख बताई है।

4. क्या आप समझते हैं कि यह संख्या 2,800,000 होनी चाहिए?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

5. यह अंतर क्यों है?

डा. अम्बेडकर: सबसे पहले मैं यह कहना चाहूंगा कि बंबई सरकार ने जो आंकड़े दिए हैं, मैं समझता हूं, वे भारत की गणना 1921 खंड 8, बंबई प्रेसिडेंसी भाग 2 से लिए गए हैं। इसकी तालिकाएं पृष्ठ 176 से आरंभ होती हैं, जब कि अपने ज्ञापन में मैंने जो आंकड़ें दिए हैं, वे भारत की जनगणना, 1921, खंड 1, अध्याय 11 से लिए गए हैं। ये आंकड़ें जनसंख्या निदेशक के हैं, जिसने विभिन्न प्रांतों से आंकड़े एकत्र किए हैं और उनके आंकड़ों को मैनें ज्यों का त्यों ले लिया है। वे मेरे ज्ञापन के पृष्ठ 39 पर 'भारत में दलितों की संख्या' शीर्षक के अंतर्गत दिए गए हैं। इनमें प्रत्येक प्रांत में दलितों की संख्या दर्शाई गई है। अतः इन दोनों तरह के आंकड़ों में इसी कारण से अंतर हैं। दरअसल, ये आंकड़े, चाहे केन्द्रीय हों और चाहे प्रांतीय, पूरी तरह कभी सही नहीं हो सकते। वास्तव में, यदि यह सम्मेलन भारत के जनगणना निदेशक की उन टिप्पणियों को देखे, जिन्हें मैने अपने ज्ञापन के पृष्ठ 39 पर शुरू में उद्धृत किया है, तो पता चलेगा कि दलितों की कुल अनुमानित संख्या बताने के बाद वह कहते है (देखिए ज्ञापन का पृष्ठ 39, देखिए इसी पुस्तक के पृष्ठ 426-37 पर पैरा 7, उद्धरण पैरा 193*) "तथापि हमें मोटे तौर पर लगाया गया अनुमान समझना चाहिए क्योंकि इसमें (1) सम्बद्ध जातियों और जनजातियों की और (2) हाल ही में हिन्दू धर्म में शामिल किए गए उन जनजातीय आदिवासियों की पूरी संख्या दी गई है, जिनमें से अधिकांश को अपवित्र माना जाता है। हम विश्वासपूर्वक दलितों की संख्या बता सकते हैं, जिनका रक्त शुद्ध नहीं माना जाता है। वे सम्पूर्ण भारत में साढ़े पाँच करोड़ से छह करोड़ के बीच हैं। फिर वह हर प्रांत के आंकड़े देते हैं।

6. आपको बुरा तो नहीं लगेगा, यदि मैं सही आंकड़ों के संदर्भ में नहीं, बल्कि दो

---

* देखिए इसी पुस्तक के पृष्ठ 436-37 पर पैरा 7, उद्धरण पैरा 193

अवधारणाओं के बीच तुलना करके अपनी दुविधा दूर करना चाहूं? यह स्पष्ट है कि यदि कुछ अधिकारी जनसंख्या के विवरण की सत्यता के बारे में बोलते हुए कुल संख्या 1478000 बताते हैं और दूसरे अधिकारी भी बारीकी से कहते हैं कि यह संख्या 2800,000 के लगभग है, तो यह निश्चित है कि दूसरे अधिकारियों ने उन लोगों को अपने आंकड़ों में शामिल कर लिया होगा, जिन्हें पहले अधिकारियों ने नहीं किया होगा।

डा. अम्बेडकर: ऐसा ही हुआ है और इसीलिए मैं सम्मेलन को बता देना चाहता हूं कि प्रांतीय आंकड़ों में कुछ उन जातियों को शामिल नहीं किया गया है, जो वास्तव में अस्पृश्य जातियां हैं।

7. क्या हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं? देखिए कृपया मुझे बता दें कि मैं इसे ठीक से समझ पाया हूं या नहीं। मैं इसका यथासंभव अध्ययन कर रहा हूं हालांकि मुझे आपकी और डा. सोलंकी की सहायता वांछित है। "दलित वर्गों" शब्द का तात्पर्य आप उन अस्पृश्यों से ले रहे हैं, जो हिन्दू हैं परन्तु जिनका हिन्दुओं के मंदिरों में प्रवेश वर्जित है। क्या यह ठीक है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

8. दूसरे शब्दों में आप दलित वर्गों में केवल उन्हीं लोगों को सम्मिलित नहीं करते, जिनका मैंने जिक्र किया है, बल्कि जरायम पेशा जातियों, पर्वतीय जनजातियों और अन्य लोगों को भी, जिनका समाज में निम्न स्थान है और जो हिन्दू परम्परा के अनुसार संकीर्ण दृष्टि से सभंवत: अस्पृश्य नहीं हैं, उन्हें भी शामिल कर लेते हैं।

डा. अम्बेडकर: ठीक है।

9. क्या यह संभावित दृष्टिकोण नहीं है।

डा. अम्बेडकर: हां, यह संभावित दृष्टिकोण है।

10. क्या यह इस बात का सही स्पष्टीकरण नहीं है कि किस कारण आप कुछ संदर्भों में उन दलित वर्गों को, जो अस्पृश्य हैं और जिनका हिन्दुओं के मंदिरों में प्रवेश वर्जित है, उन्हीं के एक निश्चित आंकड़े ले लेते हैं, जब कि दूसरी ओर आप कभी-कभी इससे बड़े आंकड़े ले लेते हैं, जिनमें आप जरायम पेशा और पर्वतीय जनजातियों को भी शामिल कर लेते है?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार से ऐसा नहीं है, क्योंकि जो आंकड़ें मैंने दिए हैं, वे जरायम पेशा और पर्वतीय जनजातियों से भिन्न दलित वर्गों से सम्बद्ध हैं।

11. मैं आपको बता दूं। मेरे सामने ये तीन आंकड़े हैं। अस्पृश्यों के बारे में एक आंकड़ा 1478000 है जो 1921 की जनगणना से लिया गया है और जिसमें महार, ढेढ़ आदि शामिल हैं। फिर मेरे पास जरायम पेशा जातियों की लम्बी सूची है जिसका आंकड़ा 589000 है। तीसरी सूची आदिम जातियों और पर्वतीय जनजातियों की है। भील और ऐसे ही लोग इनमें हैं, जो करीब 10 लाख हैं।

यदि हम पहले आंकड़े में आदिमजातियों और जरायम पेशा जातियों की संख्या जोड़ दें, तो इनका योग लगभग 2800,000 के आसपास बैठता है।

डा. अम्बेडकर: अपने ज्ञापन के पृष्ठ 39 पर, जो उद्धरण मैंने दिया है, उसे मैंने जनगणना निदेशक की टिप्पणी से लिया है। उससे मुझे आभास मिलता है कि ये आंकड़े केवल दलित वर्गों के बारे में हैं। मेरा विचार है कि जनगणना निदेशक ने, जो आंकड़े एकत्र किए हैं और उनके माध्यम से, जो मेरे ज्ञापन के पृष्ठ 39 पर उल्लिखित हैं, वह संख्या दलित वर्गों के बारे में हैं।

12. 1921 के लिए भारत के जनगणना निदेशक ने कहा है: "पिछले कुछ वर्षों से समाज के एक वर्ग विशेष को 'दलित वर्ग' कहा जाता है। जहां तक मुझे ज्ञात है, इस शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। ना ही यह निश्चित है कि सही-सही कौन इसके अधीन आते हैं।" फिर वह शिक्षा संबंधी कुछ आलोचनाओं का उल्लेख करते हैं। आपका अभिप्राय क्या इसी पैरे से है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, और "इन सूचियों के अनुसार दलितों की संख्या 3 करोड़ 10 लाख बैठती है अर्थात यह ब्रिटिश भारत के हिन्दुओं और जनजातियों के लोगों की संख्या का 19 प्रतिशत है।" इस टिप्पणी के अनुसार ऐसा लगता है कि जनजातियों को दलित वर्गों में शामिल नहीं किया गया है।

13. मुझे पता नहीं। खैर, यह व्याख्या भी संभव है और मैं समझता हूं कि आप इससे सहमत हैं कि एक संभावित व्याख्या यह है कि अस्पृश्यों का कम आंकड़ा उसी तरह का आंकड़ा है, जैसा कि मैंने परिभाषित करने की कोशिश की है। मेरे विचार से आप सहमत होंगे कि यही संभावित विचार है। यह स्पष्ट है कि कई उद्देश्यों से उन लोगों के उत्थान के लिए प्रयत्नशील लोग, जो अत्यंत दलित हैं, अपने सर्वेक्षण में लोगों की व्यापक संख्या को शामिल करना ही चाहेंगे, जिनमें जरायम पेशा व पर्वतीय जनजातियां शामिल हैं। क्या यह संभव है?

डा. अम्बेडकर: यह संभव है।

14. मैं आपको एक अन्य संभावित विचार बताता हूं। मैं कह नहीं सकता कि यह लागू होता है या नहीं। अपने दस्तावेज के पृष्ठ 39 पर आपने बिल्कुल सही कहा है कि यदि आप प्रांतीय आंकड़े भी जोड़ दें, तो सबका योग संपूर्ण भारत में साढ़े पांच करोड़ से छह करोड़ बैठता है।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

15. मेरा ख्याल है कि आपने 'भारत' में देशी राज्यों को भी जोड़ लिया है।

डा. अम्बेडकर: जी हां, परन्तु मैं एक बात और कहना चाहता हूं कि ऐसा लगता है कि उन्होनें देशी राज्यों को शामिल नहीं किया है, क्योंकि उन्होंने बड़ौदा के लिए अलग

आंकड़े दिए हैं।

16. शायद उन्होनें एक-दो बड़े देशी राज्यों को शामिल कर लिया है।

डा. अम्बेडकर: शायद, आंकड़े ऐसे ही लगते हैं।

17. हम आंकड़ों पर ही इतना समय नहीं देना चाहते,क्योंकि सही आंकड़े भले ही 15 लाख हों या 20 लाख हों या 25 लाख हों, यह स्पष्ट है कि इन लोगों की संख्या बहुत बढ़ी है और ये वे लोग हैं, जिनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए?

डा. अम्बेडकर: यहां मैं एक बात और कहना चाहता हूं कि जिन आंकड़ों से ये लिए गए हैं, वे प्रांतीय आंकड़े हैं। वे उस तालिका में है, जिसमें सभी मुख्य भारतीय जातियों का उल्लेख है। यह कोई संपूर्ण तालिका नहीं है और इस तालिका में उल्लिखित विभिन्न जातियों के बारे में मुझे पता चला है कि इसमें लगभग उन दस जातियों का तो नाम ही नहीं है, जो निश्चय ही जातियां है। उन्हें भारत की मुख्य जातियों में शामिल नहीं किया गया है।

18. यदि आप दोनों सहमत होते हैं, तो मैं एक सुझाव देना चाहता हूं। आपने आंकड़ों संबंधी मुख्य बातों की ओर ध्यान दिलाया है और मेरा विचार है कि बेहतर यही होगा कि हम शत-प्रतिशत सही आंकड़ों के पचड़े में न पड़ें और इन आंकड़ों से यथाशीघ्र छुटकारा पा लें। तभी हम इन जातियों की स्थिति और इनके साथ किये जा रहे व्यवहार के प्रश्न पर विचार कर सकते हैं। अन्यथा हम इन आंकड़ों में ही लम्बे समय तक उलझे रहेंगे। मैंने वही पूछा है, जो मेरे विचार में संगत है और मैं समझता हूं कि सकुंचित दृष्टिकोंण अपनाएंगे, तो यह आंकड़ा 15 लाख होगा और यदि व्यापक दृष्टिकोंण अपनायेंगे, तो यह 20 और 30 लाख के बीच होगा। मेरे विचार में आपने ऐसा ही कहा है।

डा. अम्बेडकर: जी हां, परन्तु इस शर्त के साथ कि बंबई की दस जातियों को नहीं गिना गया है।

चेयरमैन: हम असल बात पर आना चाहते हैं और वह है, उनका प्रतिनिधित्व। क्या कोई इन आंकड़ों में पड़ा रहना चाहता है? श्री राजा, क्या आप संतुष्ट हैं कि हम यह समझें कि आंकड़ें कुछ-कुछ ऐसे ही हैं?

राव बहादुर राजा: कौन से आंकड़े?

चेयरमैन: क्या आपका विचार है कि हम वास्तव में महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करें, जो उनके प्रतिनिधित्व से संबंधित है और यह मान लें कि बंबई प्रेसिडेंसी में 1921 की जनगणना में 15 लाख का आंकड़ा दिया गया है, परन्तु जैसा मैंने पहले भी कहा, दलितों की संख्या बहुत संकुचित दृष्टिकोंण अपना कर बताई गई है। वे धर्म की दृष्टि से अस्पृश्य हैं, परन्तु जैसा कि डा. अम्बेडकर ने कहा है कि यदि आप सही और उदार दृष्टिकोंण अपनाएं, तो वास्तविक आंकड़े 20-30 लाख के बीच हैं। क्या यह सही नहीं है?

राव बहादुर राजा: जी हां, यह ठीक है।

चेयरमैन: क्या इस बारे में कोई कुछ और कहना चाहता है?

19. कर्नल लेन फौक्स: जो दो ज्ञापन हमें मिले हैं, वे किन आंकड़ों पर आधारित हैं? प्रत्येक ज्ञापन में आपने दलितों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व मांगा है। एक ज्ञापन में आप वयस्क मताधिकार की मांग करते हैं और आपने सेना, नौसेना और अन्य नौकरियों में विशेष भर्ती की मांग की है। यदि आप यह आदिमजातियों और जरायम पेशा जातियों के लिए भी मांगते हैं, तो स्पष्टतः यह बहुत बड़ी बात है। यह सुविधाएं आपने बड़ी संख्या के लिए मांगी हैं या छोटी संख्या के लिए?

डा. अम्बेडकर: मैंने यह दलित वर्गों के लिए मांगी है।

20. आदिम जातियों और जरायम पेशा जातियों के लिए भी?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, मैं नहीं समझता कि उन्हें वयस्क मताधिकार देना संभव होगा।

21. परन्तु आप बड़ी संख्या का उल्लेख करते हैं?

डा. अम्बेडकर: मैं इस बात को बिल्कुल नहीं मान रहा हूं कि मैंने अपने ज्ञापन में जो संख्या दी है, उसमें आदिमजातियां और पर्वतीय जनजातियां भी शामिल हैं। मैं अब भी यही कहता हूं कि यदि सही हिसाब लगाया जाय, तो मैंने जो आकंड़े दिए हैं, वे दलित वर्गों से संबंधित हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि दूसरा दृष्टिकोंण भी संभव हो सकता है।

चेयरमैन: मैं केवल एक बात और कहना चाहता हूं। माननीय आर्थर फ्रूम इसकी पुष्टि करेंगे। मैंने देखा है, मुडीमैन कमेटी (सुधार जांच कमेटी 1925) की रिपोर्ट के पैरा 64 में संलग्न तालिका में यह संख्या 2800000 दी गई है।

22. *माननीय हरिसिंह गौड़:* डा. अम्बेडकर, क्या आप दलित वर्गों और अस्पृश्यों को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

23. दलित वर्गों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व मांगते समय क्या आप केवल अस्पृश्यों के ही लिए इसकी ही मांग करते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

24. आपका कहना है कि कुछ आदिमजातियां अस्पृश्य नहीं हैं?

डा. अम्बेडकर: हो सकता है कि कुछ भागों में वे हों। मैं उनकी पैरवी नहीं करता।

25. वे अस्पृश्य नहीं हैं, जरायम पेशा जातियां भी अस्पृश्य नहीं हैं?

डा. अम्बेडकर: उनमें से कुछ हैं।

26. कुछ हैं, लेकिन जाति के रूप में नहीं?

डा. अम्बेडकर: जरायम पेशा जातियों का शेष हिन्दुओं से इतना कम सामाजिक संपर्क होता है कि इस विषय पर कोई निश्चित बात कहने का कोई आधार नहीं है, परन्तु यदि उनका संपर्क होता, तो वे अस्पृश्य ही माने जाते।

27. कुछ ऐसी जातियां है, जो स्पृश्यता और अस्पृश्यता के बीच खड़ी हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरा विचार है कि वे अस्पृश्यों से भी नीचे हैं?

28. नहीं, सामाजिक स्थिति में ऊंची एक ऐसी जाति है, जो अर्ध अस्पृश्य है?

डा. अम्बेडकर: मैं कह नहीं सकता परन्तु मैं समझता हूं कि जरायम पेशा जातियों के बारे में हमारे पास कोई आंकड़ें नहीं हैं कि वे अस्पृश्य हैं या नहीं, क्योंकि मुख्य हिन्दुओं और जरायम पेशा जातियों के बीच संपर्क नाममात्र का होता है।

29. जरायम पेशा और आदिमजातियों को छोड़ दें। मैं अब अस्पृश्यों की बात कर रहा हूं। स्वयं अस्पृश्यों में भी अंतर है, उनमें से कुछ ऐसे हैं, जो अर्ध अस्पृश्य माने जातें हैं?

डा. अम्बेडकर: (दोनों साक्षी) जी नहीं।

30. मैं आपको एक मिसाल देता हूं। चमारों की क्या स्थिति है?

डा. अम्बेडकर: वह पूरी तरह अस्पृश्य हैं।

31. उतना ही जितना महार?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

32. क्या आपको इसका विश्वास है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, यदि आप सांझे पनघट और मंदिर प्रवेश को मापदंड मानें।

33. जी नहीं, मेरा अस्पृश्यता से आशय है कि छू जाने से सवर्ण हिन्दू अपवित्र हो जाएगा।

डा. अम्बेडकर: ठीक है, आप मंदिर प्रवेश और कुएं को मापदंड मान सकते हैं।

चेयरमैन: आखिरकार हम बुनियादी तौर पर संवैधानिक और राजनीतिक जांच-पड़ताल कर रहे हैं। सामाजिक प्रथाओं और ऐसी धार्मिक पंरपराओं को जिनकी जड़ें बहुत गहरी हैं, किसी आयोग द्वारा एक दिन में दूर नहीं किया जा सकता। यह एकदम साफ बात है। दलित वर्गों का अर्थ है, अस्पृश्य जातियां, वे जातियां जिनका मंदिर-प्रवेश वर्जित हैं और जिन्हें स्कूलों, धर्मशालाओं आदि की सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं। जैसा कि माननीय हरिसिंह गौड़ ने कहा है, जरायम पेशा व पर्वतीय जनजातियां और इसी तरह के लोग, जो भारत में रहते हैं और राजनीतिक और संवैधानिक दृष्टि से इनके साथ वे भी जो सभ्यता में पिछड़े हैं, उनकी ओर भी हमारा ध्यान जाना चाहिए।

माननीय हरिसिंह गौड़: हिन्दू चार वर्णों में विभक्त हैं। शूद्रों का मंदिर प्रवेश वर्जित है...

चेयरमैन: मेरे विचार में यह हम सब समझते हैं। तथापि, हम हिन्दू धर्म के लिए कोई कानून नहीं बना रहे हैं, बल्कि ब्रिटिश भारत के ढांचे पर विचार कर रहे हैं, जो बिल्कुल अलग बात है।

34. उस आंकड़े के आधार पर आप कौन से मार्ग को उचित ठहराना चाहते हैं, जिसके द्वारा भारत के संविधान में, खासकर बंबई प्रेसिडेंसी के संविधान में इन लोगों के लिए व्यवस्था की जाए?

डा. अम्बेडकर: पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूं कि हम दावा करते हैं कि हमें हिन्दुओं से अलग एक विशिष्ट अल्पसंख्यक माना जाए। अभी तक हमें हिन्दुओं में शामिल करके हमारे अल्पसंख्यक स्वरूप को छिपाया गया है, परन्तु वास्तव में दलित वर्गों और हिन्दुओं के बीच कोई संपर्क नहीं है। इसलिए सम्मेलन के सामने पहली बात मैं यह रखना चाहता हूं कि हमें एक विशिष्ट और स्वतंत्र अल्पसंख्यक माना जाए। दूसरे मैं यह कहना चाहूंगा कि ब्रिटिश भारत में दलित वर्गों के अल्पसंख्यक वर्ग को किसी अन्य अल्पसंख्यक वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक राजनीतिक संरक्षण की आवश्यकता है, क्योंकि शिक्षा की दृष्टि से दलितों का अल्पसंख्यक वर्ग बहुत पिछड़ा है अर्थात्त आर्थिक दृष्टि से निर्धन है, सामाजिक दृष्टि से बंधा हुआ है और ऐसी राजनीतिक विवशताओं से ग्रस्त है, जिनसे कोई अन्य वर्ग ग्रस्त नहीं है। हम मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग की तरह का प्रतिनिधित्व चाहते हैं। हम आरक्षित सीटें चाहते हैं, यदि वे वयस्क मताधिकार के साथ दी जाएं।

35. और यदि वयस्क मताधिकार न हो तो?

डा. अम्बेडकर: तब हम पृथक निर्वाचक-मडंल की मांग करेंगे। तब हम यदि संभव हो, तो संविधान में कतिपय रक्षोपायों की व्यवस्था करना चाहेंगे या हम चाहेंगे कि इन रक्षोपायों को दलित वर्गों की शिक्षा तथा सरकारी सेवाओं में उनके प्रवेश संबंधी गर्वनर के करार में उन्हें सलाह के रूप में स्थान दिया जाए।

36. क्या हम डा. सोलंकी से पूछ सकते हैं कि वे इन मुद्दों पर सहमत हैं?

डा. सोलंकी: मैं सभी मुद्दों पर सहमत हूं।

37. तब हम ऐसा समझें कि आप दोनों महानुभावों का यही विचार है?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

38. क्या यह सुविधाजनक रहेगा कि मै इन मुद्दों पर एक-दो प्रश्न करूं? आपका दावा है कि यद्यपि दलित वर्गों को हिन्दुओं में शामिल किया गया है तथापि क्या उनको संविधान की दृष्टि से उन जातियों से, जो हिन्दू मानी जाती हैं, एक विशिष्ट और पृथक समुदाय माना जाए?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

39. क्या यह इस आधार पर है कि आपके विचार से दलित वर्गों को ऊंची जाति के हिन्दुओं से यह अपेक्षा नहीं है कि वे उनके हितों का संतोषजनक प्रतिनिधित्व कर सकेंगे?

डा. अम्बेडकर: यह तो एक पहलू है, बल्कि सही बात तो यह है कि हमें हिन्दू समाज का अंग नहीं समझा जा सकता।

40. मैं समझता हूं कि आप इस महाद्वीप के प्राचीन निवासियों से संबद्ध हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार से यह एक दृष्टिकोण है।

41. हम विस्तार में नहीं जाते। ऐसा माना जाता है कि आप आर्यों से भी पहले के हैं?

डा. अम्बेडकर: मुझे ज्ञान नहीं है। एक विचार यह भी है।

* * * *

43. मैं आपसे केवल एक प्रश्न पूछता हूं, क्योंकि हिन्दुओं के कई प्रतिष्ठित नेता हैं– मैं कोई नाम नहीं लूंगा– जिन्होंने दलित वर्गों के बारे में निसंदेह गहरी रुचि दिखाई है। इस बारे में कोई मतभेद नहीं है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, इस बारे में लोग बहुत-सी बातें करते हैं।

44. मैं जानता हूं परन्तु यह आपका विचार है। आप कहते है कि संवैधानिक दृष्टि से आपको विशिष्ट और पृथक समुदाय माना जाए।

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

45. जहां तक प्रतिनिधित्व का प्रश्न है, मैने अनुभव किया है कि चाहे वयस्क मताधिकार हो या न हो, लगता है आप मनोनयन के विचार से सहमत नहीं हैं। आप चुनाव चाहते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

46. क्या आप दोनों का यही विचार है?

डा. सोलंकी: जी हां।

47. इसका मतलब यह है कि आपको मतदाता-सूची तैयार करनी होगी?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

48. और आपको यह निश्चित करना होगा कि जो व्यक्ति मत देने के लिए आता है, वह वही व्यक्ति है, जिसका नाम सूची में दर्ज है।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

49. डा. अम्बेडकर, क्या आप मुझे यह बता सकते हैं कि जिन लोगों को आप दलित जातियां कहते हैं, उनमें कितने प्रतिशत पढ़ सकते हैं?

डा: अम्बेडकर: एक अलग ज्ञापन में, जिसे मैंने बंबई प्रेसिडेंसी में शिक्षा आयोग को दिया है, यह संख्या बताई है।

50. मेरा विचार है, यह तो बहुत कम अनुपात है?

डा: अम्बेडकर: बेशक?

51. एक शिकायत यह भी है कि वे अन्य भाग्यशाली लोगों की भांति स्कूल नहीं जा सकते?

डा: अम्बेडकर: बिल्कुल ऐसी ही बात है।

52. तो इसका मतलब यह हुआ कि यदि चुनाव कराया जाता है, तो मतदान में लगभग सभी ऐसे लोग मतदान करेंगे, जो स्वयं मतपत्र को समझते भी नहीं?

डा: अम्बेडकर: जी हां। यह बात आज भी अधिकांश मतदाताओं पर लागू होती है।

53. यह बात सही है। अब आप मुझे यह बताएं कि बंबई प्रेसिडेंसी में आप दलित वर्गों

के लिए कितनी सीटें आरक्षित रखने का सुझाव देंगे?

डा: अम्बेडकर: जो योजना मैंने तैयार की है, उसमें मैंने 140 में से 22 सीटें मांगी हैं।

54. क्या आप यह सुझाव देना चाहते हैं कि बम्बई परिषद के लिए सभी निर्वाचित सदस्यों की संख्या 140 हो, तो जिस समुदाय की आप बात कर रहे हैं, उसे 22 निर्वाचित स्थान मिलने चाहिए।

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

55. और यदि हम आपका दूसरा विकल्प लें, तो वयस्क मताधिकार नहीं होगा। तब आप अलग निर्वाचक-मंडल की मांग करेंगे। आप फिर भी 22 सीटें चाहेंगे।

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

56. मैं आपसे एक बात और पूछूंगा। मैं समझता हूं कि श्री राजा, स्वयं आपसे सामाजिक स्थिति जानने के लिए कुछ और प्रश्न पूछना चाहेंगे। इस समय बंबई प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों के दो सदस्य हैं, जो दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मनोनीत किए गए हैं?

डा. अम्बेडकर: ऐसी ही बात है।

57. आप उनमें से एक हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

58. और डा. सोलंकी दूसरे हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

59. क्या इसका आधार साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट है?

डा. अम्बेडकर: जी, मुझे ऐसा ही लगता है।

60. मेरे विचार में आपने साउथबरो कमेटी के समक्ष साक्ष्य दिया था?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

61. उस कमेटी के समक्ष दिया गया आपका साक्ष्य मैं पढ़ रहा था और मैं यह देख रहा था कि आपने तब दलित वर्गों के कितने सदस्य बताए थे। मेरे ख्याल से आपने अपने ज्ञापन के पृष्ठ 39 की टिप्पणी में लिखा है कि साउथबरो कमेटी ने बंबई प्रेसिडेंसी में दलितों की संख्या 577000 बताई है।

डा: अम्बेडकर: जी, हां।

62. मेरे ख्याल से आपका विचार है कि वह एक गलती थी?

डा: अम्बेडकर: जी हां, एक बहुत बड़ी गलती थी।

63. क्या आप मुझे बता सकते हैं कि उन्होंने यह संख्या कैसे निकाली? क्या आप कुछ जानते हैं?

डा: अम्बेडकर: मेरे विचार में उन्होनें उन जातियों की एक छोटी सी तालिका बनाई जिनका स्पर्श मात्र अपवित्र कर देता है।

64. यह दलित वर्गों की और भी संकुचित परिभाषा है?

डा: अम्बेडकर: जी, हां।

65. *श्री हौट्सहोर्न:* इस टिप्पणी में आपने साउथबरो कमेटी के 5,77000 की संख्या का उल्लेख करते हुए कहा कि उस प्राधिकारी के अनुसार जिस पर साउथबरो कमेटी ने विश्वास किया है, 1911 में बंबई प्रेसिडेंसी में दलितों की संख्या 2,145,000 थी।

डा: अम्बेडकर: जनगणना में।

66. आपने उसी प्राधिकारी पर विश्वास किया था? मैं यही जानना चाहता था।

डा: अम्बेडकर: जी, हां। यदि मुझे ठीक से याद है, तो प्राधिकारी ने दो अलग-अलग पृष्ठों पर दो अलग अलग आंकड़े दिए हैं। एक पृष्ठ पर उसने कम संख्या दिखाई है और जब साउथबरो कमेटी की रिपोर्ट छपी, तो हमने बम्बई सरकार से इस अनुमान के विरुद्ध विरोध प्रकट किया।

67. *चेयरमैन:* मेरे विचार में 21,00,000 का आंकड़ा बिल्कुल स्पष्ट है। 1921 की जनगणना में अस्पृश्यों की संख्या जो 1478000 थी, को जरायम पेशा जातियों की संख्या जो 623000 थी, के साथ जोड़ दिया गया और इन दोनों को मिलाकर यह संख्या 2100000 हो जाती है।

डा: अम्बेडकर: जी, हां।

68. इसमें आदिमजातियां और पर्वतीय जनजातियां नहीं हैं। वे छोड़ दी गई हैं?

डा: अम्बेडकर: जी, हां।

69. *श्री मिलर :* मैं कुछ देशी राज्यों की स्थिति के बारे में जानना चाहूंगा। बड़ौदा और एक अन्य राज्य में जहां कुछ विशेष सुविधाएं बताई गई हैं, क्या वे विशेष सुविधाएं शिक्षा संबंधी सुविधाओं के अलावा भी कुछ हैं?

डा: अम्बेडकर: जी, नहीं। उनके अलावा कुछ नहीं।

70. क्या आप देशी राज्य में नौकरी पा सकते हैं?

डा: अम्बेडकर: मेरे विचार में यह बहुत मुश्किल होगा।

71. क्या आप सरकारी सेवा में नियुक्तियां लेने के विशेष रूप से इच्छुक हैं?

डा: अम्बेडकर: जी हां, निश्चित रूप से।

72. ऐसा क्यों?

डा: अम्बेडकर: इस विषय पर मैं यह कहना चाहता हूं कि जहां तक विधि प्रशासन का सवाल है, हमारा अनुभव बड़ा कड़ुवा है। मैं पूरा बल देकर कहना चाहूंगा कि अनेक मामलों में कानून दलितों के विरुद्ध लागू किया जाता है। मैं जिले का नाम बताए बिना एक जिले में हुई एक घटना का उल्लेख करना चाहूंगा। बंबई सरकार प्रतिवर्ष कुछ निश्चित शर्तों पर गांव वालों को जंगलात की कुछ जमीन खेती के लिए देती है। हमें पता चला कि जंगलात

की इस भूमि के आवंटन में दलित वर्ग के लोग टुकुर-टुकुर देखते रह जाते हैं। एक व्यक्ति को, जो एक श्रमिक था और प्राय: भूमिहीन था या उसके पास बहुत कम भूमि थी और जो अपनी आर्थिक दशा सुधारने की कोशिश में था, को जंगलात की भूमि में कोई हिस्सा नहीं मिला। मामलादारों ने, जिन्हें इस भूमि के वितरण का कार्य सौंपा गया था, सवर्ण हिन्दुओं के साथ पूरा पक्षपात किया और दलित वर्गों की उपेक्षा की। एक जिले में पिछले साल हमने संगठन बनाया और उस जिले के असिस्टेंट डिप्टी क्लक्टर के पास एक प्रतिनिधिमंडल भेजा और उस जंगलात की जमीन के बारे में अपनी शिकायतें बताईं। उसने मामलातदारों को एक परिपत्र भेजा, जिसमें कहा गया कि दलितों की अर्जियों पर गौर किया जाए। कुछ मामलातदारों ने यह जताने के लिए कि वे परिपत्र पर अमल कर रहे हैं कुछ जमीन दलितों को भी दे दी। परन्तु हमने देखा कि उन्होंने हमें बेवकूफ बनाया था। कागज पर उन्होंने दलितों को कुछ जमीन दे दी और सवर्ण हिन्दुओं को बहुत कम जमीन दी, परन्तु जब वास्तविकता सामने आई तो हमें पता चला कि, जो जमीन दलित वर्गों को दी गई थी, वह चट्टानों से भरी थी और खेती के लायक नहीं थी। दलित वर्ग के लोग उसे किसी तरह भी नहीं लेंगे और सवर्ण हिन्दुओं को दी गई जमीन, जो क्षेत्रफल में यद्यपि कम थी तथापि वह खूब उपजाऊ थी। मेरे विचार में यह अधिकारियों को दिए गए प्रशासनिक अधिकार का घोर दुरुपयोग है और व्यक्तिगत रूप से मैं विधि के अधिक चालाकीभरे प्रशासन की अपेक्षा विधि के अधिक सदाशयपूर्ण प्रशासन को कहीं अधिक महत्व देता हूं।

73. *चेयरमैन :* मेरे विचार में जो आपने हमें बताया है, वह काफी रोचक है, परन्तु हम उसे अपनी इस जांच पर लागू नहीं कर सकते, क्योंकि इस आयोग का यह काम नहीं है कि वह रोजमर्रा के प्रशासन में दखलंदाजी करे?

डा: अम्बेडकर: जी, नहीं।

74. आप अपने इस विचार के समर्थन में ये दलील दे रहे हैं कि दलित वर्गों को पूरा प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए?

डा: अम्बेडकर: सेवाओं में।

75. क्या यह आपका विचार है?

डा: अम्बेडकर: मेरा यही विचार है। इस प्रेसिडेंसी के न्यायालयों में वास्तव में जो होता है, उसके कुछ उदाहरण मैं देना चाहूंगा। मुझे एक अदालत में दलित वर्ग के एक व्यक्ति की पैरवी करने का मौका मिला और मुझे यह देखकर बड़ी हैरानी हुई कि उस व्यक्ति को अदालत से बाहर एक खिड़की के पीछे दीवार से परे खड़ा रहना पड़ा और वह अन्दर नहीं आता था, क्योंकि उसने कहा "जहां तक आपका संबंध है, यह ठीक है, लेकिन मैं अदालत के भीतर आ गया, तो आपके जाने के बाद मेरा सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाएगा"

76. वह मुवक्किल था जो भीतर नहीं आना चाहता था?

डा. अम्बेडकर: जो अन्दर आने की हिम्मत ही नहीं कर पा रहा था।

77. वह किस प्रकार के सामाजिक बहिष्कार की बात सोच रहा था?

डा. अम्बेडकर: सामाजिक बहिष्कार ऐसा होता है कि यदि वह गांव में जाता, तो उसका बहिष्कार कर देते। कोई उसे अनाज नहीं देता। गांव वाले उसे उसकी सेवाओं का कोई मेहनताना नहीं देते। उसे गांव में घुसने ही नहीं दिया जाता। दलित वर्गों के लोग गांव की सीमा पर ही रहते हैं, बीच में नहीं।

78. आपका कहना है कि वह इस मौके पर अदालत आने से डरता था, क्योंकि वह सोचता था कि बाद में गांव के उसकी अपनी जाति के लोग नहीं, सवर्ण लोग, यह कहेंगे कि वह वहां चला गया, जहां उसे नहीं जाना चाहिए था।

डा. अम्बेडकर: निश्चित रूप से। क्योंकि उसका यह काम उसकी सामाजिक हैसियत से परे होता।

79. यह ऐसा एक ही मामला है। क्यों?

डा. अम्बेडकर: यह मेरा अपना अनुभव है। परन्तु मेरे विचार में बम्बई उच्च न्यायालय के इस आशय के परिपत्र से कि दलित वर्गों के लोगों को अदालतों में आने दिया जाए, लगता है कि ऐसी बात कभी कभार ही होती है। उस परिपत्र का भी कोई कारण होगा।

80. *श्री मिलर:* एक और बात भी पूछना चाहूंगा। यदि परिषद में आपको 22 सीटें मिल जाती हैं, तो क्या आप 22 योग्य व्यक्ति ला सकेंगे?

डा. अम्बेडकर: जी हां, मेरे विचार से हम ला सकते है।

81. *खान साहेब अब्दुल लतीफ:* क्या आप सम्मेलन के सदस्यों को बताएंगे कि बंबई परिषद में जब किन्हीं कारणों से अल्पसंख्यकों का अधिकारी समूह हट जाता है, तो अल्पसंख्यकों का क्या हाल होता होगा?

डा. अम्बेडकर: मैं अच्छी तरह जानता हूं कि अल्पसंख्यकों की हालत खस्ता ही होगी

82. क्या उन्नत जाति के मंत्री महोदय उन परियोजनाओं पर अथवा मुसलमानों, गैर–ब्राह्मणों या दलित वर्गों की भावनाओं की ओर कोई ध्यान देते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, बिल्कुल नहीं।

83. क्या अल्पसंख्यक बंबई विधान परिषद में कोई विधेयक पास करवा सकते हैं या उसे पेश कर सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: ऐसे अवसर 'ना' के बराबर हैं।

* * * *

98. *सरदार मजूमदार:* क्या यह सच नहीं है कि दलित वर्गों में भी अनेक जातियां हैं जो दलित वर्ग कहलाती हैं अर्थात दलित वर्गों में भी भिन्न–भिन्न जातियां हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

99. क्या आप मुझे उन जातियों की अनुमानित संख्या बता सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार से आपको वह संख्या जनगणना के आंकड़ों में मिल जाएगी जहां विभिन्न जातियों को अस्पृश्य दिखाया गया है।

100. उन विभिन्न जातियों की संख्या क्या है?

डा. अम्बेडकर: जनगणनानुसार लगभग एक दर्जन।

101. बंबई में दलित वर्गों में कितनी जातियां शामिल हैं?

डा. अम्बेडकर: लगभग सभी जातियां।

102. तब विभिन्न जातियों के सदस्य आपके संगठन के सदस्य हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, यह एक सामान्य संस्था है, जिसमें सभी दलित वर्ग शामिल हैं।

103. ताकि उन सभी को दलित वर्गों में शामिल कर लिया जाए?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

104. क्या आपने भीलों और वाडियाओं और अन्य लोगों के दावों पर विचार कर लिया है?

डा. अम्बेडकर: जी, नहीं।

105. आप उन अल्पसंख्यकों के संरक्षण के बारे में क्या कहते हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार से उन्हें भी प्रतिनिधित्व देकर कुछ संरक्षण प्रदान किया जाए।

106. क्या आप ऐसा नहीं सोचते हैं कि पिछड़े वर्गों में भी कुछ जातियां ऐसी हैं, जो अल्पसंख्यक है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

106 (क) तो क्या इस संविधान में उनके हितों की रक्षा के लिए कोई प्रावधान है?

चेयरमैन: जिन जातियों का आपने उल्लेख किया है, क्या उनको हिन्दुओं के मंदिरों में जाने की मनाही है?

सरदार मजूमदार: जी नहीं, वे मंदिर जा सकते हैं।

चेयरमैन: आज हम वास्तव में अस्पृश्यों और उन लोगों के मामले पर विचार कर रहे हैं, जिन्हें हिन्दुओं के मंदिरों में नहीं जाने दिया जाता। मेरे विचार में हम उन पिछड़े वर्गों के प्रश्न पर विचार नहीं कर सकते, जिन्हें हिन्दुओं के मंदिरों में जाने दिया जाएगा।

सरदार मजूमदार: मेरा कहना यह है कि पिछड़े वर्गों में भी विभिन्न अल्पसंख्यक जातियां हैं। उपयुक्तता के प्रश्न से हमारा कोई संबंध नहीं है। हम तो यहां पर सभी अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए हैं।

चेयरमैन: निश्चित रूप से।

सरदार मजूमदार: उसी दृष्टि से मैंने यह प्रश्न पूछा था।

चेयरमैन: मैं आपका तुरन्त समाधान कर देता हूं। भारत अल्पसंख्यकों से भरा पड़ा है और आपने उनमें से कुछ का जिक्र किया है, परन्तु आज हमें केवल दलित वर्गों के बारे में विचार करना है।

सरदार मजूमदार: ठीक है, महोदय।

107. *सैयद मिरान मोहम्मद शाह:* आपने अभी कहा है कि आप उसी अनुपात में प्रतिनिधित्व चाहते हैं, जितना मुसलमानों को प्राप्त है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

108. क्या आपको इसीलिए चाहिए कि यह मुसलमानों को प्राप्त है? क्या यह आपके लिए न्यायसंगत है?

डा. अम्बेडकर: मुझे यह बात न्यायसंगत लगती है। मैं विधायिका की सदस्य संख्या के अनुसार अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को बिल्कुल स्वीकार नहीं करता, क्योंकि मुझे यह ऐसा लगता है कि जैसे विधायिका कोई संग्रहालय हो, जिसमें हमें विभिन्न समुदायों के विभिन्न नमूने रखने हों। एक विधान परिषद संग्रहालय से अधिक है। उदाहरण के लिए यह एक ऐसा स्थान है, जहां सामाजिक लड़ाइयां लड़नी होती है, विशेषाधिकारों को समाप्त करना होता है और अधिकारों को प्राप्त करना होता है। अब यदि एक विधान परिषद की यही अवधारणा है, तो मेरे विचार में अल्पसंख्यकों को संख्या के अनुसार समानुपातिक प्रतिनिधित्व से बांधना उचित नहीं होगा। इसका अर्थ यह होगा कि आप किसी अल्पसंख्यक वर्ग को सदा के लिए अल्पसंख्यक रहने पर ही मजबूर कर रहे हैं और उसे बहुसंख्यक वर्ग के कार्यों को प्रभावित करने के लिए आवश्यक शक्तियां नहीं देना चाहते।

109. यदि मताधिकार को ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय बोर्डों तक ही सीमित कर दिया जाए तो क्या आप सतुंष्ट होंगे?

डा. अम्बेडकर: ठीक है, मैं सचमुच वयस्क मताधिकार के लिए आग्रह करूंगा। मताधिकार अर्हता जितनी कम होगी, उतना ही अच्छा होगा। उस सिद्धान्त के आधार पर मैं किसी भी न्यूनीकरण को स्वीकार करूंगा। परन्तु मैं निश्चय ही यह नहीं कहूंगा कि मैं उससे संतुष्ट हो जाऊंगा।

110. तब आप वयस्क मताधिकार को आदिम-जनजातियों, जरायम पेशा और पर्वतीय जनजातियों पर भी लागू करेंगे?

डा. अम्बेडकर: जी हां, मैं ऐसा सोचता हूं।

111. क्या आप करेंगे?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

112. क्या आप उन्हें वयस्क मताधिकार नहीं देना चाहेंगे और उनके लिए मनोनयन की व्यवस्था और स्वयं वयस्क मताधिकार लेंगे?

डा. अम्बेडकर: मैं एक बात कहूं। जरायम पेशा जातियों को वयस्क मताधिकार देना ठीक नहीं रहेगा, क्योंकि अपने व्यवसाय के कारण वे ऐसे लोग हैं कि अपने समुदाय के हितों में ही अधिक रुचि रखते हैं। वे उन साधनों के बारे में भी ज्यादा सोच विचार नहीं करते, जिनके द्वारा वे अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं, परन्तु मेरे विचार में आदिम जनजातियों को मताधिकार देने में कोई हर्ज नहीं है।

113. क्या उन्हें मताधिकार दिया जाए या उनके हितों की रक्षा मनोनयन द्वारा की जाएं?

डा. अम्बेडकर: किसी न किसी तरह उनकी रक्षा की जानी चाहिए। यह कैसे की जाएं, इसके पचड़े में मैं नहीं पड़ना चाहता। मेरे विचार में प्रत्येक व्यक्ति के पास यह समझने की बुद्धि है कि उसे वास्तव में क्या चाहिए। साक्षरता का इससे कोई सरोकार नहीं। कोई व्यक्ति अनपढ़ होने के बावजूद बहुत बुद्धिमान हो सकता है।

114. क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं कि इस पृथक प्रतिनिधित्व से सांप्रदायिक तनाव बढ़ेगा? यह कहा जाता है कि सांप्रदायिक तनावों का कारण पृथक प्रतिनिधित्व और पृथक निर्वाचक-मंडल है। क्या आप का ऐसा विचार है?

डा. अम्बेडकर: यदि मान भी लें कि इससे तनाव बढ़ेगा, परन्तु फिर भी मेरे विचार में आप इससे कैसे छुटकारा नहीं पा सकते।

इससे तनाव उत्पन्न होता है, यह विवादास्पद है, परन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है, जब कि हमारा समाज जातियों और संप्रदाय में बंटा है।

115. क्या आप नहीं समझते कि तनाव का यही मुख्य कारण है?

डा. अम्बेडकर: मैं ऐसा नहीं समझता, परन्तु मैं इतना कहूंगा कि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के कारण संप्रदायों के मुखिया समझौतों के लिए अपेक्षाकृत कम तैयार होते हैं। यह मेरा विचार है, किन्तु मैं ऐसा नहीं सोचता कि इससे सांप्रदायिक दंगे होते हैं। मेरे ख्याल से इनका कोई और कारण है।

116. सैयद भराम मोहम्मद शाह: क्या आप ऐसा सुझाव नहीं देंगे कि सरकारी लोगों को हटाकर और सरकारी लोगों को मनोनीत किया जाए?

डा. अम्बेडकर: मैं मनोनयन नहीं चाहता।

117. *मेजर ऐटली:* क्या उद्योगों, कपड़ा मिलों आदि में दलित वर्गों के लोग काम कर रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: सर्वत्र दलित वर्गों के सभी लोग श्रमिक हैं।

118. आप मेरी बात नहीं समझे। मैं उद्योगों की बात कर रहा हूं। दलित वर्गों के लोग अधिकांशत: गांवों में किन्ही धन्धों में लगे होते हैं, परन्तु क्या दलित वर्गों की बड़ी संख्या उद्योगों में कार्यरत है?

डा. अम्बेडकर: उनकी संख्या बहुत अधिक है।

119. बंबई जैसे शहर में भी उनकी संख्या अधिक है क्या?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

120. क्या वे यहां आने पर किसी सीमा तक अस्पृश्य नहीं रहते?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं। मैं यह बता दूं कि दलित वर्ग के व्यक्ति को बुनाई विभाग में, जहां सबसे अधिक पैसा मिलता है, नहीं रखा जाता। उसे केवल कताई और अन्य विभागों में रखा जाता है।

121. क्यों?

डा. अम्बेडकर: अस्पृश्यता के कारण।

122. जब वह कहीं काम करता है, तो सभी जातियों के लोगों के साथ ही काम करता है?

डा. अम्बेडकर: ऐसी बात नहीं है। विभागों में जातिगत भेदभाव होता है। एक विभाग में काम करने वाले सभी लोग केवल दलित वर्गों के हैं और दूसरे विभाग में, उदाहरणार्थ बुनाई विभाग में, मुसलमान और सवर्ण हिन्दू हैं।

123. क्या वे श्रमिक संघों में भी भाग लेते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, अब उन्होंने ऐसा करना शुरू कर दिया है।

124. दलित वर्गों से उच्च जातियों के लोगों के साथ।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

125. मैं आपसे यही जानता चाहता था। आपने दलित वर्गों के लिए प्रतिनिधित्व संख्या के आधार पर मांगा है। हमारे पास एक दूसरा आधार है, जिसके बल पर दावे किए गए हैं। वह श्रम का आधार है। इस तरह अंतविरोधी विभाजन होता है, क्योंकि जो व्यक्ति दलित है, वह मजदूर भी हो सकता है।

डा. अम्बेडकर: हमेशा तो नहीं, पर वह आमतौर पर मजदूर है।

126. यह तो केवल शब्दों का खेल है। क्या मैंने ठीक कहा? मैं पूंजी और श्रम की बात कर रहा हूं, उस श्रम की जो बड़े उद्योगों में है, साधारण असंगठित श्रम की नहीं। मैं संगठित श्रम की बात कर रहा हूं। आप इस समस्या से कैसे निबटेंगे? यदि आप एक ओर सामाजिक स्थिति के नाम पर प्रतिनिधित्व चाहते हैं और दूसरी ओर उद्योग के नाम, पर तो यह अंतर्विरोध होगा। आप इससे कैसे निबटेंगे?

डा. अम्बेडकर: संगठित मजदूरों के लिए कोई व्यवस्था होगी और दलित वर्ग के अधिकाशं लोग श्रमिक हैं।

127. *श्री हार्टस्हौर्न:* डा. अम्बेडकर, मेरे विचार में आपने यह बात बिल्कुल साफ कर दी है कि आप वयस्क मताधिकार के पक्ष में हैं। आपने अपने ज्ञापन के पृष्ठ 41 पर कहा

है कि "सभा इससे सतुंष्ट हो जाएगी कि यदि विधान परिषद के लिए उसी आधार पर मताधिकार निश्चित कर दिया जाए, जिस आधार पर यह ग्रामीण क्षेत्रों में, ताल्लुका और स्थानीय बोर्डों के लिए है और प्रेसिडेंसी के शहरी क्षेत्रों के लिए 3 रुपये प्रतिमास किराया।" क्या आपने राय बनाई है या आपके पास कोई ऐसे आंकड़े हैं कि जिससे हमें पता चल सके कि उस योग्यता के आधार पर मताधिकार की सीमा कितनी होगी?

डा. अम्बेडकर: मैं यह बता दूं कि इस वक्तव्य के बारे में मैं भी संदेह में हूं। इसे मैं स्वीकार करता हूं। जो सूचना मैं छोटे शहरों में दलित वर्गों से एकत्र कर पाया हूं, उससे मुझे लगता है कि वर्तमान ताल्लुक स्थानीय मताधिकार के कारण दलित वर्गों के कुछ वोटरों को मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।

128. मैं इस बारे में इतना नहीं सोच रहा हूं। क्या आप बता सकेंगे कि यदि वर्तमान मापदंड के स्थान पर इस मापदंड को अपनाया जाए, तो बंबई प्रेसिडेंसी में मतदाताओं की संख्या में कितनी वृद्धि हो जाएगी?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार में मैं आपको इस बारे में निश्चित जानकारी नहीं दे सकता हूं।

129. क्या मैं उस सवाल पर फिर आ सकता हूं, जो मेजर ऐटली ने आपसे पूछा था? मुझे पता चला है कि दलित वर्गों के लोग फैक्ट्रियों में अलग-थलग होकर काम करते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, अलग-थलग, होकर।

130. उनके अपने ही शेड और अपने ही विभाग होते हैं?

डा. अम्बेडकर: उनके अपने विभाग हैं, परंतु शेड कोई नहीं।

131. जो भी हो, फैक्ट्री में उन्हें दूसरे मजदूरों से अलग रखा जाता है।

डा. अम्बेडकर: मैं इस बात को इस प्रकार कहूंगा कि कुछ विभागों में केवल दलित वर्गों के मजदूर काम करते हैं और कुछ विभाग ऐसे हैं, जहां उन्हें घुसने नहीं दिया जाता।

132. कुछ काम ऐसे हैं, जो उन्हें नहीं करने दिए जाते?

डा. अम्बेडकर: जी हां, मिलों में।

133. मेरे विचार से आपने कहा कि उन्हें बुनाई विभाग में नहीं जाने दिया जाता?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

134. यदि वे उसी श्रमिक संघ के सदस्य बन जाते हैं, तो क्या बुनाई विभाग के मजदूर उन्हें लेने से इन्कार कर देंगें?

डा. अम्बेडकर: वे उन्हें नहीं आने देंगे। मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहता हूं। हाल ही में बंबई की हड़ताल में मैंने यह मामला बड़े जोरशोर से उठाया था। मैंने श्रमिक संघ के सदस्यों से कहा कि यदि आप दलित वर्गों के लोगों के सभी विभागों में काम करने केअधिकार को नहीं मानते हैं, तो मैं उनसे हड़ताल से नाता तोड़ देने के लिए कहूंगा। बाद

में वे काफी आनाकानी के बाद इसे अपनी मांगों में शामिल करने के लिए तैयार हो गए और जब उन्होनें इस मांग को मिलमालिकों के सामने रखा, तो मिलमालिकों ने उन्हें ठीक ही धमकाया और कहा कि यदि यह अन्याय है, तो निश्चित रूप से वे इसके लिए जिम्मेदार नहीं हैं।

135. क्या यह सिर्फ इतनी सी बात नहीं है कि मालिक सस्ते मजदूर चाहते हैं और आर्थिक कारणों से केवल दलित वर्गों के मजदूरों को ही कुछ विभागों में रखना चाहते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, यह अस्पृश्यता है।

136. क्या इस स्थिति में ऐसा हो सकता है? अच्छा वेतन पाने वाले भारतीय अपने विभाग में अस्पृश्यों को न आने देना चाहते हों, इस आशंका से कि उनकी सस्ती मजदूरी के कारण उनके विभाग में भी मजदूरी कम न कर दी जाए।

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, मजदूरी के आधार पर भेदभाव नहीं है।

137. क्या मजदूरी का इससे कोई सरोकार नहीं है?

डा. अम्बेडकर: बिल्कुल नहीं।

138. क्या यह केवल अस्पृश्यता का ही प्रश्न है?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

139. *श्री कैडोगन:* वे श्रमिक संघों के सदस्य बन सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

140. *श्री प्रेमचन्द:* क्या मुझे आप उन वर्गों की निश्चित परिभाषा बता सकते हैं, जो मतदाताओं के विशेष रजिस्टर में दलित वर्गों के रूप में दर्ज होंगे?

डा. अम्बेडकर: जिन जातियों के स्पर्श मात्र से लोग अपवित्र हो जाते हैं।

141. क्या यह सिद्धान्त न्यायसंगत है कि जो जाति जितनी ही नीची स्थिति में होगी, उसको अन्य जातियों की अपेक्षा चुनाव में उतना ही अधिक लाभ मिलना चाहिए?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

142. यदि सभी अल्पसंख्यकों को अतिरिक्त सीटें दे दी जाएं, तो फिर बहुमत किसका होगा?

डा. अम्बेडकर: यदि अल्पसंख्यक एकजुट होकर बहुमत में आ जाते हैं, तो फिर बहुमत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अल्पसंख्यकों में भी वर्गभेद होंगे। मैं बता सकता हूं कि बंबई प्रेसिडेंसी में मुसलमान भी दो वर्गों में बंटे हैं, एक पूंजीपतियों का पक्षधर है, दूसरा श्रमिकों का।

143. क्या यह सच नहीं है कि जिन लोगों की राजनीतिक सोच नहीं है या जिन्हें राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिला है, उन्हें पेशेवर नेता प्राय: बरगला देते हैं?

डा. अम्बेडकर: मुझे पता नहीं। मैं कभी पेशेवर राजनेता नहीं रहा। इसलिए मैं कुछ

नहीं कर सकता हूं।

144. क्या समाज के अशिक्षित वर्ग के एक बड़े भाग को मताधिकार देने में कोई खतरा नहीं है और क्या इसका दुरुपयोग होने की संभावना नहीं है?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, मैं ऐसा नहीं समझता।

145. क्या आप मुझे बता सकते हैं कि दलित वर्गों के लोगों को अपने वर्तमान स्कूलों और कालिजों में प्रांत के राजस्व पर प्रभार की आवश्यकता के बिना दाखिला कराना क्यों सभंव नहीं है?

डा. अम्बेडकर: क्योंकि वर्तमान व्यवस्था में उनकी घोर उपेक्षा हो रही है।

146. दलित वर्गों के लोगों को प्रांत के राजस्व पर प्रभार की आवश्यकता के बिना स्कूलों और कालिजों में दाखिल कराया जाना क्यों संभव नहीं है?

डा. अम्बेडकर: आप इसका कारण उन लोगों से पूछें जो इंकार करते हैं?

147. किससे इंकार करते हैं?

डा. अम्बेडकर: उनको दाखिला देने से।

148. स्कूलों और कालिजों में?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

149. क्या आपको पता है कि बंबई नगरपालिका ने अब एक नियम बना दिया है?

डा. अम्बेडकर: और आपको पता होगा कि बंबई में इसके विरुद्ध सभा हुई थी।

150. किसी वर्ग द्वारा विरोध हो सकता है, परन्तु नगरपालिका ने वे सभी प्रतिबंध हटा दिए हैं।

डा. अम्बेडकर: देखते हैं कि अगले चुनाव में इस पर कहां तक टिकते हैं।

151. परन्तु उन्होंने ऐसा कर दिया है। क्या आप जानते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

152. *चेयरमैन* : क्या हम जान सकते हैं कि वह कौन सी विरोध सभा है, जिसका उन्होंने उल्लेख किया है?

डा. अम्बेडकर: स्थिति इस प्रकार है। अब तक बंबई शहर में बंबई नगरपालिका के दलित वर्गों के लिए अलग स्कूल थे। अब अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना के अंतर्गत मितव्ययता के उपाय के रूप में नगरपालिका स्कूलों की संख्या सीमित करने और दलित वर्गों के इधर उधर बिखरे बच्चों को सवर्ण हिन्दुओं के स्कूलों में भर्ती कराने के लिए बाध्य हैं। स्कूल जाने वाले बच्चों के लिए पानी और अन्य सुविधाओं के लिए कुछ करना स्वाभाविक है। प्रश्न यह उठा कि क्या पीने के पानी की अलग व्यवस्था की जाए या अस्पृश्यों के लिए सवर्ण हिन्दुओं से अलग बर्तन हों। पालिका ने यह कहते हुए एक संकल्प पारित किया कि हम अपने स्कूलों में अस्पृश्यता को मान्यता नहीं दे सकते और उन्होंने परिपत्र जारी कर दिया

कि उनके स्कूलों में पीने के लिए अलग बर्तन नहीं होने चाहिए। यह विरोध सभा बंबई के एक महत्वपूर्ण हिन्दू नेता के सभापतित्व में हुई थी,जो वहां पर की जा रही थी,क्योंकि उसमें इस बात पर विरोध प्रकट किया गया था कि उस प्रकार की समान व्यवस्था हिन्दू धर्म के विरुद्ध है।

153. *श्री प्रेमचंद* : क्या आप जानते हैं कि अहमदाबाद की मिलों के बुनाई विभागों में दलित वर्गों के लोग कार्य कर रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: मुझे इसका पता नहीं।

154. मैं आपको बता सकता हूं कि वे वहां पर हैं।

डा. अम्बेडकर: यहां फिर मैं यह बताना चाहूंगा कि शायद वहां केवल दलित वर्गों के ही लोग कार्यरत हैं। मैं उस स्थिति को समझ सकता हूं,जिसमें उदाहरणार्थ कई करघे केवल दलित वर्गों के लोगों के लिये ही निश्चित कर दिए गए होंगे। आजकल कई मिलों में यह प्रस्ताव है कि दलित वर्गों के मजदूरों को ही पूरा बुनाई विभाग सौंप दिया जाए,पर ऐसा नहीं हो सकता कि उन्हीं में से कुछ दलित वर्ग के लोग हों और कुछ सवर्ण हिन्दू हों।

155. कठिनाई दोनों को एक साथ रखने में है।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

156. *माननीय हरिसिंह गौड़* : संवैधानिक सुधार की सामान्य योजना के बारे में आपके संस्थान का क्या विचार है? इस विषय पर आपने कोई मत बनाया है या नहीं?

डा. अम्बेडकर: मैं आपको इस बारे में बताता हूं। दलित वर्गों की संवैधानिक प्रश्नों में कोई विशेष रुचि नहीं है। सरकार कोई भी हो वे गारंटी और संरक्षण प्राप्त करना चाहते हैं, जिनकी उन्हें आवश्यकता है। इसलिए मेरे विचार से उनका सरकार की किसी भी प्रणाली के बारे में कोई दृष्टिकोण नहीं है,चाहे वह प्रांतीय सरकार हो अथवा केन्द्रीय। परन्तु दलित वर्गों का एक सदस्य होने के नाते मेरे अपने व्यक्तिगत विचार हैं, भले ही मेरे विचार दलित वर्गों के विचारों से मेल न खाते हों। इसीलिए मेरे ज्ञापन में संविधान के बारे में कोई जिक्र नहीं है।

157. मुझे इसका पता है और इसीलिए मैंने आपसे यह प्रश्न पूछा कि आपके व्यक्तिगत विचार क्या हैं?

डा. अम्बेडकर: जहां तक प्रांतीय सरकार का प्रश्न है, मैं प्रांतीय स्वायत्तता के पक्ष में हूं।

158. सशर्त अथवा बिना शर्त।

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार में विधि और व्यवस्था के हस्तांतरण में कुछ रक्षोपाय होने चाहिएं। ऐसे बात नहीं है कि मैं विधि और व्यवस्था के हस्तांतरण पर आपत्ति करता हूं। मैं हस्तांतरण के पक्ष में हूं। फिर भी मैं चाहता हूं कि कुछ रक्षोपाय होने चाहिएं। ये रक्षोपाय कैसे होने चाहिएं, उसके बारे में निश्चित रूप से मैं कुछ नहीं कह सकता हूं। परन्तु उस

संबंध में कुछ रक्षोपाय अवश्य होने चाहिएं। इसके अलावा मैं (व्यक्तिगत रूप से) पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता के पक्ष में हूं।

159. केन्द्र सरकार के बारे में आपके क्या विचार हैं?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार में वहां पर द्वैध शासन होना चाहिए।

160. क्या आप वयस्क पुरुष और महिला मताधिकार के पक्ष में हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

161. क्या आप इसे व्यावहारिक समझते हैं?

डा. अम्बेडकर: बिल्कुल व्यावहारिक।

162. क्या आप समझते हैं कि लोगों में इतनी राजनीतिक चेतना आ गई है कि वे अपने इस राजनीतिक मताधिकार का उपयोग अपने समुदाय के लाभ के लिए कर सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: केवल दलित वर्गों के बारे में मैं जोर देकर कहता हूं कि बंबई प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों के लोग अपने मताधिकार का प्रयोग बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक करेंगे। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि अस्पृश्यता का कलंक उनको पल-पल सताता है और यह सोचते हुए कि राजनीतिक शक्ति ही उनके लिए संकटमोचक है, मैं पूरी शक्ति से इस बात को कह सकता हूं कि दलित वर्ग का मतदाता बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से मत देगा।

163. क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि अन्य देशों की तरह यहां भी जो लोग कर नहीं देते हैं, उन्हें राजनीतिक अस्तित्व तथा शक्ति सौंपे जाने से उन लोगों का शोषण नहीं होगा जो पहले ही भारी करों से दबे हैं।

डा. अम्बेडकर: मेरे ख्याल से ऐसा ही होना चाहिए। मुझे इसमें कोई गलती नज़र नहीं आती।

164. आपको करदाता वर्ग के शोषण में कोई गलती नजर नहीं आती? क्या यह आपका ही विचार है या उस संगठन का भी, जिसका आप प्रतिनिधित्व करते हैं?

डा. अम्बेडकर: यह मेरी अपनी राय है। संगठन ने यहां इस बारे में कुछ नहीं कहा है।

165. क्या आप सोचते हैं कि आयोग के समक्ष यह विचार प्रस्तुत करके आप अपने संगठन की आम राय प्रकट कर रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: मैं सोचता हूं कि यह सभी गरीब तबकों का विचार होगा।

* * * *

167. *श्री हरिसिंह गौड़* : चैयरमेन के एक प्रश्न के उत्तर में आपने कहा कि दलित वर्गों को हिन्दू समुदाय से भिन्न एक विशिष्ट समुदाय माना जाए। क्या आप यह केवल चुनाव के प्रयोजनों के लिए चाहते हैं या सभी प्रयोजनों के लिए?

डा. अम्बेडकर: वास्तव में वे सभी प्रयोजनों के लिए विशिष्ट हैं?

168. क्या आप दलितों को वास्तविक हिन्दू कहेंगे?

डा. अम्बेडकर: नामों के बारे में मैं इतनी परवाह नहीं करता। जब तक मैं हिन्दू समुदाय से बाहर हूं, तो मैं अपने आपको हिन्दू कहूं या गैर-हिन्दू कहूं, इससे क्या फर्क पड़ता है?

* * * *

170. दुनिया में इससे पूरा फर्क पड़ता है। यदि आप -- हिन्दू धर्म से बाहर हैं, तो आप पर हिन्दू कानून लागू नहीं होंगे। उदाहरणार्थ, आप 1923 के अधिनियम 30 के तहत विवाह नहीं कर सकते, जिसने जहां तक विवाह संबंधी कानून का प्रश्न है, एक हिन्दू और एक महार तथा स्पृश्य और अस्पृश्य के बीच सभी जातिगत भेद पूरी तरह समाप्त कर दिया है। यदि आप उस समुदाय से बाहर जाते हैं, उस सामाजिक व्यवस्था के बाहर जाते हैं और अपने आपको गैर-हिन्दू कहते हैं, तो आप हिन्दू कानून की सीमा से बाहर होंगे?

डा. अम्बेडकर: हो सकता है।

171. तब आप किस कानून के तहत आएंगे?

डा. अम्बेडकर: हम पर हिन्दू कानून लागू होता है, जैसे खोजाओं पर जो मुसलमान हैं, परन्तु जहां तक संपत्ति का संबंध है, वे हिन्दू कानून की सीमा में रहना चाहते हैं।

172. और आप 1923 के अधिनियम 30 के अंतर्गत हैं, आप हिन्दू कानूनों के अंतर्गत हैं।

डा. अम्बेडकर: मैं नहीं कह सकता कि शादी के बारे में दलित वर्गों का क्या विचार है।

173. अब क्या आप अपने ज्ञापन पर आएंगें? आपने पृष्ठ 39 पर क्या कहा है और आपने मेरे मित्र कीका भाई के प्रश्न के उत्तर में दोहराया है कि 'समुदाय की स्थिति का अर्थ है कि उसे सामाजिक संघर्ष में उसके आत्मरक्षा का अधिकार हो। यह अधिकार स्पष्टत: उस समाज की शैक्षिक और आर्थिक स्थिति पर निर्भर करेगा।'

डा. अम्बेडकर: ठीक है।

174. उस सिद्धात का प्रतिफल है कि जिस समुदाय की स्थिति जितनी नीची है उसको अन्य समुदायों की अपेक्षा उतना ही अधिक चुनाव संबंधी लाभ मिलना चाहिए, क्या आप इस अंतिम वाक्य को पिछले दो वाक्यों का युक्तिसंगत निष्कर्ष समझते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

175. आप इसे युक्तिसंगत निष्कर्ष मानते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, बिल्कुल।

176. ------ मैं आपका ध्यान उस तथ्य की ओर दिलाना चाहता हूं, जो आपने कहा था कि "पर्याप्त प्रतिनिधित्व की मांग के अतिरिक्त सभा महसूस करती है कि इसे देश के संविधान में खंडों के समावेश की मांग भी करनी चाहिए। खंडों में कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जैसे 'प्रत्येक दलित वर्ग' को यह अधिकार हो कि उनमें से ही एक विशेष पुलिस इंसपेक्टर की नियुक्ति की जाए।"

डा. अम्बेडकर: जी हां।

177. क्या आप यह उम्मीद करते हैं कि संसद के अधिनियम में इस आशय का एक खंड होना चाहिए कि भारत में दलित वर्गों का उनमें से ही प्रत्येक जिले में एक पुलिस इंस्पेक्टर होना चाहिए?

डा. अम्बेडकर: मैं इसमें कुछ विचित्रता नहीं पाता।

178. मान लीजिए यदि सभी समुदायों के बारे में एक उस आशय का प्रावधान कर दिया जाए (क्योंकि यदि आपको कतिपय संवैधानिक गारंटी मिल जाती है तो इसका अर्थ यही होगा कि दूसरे समुदायों को भी वैसा ही अधिकार मिले) तो आप सभी सरकारी पदों को और अन्य चीजों को विभिन्न समुदायों में वितरित कर देगें और क्या आप भारत के लिए ऐसा ही संविधान चाहते हैं?

डा. अम्बेडकर: मैं यह नहीं जानता। मैं तो केवल दलित वर्गों के लिए बोल रहा हूं। क्या मैं एक बात स्पष्ट कर दूं?

179. क्या मैं अपना वाक्य पूरा कर लूं? यह एक ऐसी बात है, जिसके परिणामस्वरूप आपके दिमाग में कोई आशंका नहीं उठती?

डा. अम्बेडकर: इसके पहले कि आप कुछ और कहें मैं एक बात स्पष्ट करना चाहता हूं। मेरे विचार में 'अल्पसंख्यक' शब्द का प्रयोग बहुत सावधानी से करना चाहिए। मैं नहीं समझता कि हमें एक ऐसे समुदाय को जिसके लोगों की संख्या कम है, राजनीतिक प्रयोजनों के लिए आवश्यक रूप से एक अल्पसंख्यक समुदाय मान लेना चाहिए। एक ऐसा अल्पसंख्यक समुदाय जिसे सताया जाता है अथवा जिसको बहुसंख्यकों द्वारा अधिकारों से वंचित रखा जाता है, वह ऐसा अल्पसंख्यक समुदाय होगा, जिसे राजनीतिक प्रयोजनों के योग्य माना जायेगा।

180. अन्य देशों में जहां पर ऐसे अल्पसंख्यक हैं, वहां प्रावधान किए गए हैं, कभी-कभी वहां अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए एक मंत्री होता है। क्या आपने इस बारे में सोचा?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

181. मान लिया हम आपको संरक्षण देते हैं - यह किसी भी प्रकार का हो सकता है और अगर मैं यह कहूं कि. . .

डा. अम्बेडकर: आपकी बात काटने के लिए क्षमा चाहता हूं। मैंने देखा है कि शांति के बाद विभिन्न यूरोपीय देशों में जिनमें अधिकांश स्लावोनिक राष्ट्र भी शामिल हैं, जो नए संविधान बनाए गए हैं, उनमें यह सिद्धांत बड़े पैमाने पर अपनाया गया है। मैंने इस विषय पर कुछ विशेष ध्यान दिया है।

182. *लार्ड बर्नहम* : क्या उस सिद्धान्त पर अमल हुआ है?

डा. अम्बेडकर: और उसे संविधान का अंग बना दिया गया है।

183. क्या व्यवहार में उस पर अमल भी हुआ है?

डा. अम्बेडकर: व्यवहार में अलम हुआ है और खास बात यह है कि यदि अल्पसंख्यक यह अनुभव करें कि गारंटी पूरी नहीं की गई है, तो उन्हें लीग आफ नेशन्स में अपील करने का अधिकार है।

* * * *

186. मेरी सिद्धान्त से कोई लड़ाई नहीं है?

डा. अम्बेडकर: और मैं यह कह दूं कि स्वरूप के बारे में मेरा कोई विशेष आग्रह नहीं है।

187. आपने जो योजना बताई है, उसे यदि इस देश के संविधान में शामिल कर लिया जाये, तो इससे एक स्थाई वर्ग-संघर्ष नहीं छिड़ जाएगा?

डा. अम्बेडकर: हो सकता है, पर वह बहुसंख्यकों के रवैए पर निर्भर होगा।

188. अत: एक दूरदर्शी राजनेता के रूप में आप इसके लिए आग्रह नहीं करेंगे?

डा. अम्बेडकर: वास्तव में ये सब प्रावधान, यद्यपि मैं उन पर आग्रह करता हूं, अस्थाई होंगे, मैं सोचता भी हूं और इसकी इच्छा भी रखता हूं कि एक ऐसा समय आएगा, जब भारत अखंड होगा और मैं समझता हूं कि उस समय ये सब बातें जरूरी नहीं होगी परन्तु यह अल्पसंख्यकों के प्रति बहुसंख्यकों के दृष्टिकोण पर निर्भर करेगा।

* * * *

198. अभी आपने एक मुकदमें का जिक्र किया, जिसमें आपने दलित वर्ग के एक ऐसे सदस्य की पैरवी की, जो सामाजिक बहिष्कार के डर से खिड़की के बाहर खड़ा रहा। वह कौन सा जिला था?

डा. अम्बेडकर: खानदेश जिला।

199. सामान्य मजिस्ट्रेट की अदालत?

डा. अम्बेडकर: वृत्तिभोगी मजिस्ट्रेट की अदालत।

200. मजिस्ट्रेट की जाति क्या थी?

डा. अम्बेडकर: हिन्दू।

201. उसने अभियुक्त के अदालत में आने पर आपत्ति नहीं की?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, मैंने कहा कि अभियुक्त स्वयं अंदर नहीं आया।

202. अभियुक्त हिन्दुओं के पिछले कारनामों से डरा हुआ था?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

203. सवर्ण हिन्दुओं द्वारा किए गए दमन के कारण दलित वर्गों में यह डर घर कर गया है कि यदि वे उन सीमित अधिकारों को, जो सवर्ण हिन्दुओं ने उन्हें दिए हैं, लांघ देंगे तो उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होगा?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

204. *माननीय हरिसिंह गौड़:* डा. अम्बेडकर, शायद आप इस बात को स्वीकार करेंगे

कि पिछले कुछ वर्षों में अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए और दलित वर्गों की सभी असुविधाओं को दूर करने के लिए एक अभियान चलाया गया है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

205. मैं स्वीकार करता हूं कि सुधार आपकी इच्छा और कल्पनाओं के अनुरूप नहीं है, परंतु साथ ही हमें मानना पड़ेगा कि यह भावना बढ़ती जा रही है कि उन सभी अवरोधों को तोड़कर,जो सवर्ण और असवर्ण हिन्दुओं के बीच खड़े हैं, एक संगठित हिन्दु समाज बनाया जाए। आप ऐसा मानते हैं?

डा. अम्बेडकर: हां, मंचों से ऐसे भाषण होते हैं।

206. कुछ ठोस कार्य हुए हैं?

डा. अम्बेडकर: बंबई प्रेसिडेंसी में जहां मैं रहता हूं,वहां के बारे में तो मुझे आपकी बात स्वीकार करने में संकोच है।

207. इसलिए मैं आपको उदाहरण दूंगा। हर साल, जहां भी सवर्ण और गैर सवर्ण जातियां हैं, हिन्दू वर्ष में एक बार सहभोज की व्यवस्था करते हैं। तब वे सभी एक साथ बैठकर खाना खाते हैं,ताकि एक जाति के लोग दूसरी जाति से घुल मिल सकें।

डा. अम्बेडकर: इस प्रेसिडेंसी में ऐसी किसी बात का मुझे पता नहीं है।

208. मैं ऐसे कई अवसरों में शामिल हुआ हूं।

डा. अम्बेडकर: इसी प्रेसिडेंसी में?

माननीय हरिसिंह गौड़: नहीं, नागपुर में।

209. यहां ऐसा नहीं होता?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

210. परन्तु आप मानते हैं कि यह बात मानी जाने लगी है कि दमन और अस्पृश्यता समाप्त होने चाहिए और इस संबंध में किए गए प्रत्येक प्रयास पर सवर्ण हिन्दू और विशेष रूप से सुधारक वर्ग सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है?

डा. अम्बेडकर: मुझे फिर भी इसका उत्तर देने में संकोच है।

211. *चैयरमेन:* इस साक्षी के विचार जानने के लिए क्या आप मेरे दो या तीन प्रश्नों का उत्तर देंगें?

माननीय हरिसिंह गौड़: जी हां, निस्संदेह।

चेयरमैन: इसके लिए श्री राजा कई तरह से सर्वोत्तम व्यक्ति होंगे,परन्तु मैं चाहता हूं कि आप हमें अपने विचार बताएं। बंबई प्रेसिडेंसी की बीस साल पहले से तुलना करें, आप यहां पर कितने साल से हें?

डा. अम्बेडकर: पांच या छह साल से।

212. वैसे वास्तव में बहुत पहले से ही आप केवल अपने ही समुदाय में रुचि लेते रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

213. आप बीस साल पहले की स्थिति पर दृष्टिपात करें और फिर अपना विचार बताएं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

214. मैं दो तीन चीजें जानना चाहता हूं। सबसे पहली बात यह है कि जहां तक हिन्दुओं के मंदिरों में दलित वर्गों के प्रवेश का संबंध है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह तो केवल धार्मिक व्यवहार और उपदेश का मामला है। मैं इसकी आलोचना नहीं करता परन्तु कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

डा. अम्बेडकर: जी नहीं, इस संबंध में कोई अंतर नहीं हुआ है।

215. मैं इस प्रेसिडेंसी की दो या तीन निश्चित बातें जानना चाहता हूं। जिलों में आपने हमें बताया है कि दलित वर्ग, जो अस्पृश्य हैं, अपनी अलग जगहों पर रहते हैं। निश्चय ही हमने इसे कई बार देखा है। यदि कोई हिन्दू गांव है, तो वे उसके एक कोने में रहते हैं और कभी-कभी अपनी ही बस्ती में रहते हैं। जहां तक उनके आम जातियों के बीच रहने का सवाल है, क्या पिछले बीस वर्षों में कोई परिवर्तन हुआ है?

डा. अम्बेडकर: कोई परिवर्तन नहीं।

216. हमने कुछ दिन पहले कुछ गांवों को देखा। हमें पता चला कि वे नदी से पानी ले सकते हैं, परन्तु ऐसे भी दूसरे गांव हैं, जो कुओं पर निर्भर हैं।

डा. अम्बेडकर: नदियों के मामले में भी वे नदी के एक निश्चित भाग से ही पानी ले सकते हैं। उनके लिए भी नदी का एक भाग निश्चित कर दिया जाता है।

217. आप यह कहना चाहते हैं कि दलित वर्गों के लोग ऐसे स्थानों से पानी लेंगे, जो सवर्ण जातियों के पानी लेने के स्थानों से नीचे की ओर हैं।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

218. अब हम उन गांवों के मामलों को लेते हैं, जो कुओं पर निर्भर हैं। यह आम बात है?

डा. अम्बेडकर: हां, यह आम बात है।

219. मैं यह जानना चाहता हूं और मुझे आशा है कि आप मुझे स्पष्ट रूप से बताएंगे कि क्या इस संबंध में पिछले 20 वर्षों में कोई सुधार हुआ है?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

220. आपका ध्यान इस ओर दिलाया गया है कि इस विषय पर संकल्प पारित किए गए हैं?

डा. अम्बेडकर: हां, केवल संकल्प।

221. बताया गया है कि किसी समय अस्पृश्यता इतनी बढ़ गई थी कि उनके छूने से तो क्या कभी-कभी उनकी छाया पड़ने से भी सवर्ण हिन्दू अपवित्र हो जाते थे?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

222. क्या इस संबंध में कोई सुधार हुआ है?

डा. अम्बेडकर: इस संबंध में कुछ सुधार हुआ है।

223. मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई। 20 वर्ष पूर्व यदि कोई सवर्ण हिन्दू किसी अस्पृश्य के निकट संपर्क में आता था, तो वह अपने आपको शुद्ध करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता था, परन्तु अब ऐसी बात नहीं है?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

224. अब सचमुच यदि 20 वर्ष पहले से तुलना की जाए, तो मैं सोचता हूं कि दलित वर्गों के कुछ लोग व्यावसायिक दृष्टि से काफी ऊंचे उठ गए हैं। बीस साल पूर्व क्या कोई दलित बंबई में वकालत कर सकता था?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

225. इस समय दलित वर्गों के कितने लोग वकालत कर रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: मैं ही अकेला व्यक्ति हूं।

226. मेरे विचार में हमें कल बताया गया था कि सरदारों और इनामदारों की मतदाता सूची में दलित वर्गों के दो सदस्य हैं?

डा. अम्बेडकर: केवल एक है। उसकी स्थिति भिन्न है। उसे पेशवाओं ने रणक्षेत्र में की गई सेवाओं के लिए जागीर दी थी। ब्रिटिश सरकार ने उसे यह पट्टा नहीं दिया।

227. हम देखते है कि भारत में शहरों और गांवों के बीच बसें चल रही हैं तथा इनमें दलित वर्गों के लोग चढ़ सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: गांवों में नहीं। बहुत सारे ऐसे गांव हैं, जहां दलित वर्गों के लोगों को इनमें नहीं चढ़ने दिया जाता है।

228. उन्हें कौन रोकता है?

डा. अम्बेडकर: ड्राईवर उन्हें नहीं चढ़ाता।

229. ड्राईवर तो उसी को चढ़ाएगा जो पैसा देगा। वह उन्हें क्यों नहीं चढ़ाता?

डा. अम्बेडकर: क्योंकि यदि वह उन्हें चढ़ाता है, तो और सवारियां नहीं आएगी। उदाहरण के लिए नाई मेरी हजामत नहीं बनाएगा, भले ही मैं उसे एक रुपया दूं।

230. *राव साहेब पाटिल:* यह कानून है कि यदि ड्राईवर किसी सवारी को नहीं चढ़ाता है, तो उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है?

डा. अम्बेडकर: वे यह कह कर बच जाते हैं कि सभी सीटें भर गई हैं।

231. क्या इस मामले में कोई सुधार हो रहा है?

डा. अम्बेडकर: हां, सुधार हो रहा है, फिर भी ऐसे अनेक मामले हैं, जहां दलित वर्गों को इन बसों में नहीं चढ़ने दिया जाता?

232. अब हम दलित वर्गों के उन लोगों के मामले को लेते हैं, जो बंबई की मिलों में काम कर रहे हैं। उनमें से कुछ ट्रामों में जाते हैं। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि उन्हें ट्रामों में यात्रा नहीं करने दी जाती है?

डा. अम्बेडकर: दो साल पहले एक ऐसा मामला हुआ था, जब एक भंगी को ट्राम में नहीं चढ़ने दिया गया।

233. जब आप दो साल पहले की बात करते हैं, तो मुझे ऐसा लगता है कि यह केवल अपवाद है, कोई नियम नहीं?

डा. अम्बेडकर: उदाहरणार्थ मैंने देखा है कि जब मैं बीबी. एंड सी. आई. रेलवे से सफर करता था, तो मैंने ऐसे सैकड़ों मामले देखे, जब यात्री दलितों को डिब्बों में घुसने से रोकते थे।

234. *माननीय हरिसिंह गौड़:* आपने एक भंगी का मामला उठाया। क्या आपको विश्वास है कि क्योंकि वह ढंग से कपड़े नहीं पहने था, इसलिए उसे ट्राम में नहीं चढ़ने दिया गया।

डा. अम्बेडकर: मुझे इसका पता नहीं।

235. जब एक आदमी ट्राम में चढ़ता है, तो उससे उसकी जाति नहीं पूछी जाती। उससे केवल यह पूछते हैं कि भाड़ा दिया या नहीं। क्या ऐसी बात नहीं है?

डा. अम्बेडकर: परन्तु लोग उसे आसानी से पहचान सकते हैं।

236. यह उसके कपड़ों की वजह से?

डा. अम्बेडकर: परन्तु जब यह पता चल जाए कि कोई व्यक्ति दलित वर्ग का है, तो उसके साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जाता है।

237. जाति के प्रश्न के अलावा पहनावे का भी सवाल है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, लेकिन कुछ दलित बहुत अच्छे कपड़े पहनते हैं।

238. बबंई प्रेसिडेंसी में ऐसा कुछ नहीं है कि लोग दलित वर्गों की छाया से भी अपवित्र हो जाते हो?

डा. अम्बेडकर: जी हां, परन्तु कोंकण और काठियावाड़ के कुछ भागों में अभी भी ऐसा ही होता है।

239. यह कम हो रहा है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

240. जहां तक अहमदाबाद में अम्बालाल सरलाल स्कूल का संबंध है, क्या उनकी बहन ने वह स्कूल दलित वर्गों के लिए नहीं चलाया है?

डा. अम्बेडकर: वही एक अपवाद है।

241. क्या स्कूल सरकारी खर्च से दलितों के लिए नहीं चलाया जा रहा है?

डा. अम्बेडकर: इसका तो मुझे पता नहीं, परन्तु मैं जानता हूं कि वह महिला दलित वर्गों

के उत्थान में रुचि ले रही है।

242. मैं समझता हूं यह एक अपवाद है?

डा. अम्बेडकर: हां, यह बिल्कुल अपवाद है।

243. *डा. सुहरावर्दी:* सामाजिक बहिष्कार और अत्याचारों की घटनाओं को जिनका आपने अभी जिक्र किया है, क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं कि आम चुनाव में आपके समुदाय के लोगों को डरा-धमका कर मतदान केन्द्रों से भगा दिया जाएगा?

डा. अम्बेडकर: जी हां, ऐसा हो सकता है।

244. एक आंशका यह भी है कि उच्च जाति के हिन्दू वहां मतदान के लिए आएं ही नहीं जहां दलित वर्ग के लोग वोट डालें?

डा. अम्बेडकर: ऐसा संभव है। यह कहना मुश्किल है कि क्या हो सकता है। उदाहरण के लिए कुछ मामले हैं, जहां जिला बोर्डों में सवर्ण हिन्दू सभा से चले गए, क्योंकि दलित वर्गों के लोग मेज-कुर्सियों पर बैठने की मांग कर रहे थे।

245. इन हालातों में क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि यह बेहतर होगा कि आप पृथक निर्वाचक-मंडल की मांग करें, क्योंकि इसका अर्थ भी पृथक निर्वाचक-मंडल ही होगा, भले ही आप सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में सीटें आरक्षित करा लें।

डा. अम्बेडकर: जी हां।

246. *राव बहादुर राजा:* मेरे मित्र माननीय हरिसिंह गौड़ ने दलित वर्गों के पहनावे के बारे में जो प्रश्न पूछा, उसके संदर्भ में क्या नाई ने आपकी हजामत बनाने से इंकार कर दिया, क्योंकि आप ठीक-ठाक कपड़े नहीं पहने थे?

डा. अम्बेडकर: नहीं, ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि मैं दलित वर्ग से संबंधित हूं।

247. उन कपड़ों के कारण नहीं, जो आपने पहिने हुए थे?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

248. एक अन्य सदस्य द्वारा पूछे गए प्रश्न के संदर्भ में क्या मैं पूछ सकता हूं कि क्या गांव के किसी दलित वर्ग के व्यक्ति के लिए बस मालिक के खिलाफ मुकदमा दायर करना आसान काम है, क्योंकि उसने उसे बस में नहीं चढ़ाया था?

डा. अम्बेडकर: यह संभव नहीं।

249. मैं समझता हूं कि आप दलितों के उत्थान में बहुत रुचि ले रहे हैं। इस प्रचार कार्य में उच्च जातियों के लोगों की सहायता के संबंध में आपका क्या अनुभव है? क्या वे आपकी इसलिए सहायता करते हैं कि वे दलित वर्गों के लिए अधिक सफाई आदि की आवश्यकता पर बल देना चाहते हैं?

डा. अम्बेडकर: दुर्भाग्य से इस मामले में मेरा अनुभव बहुत कटु है। दलित वर्गों को उनकी कतिपय अस्वच्छ आदतों के कारण पास नहीं फटकने दिया जाता। यही इल्जाम ऊंची

जातियों के लोग लगाते हैं। कहा जाता है कि दलित वर्गों के लोग मृत पशुओं का मांस खाते हैं और वे साफ सुथरे नहीं रहते। पिछले दो वर्षों में इस प्रेसिडेंसी में मैंने दलित वर्गों को साफ-सुथरा रहने और गंदी आदतों को छोड़ने हेतु उन्हें राजी करने के लिए एक अभियान आरंभ किया। यह मेरा दुर्भाग्य था कि सारे सवर्ण हिन्दू मेरे विरुद्ध हो गए, जब कि ऐसे मामले में मैं उनसे पूरे सहयोग की उम्मीद कर रहा था। परन्तु जब मैंने उनके विरोध का आधार जानने की कोशिश की तो मुझे पता चला कि वे चाहते हैं कि दलित वर्गों के लोग गन्दे कामों में लगे रहें, क्योंकि यदि वे इन गन्दी आदतों को छोड़ देंगे, तो वे अपनी सामाजिक हैसियत का अतिक्रमण करेंगे और ऊंची जातियों के प्रतिद्वन्दी बन जायेंगे। उदाहरण के लिए कोलाबा और रत्नागिरी जिलों में पूरे महार समुदाय ने मृत पशुओं का मांस खाना छोड़ दिया, परन्तु उन पर किए जा रहे अत्याचार और सामाजिक दमन अकथनीय हैं। उनका पूर्ण सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार किया गया है। जिस जमीन पर वे वर्षों से खेती कर रहे थे, वह सवर्ण हिन्दू जमींदारों ने उनसे छीन ली है। उन पर सामाजिक और आर्थिक हर प्रकार का दबाव डाला जाता है, ताकि वे पहले की तरह अपनी गन्दी आदतों को बनाए रखें। अधिकारी लोग, जो सभी सवर्ण हिन्दू जातियों के हैं, दलित वर्गों को कोई संरक्षण नहीं देते। इसके दलित वर्गों की दशा वास्तव में दयनीय हो गई है और यह सब इसलिए हुआ कि वे अपनी पुरानी गंदी आदतों को छोड़ना चाहते थे। मैंने पाया कि ऊंची जातियों के लोग मेरे साथ सहयोग करने के बजाय मेरे विरुद्ध हो गए और कहने लगे कि "दलित वर्गों" की ये बुरी आदतें उनकी हीन भावना की परिचायक हैं और उनकी ये बुरी आदतें बनी रहनी चाहिएं।

250. कुछ दिन पहले एक साक्षी ने बताया कि स्वच्छता बोर्डों में दलित वर्गों का एक भी सदस्य नहीं है। यदि ऊंची जातियों के बारे में, आपने जो कहा है, वह सही है, तो क्या दलित वर्गों के लोगों को इन बोर्डों में रखने से कोई लाभ होगा?

डा. अम्बेडकर: मेरा कहना है कि दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व प्रत्येक स्थानीय प्राधिकरण में होना चाहिए।

251. आपने अभी बताया कि इस प्रेसिडेंसी की अदालतों में दलित वर्गों के गवाह पहुंच नहीं सकते हैं। मैं इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूं। क्या आपके कहने का अभिप्राय है कि दलित वर्गों के लोगों को कुछ अदालतों में घुसने नहीं दिया जाता?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

252. और मैं समझता हूं कि आपने यही कहा था कि वह व्यक्ति अदालत में घुसने का साहस नहीं जुटा सका। यही बात है ना?

डा. अम्बेडकर: तथ्य यह है कि सवर्ण लोग दलित वर्गों को हेय दृष्टि से देखते हैं। दलित वर्गों का समाज में एक निर्धारित स्थान है। यदि वे अदालत में जाते हैं, तो अपने उस निर्धारित

स्थान से बाहर आने की कोशिश करते हैं। यदि वे ऐसा करते हैं तो सवर्ण लोग उन्हें तंग करेंगे। यदि कोई व्यक्ति अपनी सामाजिक सीमा को लांघता है, तो सवर्ण लोग उसे परेशान करते हैं। उस मामले में उसे जो संरक्षण प्रदान किया गया था, वह थोड़ी देर के लिए था और उसे मालूम था कि मुकदमा समाप्त होते ही उसका वह संरक्षण भी समाप्त हो जायेगा।

253. यदि आप वहां नहीं होते और वह अदालत में घुसने की कोशिश करता, तो उसके साथ क्या व्यवहार होता?

डा. अम्बेडकर: मेरे विचार में यदि मैं बंबई के किसी मंदिर में जाने की कोशिश करता, तो मेरे साथ भी ऐसा ही व्यवहार होता।

254. क्या आप हमें यह बताने की कृपा करेंगे कि दलित वर्गों के लोगों को किस प्रकार की चिकित्सा सहायता मिल रही है?

डा. अम्बेडकर: डिस्पेंसरियों में उनका प्रवेश वर्जित है, जब तक कि मामला बहुत गंभीर न हो, जैसे डिस्पेंसरी में यदि दलित वर्गों के लोगों को प्रवेश न करने देने की बात उच्चाधिकारियों तक पहुंच जाएगी। दलित वर्गों के लोगों को डिस्पेंसरियों में प्रवेश नहीं करने दिया जाता।

255. *चेयरमैन:* मेरे विचार से आप छोटे शहरों की डिस्पेंसरियों की बात कर रहे हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां। सरकारी डिस्पेसरियों की।

256. ये डिस्पेंसरियां चिकित्सा प्रशासन मंत्री के विभाग में हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

257. मेरे विचार से मंत्री के आदेश हैं कि ये डिस्पेंसरियां हरेक के लिए खुली हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

258. परन्तु आप कहते हैं कि छोटे शहरों में ऐसी स्थिति नहीं है?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

डा. सोलंकी: रूढ़िवादी हिन्दू चिकित्सक सदा दलित वर्ग के मरीज को देखने पर आपत्ति करते हैं। गुजरात में ऐसे उदाहरण हैं कि चिकित्सा न मिलने के कारण लोग मर गए। मुझे ऐसी अनेक घटनाएं पता हैं, जिनमें डाकटरों ने निमोनिया से पीड़ित मरीज को छूने से इंकार कर दिया। डाक्टर थर्मामीटर मुसलमान को पकड़ा देते हैं, जो उसे थामना तक नहीं जानता। मुसलमान थर्मामीटर मरीज को पकड़ा देता है, यह सत्य है और ऐसा हुआ है।

259. महत्वपूर्ण बात यह है और मैं इसे फिर कहता हूं कि हमें वास्तविक स्थिति जाननी चाहिए। ऐसी बातें यदा कदा होती होंगी। मैं जानना चाहता हूं कि क्या वह किसी एक विशेष डाक्टर की आपत्ति के कारण अपवाद स्वरूप होती हैं या आपके विचार में ऐसी बातें हर

रोज होती हैं?

डा. अम्बेडकर: जो डाक्टर रूढ़िवादी हैं, वे ऐसा करते हैं।

260. इस बारे में कठिनाई यह है कि, जो डाक्टर एतराज करते है, वे अपने धार्मिक विचारों के कारण करते हैं?

डा. सोलंकी: जी हां।

261. *राव बहादुर राजा:* क्या ये तथ्य संबंधित अधिकारियों के ध्यान में लाए गए हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां।

262. उन्होंने क्या कार्यवाही की?

डा. अम्बेडकर: मंत्री जी ने जो उत्तर दिया वह यह था कि बेहतर होगा कि हम समझाने बुझाने की नीति अपनाएं। उन्होंने यही शब्द इस्तेमाल किए थे।

चेयरमैन: राव बहादुर, क्या आप हमारे लिए भी ऐसा करेंगे? हमने इसके विभिन्न पहलुओं को सुना है और मै तथ्य जानना चाहता हूं। इस प्रान्त में साधारण सरकारी स्कूलों में दलित वर्गो के बच्चों की स्थिति क्या है। क्या आप मेरे लिए साक्षी से यह बात पूछेंगे?

263. *राव बहादुर राजा:* क्या आप हमें यह बतायेंगे कि दलित वर्गों के छात्रों के प्रति स्कूल मास्टरों, शिक्षा विभाग और स्कूलों के प्रबंधकों का क्या रवैया रहता है?

डा. अम्बेडकर: जब डा. परांजपे इस प्रेसिडेंसी में शिक्षा मंत्री थे, तो उन्होंने एक परिपत्र जारी किया था कि दलित वर्गों के छात्रों को सभी स्कूलों में प्रवेश दिया जाए। परन्तु हमारा अनुभव यह है कि वह परिपत्र बिल्कुल लागू ही नहीं किया गया। यह सच है कि जनशिक्षा निदेशक ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि परिपत्र लागू हो गया है, परन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं क्योंकि यह बात सत्य नहीं है। अभी कुछ दिन पहले पूना में एक घटना हुई। देऊ में दलित वर्ग के बच्चों को दाखिला नहीं दिया गया और जब उन्होंने इसके लिए आग्रह किया, तो गांव वालों ने दलित जातियों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया।

264. *चेयरमैन:* ज्ञापन में उस रिपोर्ट का जिक्र है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, जैसा मैंने कहा सच्चाई नहीं है। मैं उससे सहमत नहीं हूं।

265. *राव बहादुर राजा:* मुझे श्री ग्रीफिथ से पता चला कि उनके विचार में दलित वर्गों को पुलिस विभाग में इसलिए नहीं लिया जाता है कि पुलिस को कई घरों की जाकर तलाशियां लेनी होती है और गिरफतारियां भी करनी होती हैं। तर्क के लिए मान लें कि यह सही है तो क्या इसी तरह दलित वर्गों के लोगों की अन्य अधीनस्थ और प्रांतीय सेवाओं में भर्ती के संबंध में ये आपत्ति नहीं उठायी जाएगी?

डा. अम्बेडकर: देखिएगा, कई आपत्तियां उठाई गई हैं।

266. आप स्थानीय विधान परिषद के सदस्य हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

267. आपका अपने समुदाय के प्रति स्थानीय परिषद के ऊंची जातियों के सदस्यों के व्यवहार के बारे में क्या अनुभव है?

डा. अम्बेडकर: यह नहीं कहा जा सकता कि वे दलितों के पक्ष में हैं।

268. आपके प्रांतों में आपके समुदाय के सदस्यों के प्रति सरकार का क्या रवैया है?

डा. अम्बेडकर: बहुत उदासीन।

269. मेरे विचार से इस प्रेसिडेंसी में आनरेरी बेंच मजिस्ट्रेटों की अदालतें हैं। क्या इन बोर्डों में दलित वर्गों के कोई सदस्य हैं?

डा. अम्बेडकर: कोई नहीं है। हम कोशिश कर रहे हैं कि मजिस्ट्रेटों की कुछ बैंचों में हमारे लोग हों, परन्तु यह संभव नहीं हुआ है। सम्मेलन के लिए सभंवत: रुचिकर होगा यदि मैं इस संबंध में उस पत्र को पढ़कर सुनाऊं, जो खानदेश के जिले के कलक्टर ने दलित वर्ग के उस सदस्य को लिखा था, जिसने बैंच में नियुक्ति के लिए आवेदन किया था। पत्र में वे कारण भी बताए गए हैं, जिनकी वजह से उस व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया गया है। पत्र इस प्रकार है: "कलक्टर को दलित वर्गों की महत्वाकांक्षाओं से बहुत सहानुभूति है और वह विभिन्न सार्वजनिक क्षेत्रों में भी श्री मेघे द्वारा किए गए अच्छे कार्य की सराहना करते हैं, परन्तु उनकी राय में वह समय अभी नहीं आया है, जब दलित वर्गों के किसी व्यक्ति को मजिस्ट्रेटों के बैंच में स्थान दिया जाए और जब तक सरकार इस प्रेसिडेंसी में दलित वर्गों की महत्वाकाक्षांओं के अनुरूप कोई घोषणा नहीं करती, तब तक वह इस प्रकार की नियुक्ति करने की सिफारिश करने में असमर्थ है।" यह पत्र 25 सितम्बर 1928 का है।

270. मुझे विश्वास है कि आप मेरी इस बात से सहमत होंगे कि इन निकायों में नियुक्तियों का समुदायों की प्रगति से कोई संबंध नहीं है?

डा. अम्बेडकर: कोई संबंध नहीं है।

271. एक मात्र बात यह है कि क्या कोई व्यक्ति जिम्मेदारी की भावना के साथ अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर सकता है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

272. *लार्ड बर्नहम:* मेरे विचार में आप कहना चाहते हैं कि दलित वर्गों के हितों की रक्षा करने के सभी उपायों में से आप सर्वसुलभ मताधिकार को सर्वोत्तम समझते हैं?

डा. अम्बेडकर: मैं विधान परिषद में पर्याप्त प्रतिनिधित्व चाहूंगा।

273. मेरे विचार में आप सर्वसुलभ मताधिकार के पक्ष में है?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

274. यदि वह आपको नहीं मिलता है, तो क्या आप पृथक निर्वाचक-मंडलों की मांग करेंगे? मान लीजिए आपको दोनों में कोई नहीं मिलता है, तो क्या आप तब भी मनोनयन के सिद्धान्त के पक्ष में हैं?

डा. अम्बेडकर: नहीं, मैं आग्रह करूंगा कि हमारा प्रतिनिधि चुना जाए।

275. यदि आप प्रस्तावित शर्तों पर चुनाव नहीं करा सकते, तो आप मताधिकार को पसंद करेंगे?

डा. अम्बेडकर : जी हां।

276. *चेयरमैन :* आपने चुनाव प्रणाली के माध्यम से दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व को तरजीह दिए जाने के लिए कहा है। क्या आपको विश्वास है कि यदि चुनाव के तरीके को अपनाया गया, तो क्या आप उन लोगों को निर्वाचित कर लेंगे, जो वास्तव में दलित वर्गों के सर्वोत्तम प्रवक्ता रहे होंगे?

डा. अम्बेडकर: मेरा ऐसा विश्वास है।

277. क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि जो तत्व दलित वर्गों के हितों के विरुद्ध रहे हैं, वे ही प्रभावी हो जाएंगे?

डा. अम्बेडकर: मैं इससे सहमत हूं। इसीलिए मैं व्यस्क मताधिकार चाहता हूं।

278. क्या आप समझते हैं कि वयस्क मताधिकार से उन तत्वों का प्रभाव नहीं रहेगा?

डा. अम्बेडकर: उनमें संतुलन बना रहेगा।

279. मान लीजिए दलित वर्ग के किसी सदस्य के पास आवश्यक अर्हता है, तो क्या वह सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में मतदान करता है?

डा. अम्बेडकर: वह करता है।

280. आपका मामला लेते हैं। क्या आप किसी सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में मताधिकार करने के लिए अर्ह होंगे?

डा. अम्बेडकर: जी हां। मैं और मेरे मित्र विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्र से मतदान करते हैं।

281. कर अदायगी के संबंध में क्या स्थिति है? एक बात कही गई है कि दलित वर्ग कर अदा नहीं करते हैं। जहां तक सीमा-शुल्क अथवा अन्य अप्रत्यक्ष करों का संबंध है, जिनके कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ सकते हैं, मेरे विचार में दलित वर्गों को भी अन्य जातियों की तरह बढ़ी हुई कीमतें अदा करनी होती हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, इसके अलावा दलित वर्ग के लोग खासतौर से महार जाति के पास कुछ जमीन वतन पट्टे अथवा सामान्य पट्टे पर हैं और दूसरों की तरह वे भुगतान करते हैं, जिसे जूडी कहते हैं।

282. मैं समझता हूं कि बहुत से महार गैर-सरकारी सेवाओं में वेटरों के रूप में काम करते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां। परन्तु बहुत कम हैं और वे मुख्य रूप से शहरों में उद्योगों में काम करते हैं।

283. उदाहरण के लिए किसी यूरोपियन परिवार या क्लब में महार नौकरों के रूप में काम करते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी, हां।

284. क्या वे लोग किसी सामान्य निर्वाचन-क्षेत्र में मतदान कर सकते हैं?

डा. अम्बेडकर: यह मताधिकार की सीमा पर निर्भर हैं।

285. सामान्यत: वेटर कोई योग्यता नहीं रखते?

डा. अम्बेडकर: जी, हां। वर्तमान परिस्थितियों में यही बात है।

286. *सरदार मजूमदार:* क्या आपको मालूम है कि दलित वर्गों के संतों का सभी वर्ग आदर करते हैं और ऊंची जातियों के लोग उनके आगे वैसे ही सिर झुकाते हैं, जैसे ऊंची जाति के संतों के आगे?

डा. अम्बेडकर: जहां तक मैं जानता हूं, वह केवल एक ही संत है।

287. पर क्या वे ऐसा करते है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, जैसा कि मुस्लिम पीरों के आगे।

288. क्या आप जानते हैं कि वरकारी पंथ में अर्थात पंढरपुर में भगवान बिठोबा के भक्त अस्पृश्यता को नहीं मानते।

डा. अम्बेडकर: यह बिल्कुल गलत है।

289. क्या आप इससे सहमत हैं कि पिछले 25 वर्षों में दलित वर्गों के प्रति व्यवहार में भारी परिर्वतन हुआ है कि उच्च वर्ग के शिक्षित लोग अस्पृश्यता के कलंक को धोने और उनके साथ निस्संकोच मेल मिलाप के प्रयत्न कर रहे हैं और धीरे-धीरे दलितों की दशा सुधर रही है और आम शिक्षित लोगों का उनके प्रति व्यवहार बदल रहा है?

डा. अम्बेडकर: जी हां, ठीक है, लेकिन सहानुभूति केवल शब्दों तक ही सीमित है और वह व्यवहार में प्रकट नहीं होती।

290. क्या आप जानते हैं कि लगभग सभी गांवों में दलित वर्गों के लोगों के लिए कुएं अलग ही हैं?

डा. अम्बेडकर: जी नहीं।

291. क्या ऐसे कुएं नहीं हैं?

डा. अम्बेडकर: हर गांव में नहीं।

292. दलित वर्ग कौन से हैं? क्या आप उनका नाम बताएंगे?

डा. अम्बेडकर: जनगणना में हैं।

293. क्या मांग और महार जातियों के बीच विवाह होते हैं?

डा. अम्बेडकर: नहीं, सवर्ण जातियों ने यह ज़हर सब जगह फैला दिया है।

294. क्या वे एक साथ भोजन कर लेते हैं?

डा. अम्बेडकर: जी हां, आजकल कर लेते हैं, एकता का अभियान चल रहा है और अब तो एक मामला मांग और महारों के बीच शादी व्यवहार का सामने आया है।

295. क्या मेरे निर्वाचन-क्षेत्र में दो इनामदार दलित वर्गों के नहीं हैं?

डा. अम्बेडकर: मुझे पता नहीं।

च

डा. बी. आर. अम्बेडकर द्वारा दलित वर्गों संबंधी भारतीय मताधिकार कमेटी (लोथियन कमेटी) को 1 मई 1932 को दिया गया टिप्पण *

I. सामान्य

1. मैं सहमत हूं कि दलित वर्ग शब्द को केवल अस्पृश्यों तक सीमित रखा जाए। वास्तव में मैंने स्वयं प्रयास किया है कि उन सभी को अस्पृश्यों से अलग रखा जाए, जिनमें उसी प्रकार की चेतना नहीं हो सकती, जैसी कि उन लोगों में होती है, जो अस्पृश्यता की प्रणाली में निहित सामाजिक विभेद के शिकार होते हैं। अत: इस बात की संभावना रहती है कि वे अस्पृश्यों का शोषण अपने स्वार्थों के लिए करें। मैंने कसौटी नं. 7 और 8 के उपयोग पर भी कोई आपत्ति नहीं की है, जिनका उल्लेख अस्पृश्य वर्गों का पता लगाने के लिए कमेटी की रिपोर्ट में किया गया है। लेकिन जैसा कि मैं देखता हूं, अलग-अलग लोग अलग-अलग तरीकों से उन्हें लागू करते हैं अथवा उनकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। मैं यह जरूरी समझता हूं कि इस मामले के बारे में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दूं।

2. पहली बात तो यह है कि कुछ क्षेत्रों में आग्रह किया गया है कि अस्पृश्य वर्गों का पता लगाने के लिए, जो भी कसौटियां लागू की जाएं, वे निश्चय ही समूचे भारत में समान रूप से लागू की जाएं। इस सिलसिले में मैं कहना चाहता हूं कि इस प्रकार के मामले में यह उचित नहीं होगा कि समूचे भारत पर एक सी कसौटी या कसौटियों को लागू किया जाए। भारत एक अखंड समरूप देश नहीं है। वह एक महाद्वीप है। विभिन्न प्रांतों में अति

---

* भारतीय मताधिकार कमेटी की रिपोर्ट, खंड-1 द्वितीय संस्करण पृष्ठ 202-11; भारतीय मताधिकार कमेटी का गठन गोलमेज सम्मेलन की मताधिकार उपसमिति की सिफारिशों पर दिसम्बर 1931 में किया गया था। कमेटी में डा. अम्बेडकर सहित 18 सदस्य थे। पार्लियामेन्टरी अंडर सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, मार्क्वस आफ लोथियन, सी. एच. इस कमेटी के अध्यक्ष थे।

विविधता वाली परिस्थितियां हैं और वे किसी जाति अथवा भाषा की डोर से गुथे हुए नहीं हैं। संचार व्यवस्था के अभाव के कारण हर प्रांत में उसकी अपनी निजी शैली के अनुसार उसके सामाजिक जीवन की विशिष्ट रीतिरिवाजों और पद्धतियों का विकास हुआ है। इन परिस्थितियों में समूचे भारत में अस्पृश्यता की अधिकाशं कसौटियों को जितनी एकरूपता के साथ लागू होते हुए पाया जाता है, वह वास्तव में उल्लेखनीय है, यथा, मंदिर में प्रवेश पर रोक भारत में सर्वत्र लगी हुई है।कुएं से पानी लेने ओर स्पर्श से अपवित्र होने की कसौटियां भी हर प्रांत पर लागू होती हैं। भले ही सर्वत्र समान कठोरता नहीं है, लेकिन अस्पृश्यता जैसी प्रणाली तो बहरहाल सामाजिक व्यवहार का मामला है। अत: वह हर प्रांत, हर व्यक्ति की परिस्थितियों के अनुसार बदलेगा ही।ऐसी प्रणाली में पूर्ण एकरूपता का आग्रह करना केवल समस्या के साथ खिलवाड़ करना होगा। सांविधिक आयोग इस प्रकार के तर्क की संभावना के प्रति पूर्णत: सजग था। उसने सावधानी से विचार करने के बाद इसे अस्वीकार कर दिया और अस्पृश्यता की कसौटियों को लागू करने में विविधता के सिद्धान्त को मान्यता दी। खंड 2 के पृष्ठ 67 पर अपनी सिफारिशों में उसने कहा, "जब नई प्रतिनिधित्व प्रणाली के मुख्य सिद्धान्त निश्चित कर लिए जाएंगे, तो उसके बाद स्पष्ट है कि यह आवश्यक होगा कि (पूर्ववर्ती मताधिकार कमेटी जैसी) किसी विशेषत: नियुक्त निकाय को नए निर्वाचन नियमों को तैयार करने का काम सौंपा जाए, ताकि इन सिद्धान्तों को अमल में लाया जा सके। ऐसे निकाय का एक काम यह होगा कि वह हर प्रांत के लिए दलित वर्गों की परिभाषा तैयार करे (जो कभी कभी तो एक ही प्रांत के भागों के बीच भी बदल सकती हैं) और ऐसी परिभाषा के अनुसार उनकी संख्या निश्चित करें। एक और बात पर भी मैं जोर देना चाहता हूं और वह यह है कि समूचे भारत पर अस्पृश्यता की एकरूप कसौटियों को लागू करने का आग्रह व्यर्थ है। यह मान लेना एक बुनियादी गलती होगी कि अस्पृश्यता की कसौटियों के विभेद अस्पृश्यों की परिस्थितियों के विभेद की ओर संकेत करते हैं। वे जिस मनोवृत्ति की ओर इंगित करते हैं, उसके सही विश्लेषण से पता चलेगा कि चाहे कसौटी स्पर्श से भ्रष्ट करने की है अथवा सांझे कुएं से पानी लेने की अस्वीकृति की है, दोनों में निहित भावना एक ही है। दोनों संकीर्णता, घृणा, द्वेष और अपमान की एकसी आन्तरिक भावना की बाह्य अभिव्यक्तियां हैं। अस्पृश्य को हिन्दू स्पर्श क्यों नहीं करेगा? किस कारण अस्पृश्य को हिन्दू मंदिर में प्रवेश करने अथवा गांव के कुएं के इस्तेमाल की अनुमति नहीं देगा? किस कारण अस्पृश्य को हिन्दू सराय में प्रवेश नहीं करने देगा? इनमें से हर प्रश्न का उत्तर एक जैसा है। वह है कि अस्पृश्य एक गन्दा व्यक्ति है और उसके साथ सामाजिक संपर्क नहीं किया जा सकता। अत: किस कारण एक ब्राह्मण किसी अस्पृश्य के धार्मिक अनुष्ठान में पुरोहित नहीं बनेगा? किस कारण एक नाई अस्पृश्य की सेवा नहीं करेगा? इन मामलों में भी उत्तर एक जैसा है। वह है कि ऐसा कर्म अपमानजनक है। यदि हमारा उद्देश्य उस वर्ग के लोगों का पता लगाना है

जो सामाजिक घृणा से त्रस्त हैं, तो यह बात नगण्य है कि हम कौन सी कसौटी लागू करते हैं, क्योंकि जैसा कि मैं बता चुका हूं, इनमें से हर एक कसौटी यही बताती है कि अस्पृश्यों के प्रति स्पृश्यों की सामाजिक मनोवृत्ति एक जैसी है।

3. दूसरा दृष्टिकोंण यह है कि अस्पृश्य वर्गो का पता लगाने के लिए 'स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की कसौटी को लागू करते समय निश्चय ही प्रमुखता उसकी शाब्दिक भावना को देनी होगी, न कि धारणात्मक भावना को। शाब्दिक भावना के अनुसार केवल वे व्यक्ति अस्पृश्य हैं, जिनका स्पर्श अपवित्र करता है और परिहार्य है अथवा यदि परिहार्य न हो तो स्नान करके उसे दूर किया जाता है। धारणात्मक भावना के अनुसार अस्पृश्य वह व्यक्ति है जिसे ऐसे वर्ग का समझा जाता है, जिसके बारे में सामान्य धारणा है कि वह स्पर्श से अपवित्र करता है, यद्यपि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ऐसे व्यक्ति के संसर्ग को टाला नहीं जा सकता अथवा धार्मिक विधि के अनुसार पवित्रीकरण की आवश्यकता नहीं होती। उन व्यक्तियों के अनुसार, जो शाब्दिक भावना के अनुसार कसौटी को लागू करना चाहते हैं, निष्कर्ष यह होगा कि तथाकथित अस्पृश्य, अस्पृश्य नहीं माने जाएंगे, जहां कि परिस्थितियां इतनी बदल गई हैं कि लोग अस्पृश्य के स्पर्श से बच नहीं सकते अथवा वे उनके स्पर्श से हुए अपवित्रीकरण से स्वयं को शुद्ध करने की परवाह नहीं करते। मैं इस दृष्टिकोंण को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मेरी राय में वह गलतफहमी पर आधारित है। शब्द की शाब्दिक भावना के अनुसार किसी व्यक्ति को अस्पृश्य विभिन्न परिस्थितियों के कारण नहीं माना जा सकता। फिर भी, ऐसी बाध्यकारी परिस्थितियों की परिधि से बाहर उसे एक अशुद्ध व्यक्ति माना ही होता है, क्योंकि वह अस्पृश्य वर्ग का है। इस विभेद को बिहार तथा उड़ीसा के जनगणना अधीक्षक ने 1921 की अपनी जनगणना रिपोर्ट में भलीभांति प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत है उसी का निम्न उद्धरण। जातीय नियमों में ढील देने की चर्चा करते हुए उन्होनें कहा है, "ऐसी घटनाएं तो हमने केवल उन उच्च तथा अधिक शिक्षित जातियों के बीच देखी हैं, जो उच्च स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं, लेकिन उन्हें वर्ण व्यवस्था के ढहने का लक्षण नहीं माना जाएगा, बल्कि उन्हें तो वर्तमान परिस्थितियों से उनके समंजन का लक्षण माना जाएगा। वही बात निजी संपर्क अथवा खाने-पीने की चीज को छूने संबंधी नियमों के परिवर्तन के बारे में कही जा सकती है-- जमशेदपुर जैसे स्थानों में काम आधुनिक परिस्थितियों में होता है। वहां सभी जातियों के लोग मिल में साथ-साथ काम करते है। उन्हें अपने पड़ोसी की जाति के बारे में कोई गलतफहमी नहीं होती। लेकिन चूंकि रोजमर्रा की जिन्दगी के तथ्य इसे संभव नहीं बनाते कि एक सौ वर्ष पूर्व की भांति व्यावहारिक नियमों का पालन किया जाए, अतः यह नहीं मान लेना चाहिए कि अब शुद्ध और अशुद्ध, स्पृश्य और अस्पृश्य का भेदभाव नहीं बरता जाता। एक सवर्ण हिन्दू किसी अस्पृश्य को यह अनुमति नहीं देगा कि वह एक ही चारपाई आदि और उसके साथ बैठे, एक ही हुक्का गुड़गुड़ाए अथवा उसके

शरीर, उसकी चारपाई, अथवा कुर्सी या उसके भोजन अथवा पानी को स्पर्श करे। यदि जीवन के तथ्यों का यह सही आकलन है, तो शाब्दिक भावना और धारणात्मक भावना के अनुसार अस्पृश्यता का विभेद ऐसा विभेद है, जो अंतिम अवस्था के लिए कोई भेद नहीं करता। क्योंकि जैसा कि उद्धरण दर्शाता है, उन स्थानों में जहां शाब्दिक भावना के अनुसार अस्पृश्यता समाप्त हो गई है, वहां धारणात्मक भावना के अनुसार वह अब भी बनी हुई है। इसी कारण मेरा आग्रह है कि अस्पृश्यता की कसौटी को निश्चय ही उसकी धारणात्मक भावना के अनुसार लागू किया जाए।

4. तीसरे इस विचार का व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाता है कि अस्पृश्यता तेजी से समाप्त हो रही है। मैं चेतावनी देना चाहता हूं कि इस दृष्टिकोण को स्वीकार न किया जाए और बताना चाहता हूं कि यह आवश्यक है कि तथ्य और प्रचार में भेद किया जाए। जब यदा-कदा ब्राह्मणों और अब्राह्मणों, स्पृश्यों और अस्पृश्यों के आपसी मिलन की घटनाओं से निष्कर्ष निकाले जाएं, तो मेरी राय में इस बात को ध्यान में रखना ही चाहिए कि वस्तुत: हिन्दू समाज का इस्पाती ढांचा वर्ण और अस्पृश्यता की व्यवस्था पर टिका हुआ है। इस विभाजन को सहज ही केवल इस सहज तर्क के आधार पर नहीं मिटाया जा सकता कि वह किसी तर्कसंगत, आर्थिक, अथवा जातीय आधार पर नहीं टिका है। दूसरी ओर इस बात की संभावना है कि अस्पृश्यता किसी आशावादी सुधारक की आशा से भी अधिक देर तक भविष्य में भी बनी रहेगी। इसका कारण यह है कि उसका आधार धार्मिक रूढ़ि है। अस्पृश्यता की रूढि के पीछे जो धार्मिक मान्यता है, वह उसे समाप्त करने में बाधक सिद्ध होती है। जो भी हो, सामान्य हिन्दू उसे अपने धर्म का अंग समझता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि अस्पृश्यों के प्रति वह जो अमानवीय समझा जाने वाला व्यवहार अपनाता है, उसके पीछे सोची समझी क्रूरता की अपेक्षा धर्मपालन की भावना की प्रधानता रहती है। धर्मप्राण सामान्य हिन्दू अस्पृश्यता के नियमों में ढील केवल वहीं देता है, जहां वह उनका पालन नहीं कर सकता। वह कभी भी उनका परित्याग नहीं करता। उसकी दृष्टि में अस्पृश्यता का परित्याग का अर्थ है, उसके तथा हिन्दुओं द्वारा मान्य हिन्दू धर्म के मूल धार्मिक सिद्धान्तों का पूर्णत: परित्याग। अस्पृश्यता धर्म पर टिकी है। अत: वह टिकी रहेगी, जैसीकि सभी धार्मिक धारणाएं टिकी रहती हैं। भारतीय इतिहास साक्षी है कि अनेक महात्माओं ने भारत भूमि से अस्पृश्यता को समूल नष्ट करने के प्रयास किए हैं। उनमें बुद्ध, रामानुज और वैष्णव संत जैसे महापुरुष भी शामिल हैं। यह मान लेना खतरनाक होगा कि जिस पद्धति ने ऐसे सभी प्रहारों को झेल लिया है, अत: मेरा विचार है कि जब तक यह धारणा बनी रहेगी, तब तब अस्पृश्यता भी बनी रहेगी।

अस्पृश्यता की रूढ़ि की व्याख्या और ब्याप्तियों के संबंध में सामान्य प्रश्नों से संबद्ध

अपने विचार मैं स्पष्ट कर चुका हूं। अब मैं उन तीन प्रान्तों में जहां मतैक्य नहीं है, दलित वर्गों की संख्या के प्रश्न पर कुछ विचार प्रकट करना चाहूंगा।

II संयुक्त प्रांत में दलित वर्ग

5. संयुक्त प्रांत में दलित वर्ग के लोगों की संख्या के बारे में कमेटी के सामने 5 अलग-अलग आकलन प्रस्तुत किए गए हैं:-

(1) संयुक्त प्रांत की प्रान्तीय मताधिकार कमेटी का आकलन;

(2) अपने टिप्पण में श्री ब्लंट द्वारा दिया गया आकलन;

(3) जनगणना आयुक्त द्वारा दिया गया आकलन; और

(4) संयुक्त प्रांत की सरकार द्वारा दिए गए दो आकलन।

इन आकलनों के बारे में मैं यह कहना चाहता हूं:

6. मैं मानता हूं कि श्री ब्लंट के टिप्पण में काफी बल है। उसका आधार वे तथ्य हैं, जो उन्हें उस समय प्राप्त हुए जब 1911 में वह संयुक्त प्रान्त के जनगणना अधीक्षक थे। उसके साथ गैर-सरकारी हिन्दुओं की एक अनौपचारिक समिति की राय का वजन भी जुड़ा हुआ है। कहा जाता है कि उसकी नियुक्ति संयुक्त प्रांत की सरकार ने इसलिए की थी कि वह संयुक्त प्रांत में अस्पृश्य जातियों की उन सूचियों की शुद्धता की पड़ताल करे और जिन्हें ब्लंट ने अपने प्रथम प्रारूप में तैयार किया था। फिर भी निम्नलिखित तथ्यों के बारे में श्री ब्लंट से मेरा मतभेद है:

(1) एक तो यह है कि श्री ब्लंट ने निम्नलिखित तीन एकल समुदायों को दो भागों में विभक्त कर दिया है, अस्पृश्य और स्पृश्य।

		स्पृश्य	अस्पृश्य
(1)	भौक्सा समूह	30,000	19,028
(2)	कोरी समूह	1,54,867	7,75,839
(3)	चमार समूह	2,000,000	4,187,770

(2) दूसरा मतभेद यह है कि वह 110,032 की संख्या वाले अरख समूह को स्पृश्य मानते हैं, जब कि तथ्य यह है कि वह समूह पासी समुदाय का अंग है, जो निश्चय ही एक अस्पृश्य समुदाय है।

मेरा विचार है कि श्री ब्लंट ने जो प्रक्रिया अपनाई है, वह तथ्यों के अनुरूप नहीं है और हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के मूल सिद्धान्त से मेल नहीं खाती। कोरी समूह चमार समूह का ही अंग है और इसलिए पूर्णत: अस्पृश्य समूह है। उसकी पुष्टि स्वयं श्री ब्लंट के उन विचारों से होती है, जो उन्होंने 1911 की संयुक्त प्रान्त की जनगणना की अपनी रिपोर्ट में अधीक्षक की हैसियत से व्यक्त किए थे। मैं 1911 की जनगणना रिपोर्ट के पैरा 347 में

व्यक्त उनके विचारों को प्रमाण मानता हूं। वहां उन्होंने कोरी का नाता चमार से होने की चर्चा की है। उसी रिपोर्ट में उन्होंने यह भी कहा है "कोरी और चमार के बीच के रिश्ते की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। गोरखपुर में ऐसा लगता है कि उनका और भी घनिष्ट संबंध है। कहा जाता है कि वहां कोरी चमार के अलावा कोई चमार नहीं है। लेकिन कोरी चमार स्वयं को चमार नहीं कहता और स्वयं को शुद्ध और सहज कोरी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वह शब्द का गलत उच्चारण करता है, जो कोइरी जैसा लगता है। जब गोरखपुर जिले में एक खलासी ने शेष हिन्दू नौकरों के साथ चालाकी की और उन्हें अपने हाथ से पानी पिलाया तो उसकी बुरी तरह ठुकाई और पिटाई की गई।"

अरख समूह के बारे में स्वयं श्री ब्लंट ने अपने टिप्पण में स्वीकार किया है कि "लगता है समग्रत: ये जातियां प्रमुख पासी जनजाति की ही प्रजातियां हैं" और उन्होंने उन्हें अस्पृश्य माना है। जिन कारणों से श्री ब्लंट ने 20,000,00 चमारों के चमार समूह को अस्पृश्यों की श्रेणी से निकाल दिया है, वे उनके टिप्पण के पृष्ठ 17 पर दिए गए हैं। उन्होंने कहा है, "दूसरी ओर अनेक चमारों ने अधिक स्वच्छ धन्धे अपना लिए हैं, यथा-जिंगार, मोची और साईस के धन्धे। कानपुर और अन्यत्र चमड़े का व्यापार फलाफूला है। उसके फलस्वरूप अनेक चमार पैसे वाले हो गए हैं और उनका लक्ष्य रहता है कि वे अपने गांव के बन्धुओं से अधिक उच्च सामाजिक स्तर प्राप्त कर लें। ऐसे चमारों को प्राय: स्पृश्य माना जाता है। उनमें से अनेक तो अपनी जाति का नाम बदल लेते हैं, जो उतना बुरा नहीं लगता यथा कोरिल, अहरवार, जटिया, धूसिया और विशेषत: जायसवार।" मेरे विचार में ऐसे चमारों को जिन्होंने अधिक स्वच्छ धन्धे अपना लिए है अथवा जो पैसे वाले हो गए हैं, उन्हें श्री ब्लंट ने अस्पृश्यों की श्रेणी से निकाल कर नितान्त गलत दृष्टिकोण अपनाया है। अस्पृश्यता तथा वर्ण व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर उसकी जाति के स्तर के साथ बढ़ता या घटता है। हिन्दू सामाजिक जीवन का सदा ही यह नियम रहा है कि अस्पृश्य सदा सर्वदा अस्पृश्य ही रहेगा। वह उसका मूलाधार है और वही उसका विभेद उस वर्ग पद्धति से करता है, जिसमें किसी व्यक्ति का सामाजिक स्तर उसकी जाति के स्तर के साथ घटता या बढ़ाता है, बल्कि उसके अपने गुण दोषों के आधार पर घटता या बढ़ता है। हिन्दू समाज के जीवन के इस मूल तथा बुनियादी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए श्री ब्लंट के इस विभाजन को अस्वीकार करना ही होगा कि किसी अस्पृश्य मानी जानी वाली जाति के कुछ लोग स्पृश्य हो गए हैं। वस्तुत: यह एक विसंगत अभिव्यक्ति है और उसका तथ्यों से भी मेल नहीं दीख पड़ता। यह सच नहीं है कि श्री ब्लंट द्वारा उल्लिखित चमार जाति कि वर्गों को स्पृश्य माना गया है अथवा वे मंदिर में प्रवेश कर सकते हैं और सार्वजनिक कुओं से पानी ले सकते हैं। इसके विपरीत श्री ब्लंट के कथन के अनुसार उन्होंने अपने लिए नए नाम खोज लिए हैं, ताकि उन्हें अस्पृश्य न समझा जाए। 1911 के लिए संयुक्त प्रांत की अपनी जनगणना रिपोर्ट में भी

श्री ब्लंट ने स्वयं इसके उदाहरण दिए हैं। भाग एक से निम्न अंश मैं उद्धृत करता हूं:

"इसी प्रकार एक जायसवार चमार कभी भी यह स्वीकार नहीं करेगा कि वह चमार है, बल्कि वह अपनी जाति को केवल जायसवार के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जो राजपूत समेत अनेक अन्य जातियों की उपजाति है। एक बार एक साईस ने मेरे साथ ऐसी ही चालाकी करने की कोशिश की और आगरा जिले के टुंडला नगर में मैंने जायसवारों की पूरी बस्ती देखी, जहां पर जांच करने पर पता चला कि वे चमार रेजीमेंट के उन साईसों के वशंज थे, जो वहां आकर बस गये थे।"

यदि मेरे दावों को स्वीकार कर लिया जाता है और यदि अस्पृश्य जातियों की संख्या के उस भाग को, जिसे श्री ब्लंट ने स्पृश्य मान लिया है, अस्पृश्यों के कुल योग में जोड़ दिया जाता है, तो संयुक्त प्रान्त में अस्पृश्यों के बारे में श्री ब्लंट के आंकडे 11,476,214 हो जायेंगे।

7. जनगणना आयुक्त के आकलन के अनुसार दलित वर्गों के लोगों की संख्या 1 करोड़ 26 लाख है। यदि कोई और बारीक आकलन किया जाए, तो भी और केवल अस्पृश्यों वाली 'सूची' क को स्वीकार कर लिया जाए, तो इस प्रकार आकलित दलित वर्गों के लोगों की संख्या 1 करोड़ 10 लाख से कुछ ऊपर ही बैठेगी और वह श्री ब्लंट की संख्या के काफी आसपास ही होगी।

संयुक्त प्रांत की सरकार ने दो आकलन दिए हैं। अपनी पहली रिपोर्ट में उसने संख्या 6,773,814 बताई। अपनी अंतिम रिपोर्ट में उसने प्रांतीय कमेटी से सहमति जताई कि स्पर्श से अपवित्रीकरण की परिभाषा के अंतर्गत आने वाली जातियों के लोगों की संख्या 459,000 है। जहां तक पहली रिपोर्ट में दिए गए 6,773,814 के आकलन का संबंध है, यह बता देना जरूरी है कि यह आकलन संयुक्त प्रांत में अस्पृश्यों की संख्या का आकलन नहीं है। जहां तक इस मुद्दे का संबंध है, ऐसा लगता है कि संयुक्त प्रान्त की सरकार ने श्री ब्लंट के टिप्पण में दिए गए आंकड़े को मौन स्वीकृति दे दी है। संयुक्त प्रांत की सरकार ने 6,773,814 का जो आकलन दिया है, वह उन लोगों का है जो उनकी राय में राजनीतिक सरंक्षण के लिए मान्यता चाहते हैं। इस प्रक्रिया के गुणों एवं दोषों की चर्चा मैंने आगे है। यहां तो मैं पुनः बस इतना कहना चाहता हूं कि संयुक्त प्रान्त की सरकार का यह आकलन वस्तुतः अस्पृश्यों की कुल संख्या का आकलन नहीं है। अपनी अंतिम रिपोर्ट में सयुंक्त प्रांत की सरकार ने जो आकलन दिया है, उसके बारे में मैं केवल यह कहना चाहता हूं कि उसके साथ-साथ उस आकलन को भी देखा जाए, जो उसने सांइमन कमीशन को दिया था। उसने सांविधिक आयोग को एक ज्ञापन दिया था। उसके अंत में दलित वर्गों की स्थिति के बारे में उनका टिप्पण परिशिष्ट के रूप में छपा है। उसमें उसने कहा है: "प्रांत में हिन्दुओं की कुल आबादी में से कोई एक तिहाई को यानी कोई 1 करोड़ 30 लाख लोगों को रूढ़िवादी हिन्दू अस्पृश्य मानते हैं। इस टिप्पण के साथ संयुक्त प्रांत जनगणना संबंधी 1901 की रिपोर्ट से ली गई

अस्पृश्यों के रूप में वर्गीकृत जातियों की सूची नत्थी की जाती है। उसमें हर जाति की संख्या दी गई है-- अस्पृश्य जातियों के साथ जुड़ी सामाजिक अपवित्रता का अर्थ केवल यह है कि सवर्ण जाति का कोई भी व्यक्ति किसी अस्पृश्य के हाथ से अन्न और जल ग्रहण नहीं करेगा। और यदि वह सवर्ण व्यक्ति को छू लेता है या उसके निकट संपर्क में आ जाता है, तो इससे पहले कि सवर्ण व्यक्ति अन्न ग्रहण करे या उच्च जातियों के लोगों के साथ उठे बैठे उसे स्नानादि करना ही होगा।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है 16 मई 1928 को जब यह ज्ञापन प्रस्तुत किया गया, तो अस्पृश्यता यानी स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की कसौटी पर आधारित लोगों की संख्या 1 करोड़ 30 लाख थी। यह जाहिर है कि हमारी कमेटी के अध्यक्ष ने जो परिभाषा दी है, वह संयुक्त प्रांत में प्रचलित परिभाषा से और उस परिभाषा से भिन्न नहीं है, जिसके आधार पर संयुक्त प्रांत की सरकार ने 1928 में एक करोड़ तीस लाख की कुल संख्या का आकलन किया था। अत: मैं इस बात को स्पष्ट करने का भार संयुक्त प्रांत की सरकार पर ही छोड़ना चाहूंगा कि दो आकलनों के बीच इतना बड़ा अंतर क्यों है? लेकिन मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि संयुक्त प्रांत में अस्पृश्यों के आकलन के बारे में संयुक्त प्रांत की सरकार ने जो ये परिवर्तन किए हैं, वे दलित वर्गों की प्रतिनिधित्व प्रणाली के बारे में संयुक्त प्रांत सरकार के दृष्टिकोण में किए गए परिवर्तन जैसे ही हैं। 23 अगस्त 1930 को सांविधिक आयोग की रिपोर्ट पर लिखे गए अपने डिस्पैच में संयुक्त प्रांत की सरकार ने दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक-मंडलों का प्रवलतम समर्थन किया है। हमारी कमेटी को भेजी गई अपनी पहली रिपोर्ट में उस सरकार ने एक तालिका से मनोनयन की सिफारिश की थी जब कि अपनी अंतिम रिपोर्ट में उसने सीटों के आरक्षण की सिफारिश की है। इससे तो दलित वर्गों के ध्येय का बेड़ा ही गर्क हो जाएगा, यदि दलित वर्गों की संख्या और उनके प्रतिनिधित्व जैसे दो अति महत्वपूर्ण मसलों के बारे में किसी सरकार के विचारों में ऐसे अजीबोगरीब परिवर्तन आ जाएं।

9. अब मैं संयुक्त प्रांत की प्रांतीय मताधिकार कमेटी के आकलन की चर्चा करूंगा। उसके बारे में मैं निम्न तथ्यों की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा:

(एक) 1928 में जनगणना आयुक्त के, श्री ब्लंट के और सरकार के आंकड़े एक स्वर से कहते हैं कि दलित वर्ग के लोगों की संख्या यानी स्पर्श से अपवित्र करने वाले लोगों की संख्या एक करोड़ पन्द्रह लाख और एक करोड़ तीस लाख के बीच है। अत: इस बात के औचित्य को कमेटी ही सिद्ध करेगी कि उसने इतना अजीब और कम आकलन क्यों दिया है?

(दो) मैं कमेटी के इस कथन के प्रति तनिक भी आश्वस्त नहीं हूं कि दलित वर्गों के दो सदस्य उसके दृष्टिकोण से सहमत हैं और कमेटी के अधिकांश सदस्यों का दृष्टिकोण समझौते के सभी निहित अर्थों के बारे में यथोक्त है। जो भी हो, मैं यह कहना अपना

कर्तव्य समझता हूं कि इस मसले के बारे में बाबू रामचरन की राय का कोई महत्व नहीं है। उनका नाता दलित वर्ग से केवल इस अर्थ में है कि वह आर्थिक दृष्टि से निर्धन और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के हैं और शब्द की यथार्थ भावना के अनुसार वह अस्पृश्य वर्ग के नहीं हैं।

(तीन) भारतीय मताधिकार कमेटी ने अस्पृश्यों के वर्गीकरण के लिए मंदिर-प्रवेश और स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की दो कसौटियां अपनाई हैं। संयुक्त प्रांत की प्रांतीय मताधिकार कमेटी ने केवल एक कसौटी को अर्थात स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की कसौटी को आधार माना है और वह भी उसकी शाब्दिक भावना के अनुसार, न कि उसकी धारणात्मक भावना के अनुसार।

(चार) हमारे अध्यक्ष की स्पृश्यता संबंधी परिभाषा को अपनाते समय, जिसके बारे में मुझे कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने वह अपनी जिम्मेदारी पर ही दी। लगता है कि प्रांतीय मताधिकार कमेटी ने खंड का उस रूप में उल्लेख नहीं किया हैं 'जिस रूप में वह संयुक्त प्रांत में विद्यमान है।'

10. श्री ब्लंट तथा संयुक्त प्रांत की सरकार दोनों ने दलित वर्गों की संख्या के आकलन की जो पद्धति अपनाई है, उसके बारे में एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है। भारतीय मताधिकार कमेटी ने इस परिकल्पना को अपना आधार बनाया है कि वे सभी लोग जो उसके द्वारा स्वीकृत दो कसौटियों की परिधि में आते हैं, उन्हें अस्पृश्य माना ही जाएगा और विशेष प्रतिनिधित्व के लिए भी उनकी गणना उसी प्रकार की जाएगी, अपनी पड़ताल के दौरान भारतीय मताधिकार कमेटी ने देखा कि जैसी परिस्थिति भारत की है, उसमें सभी दलित वर्ग अस्पृश्य नहीं हैं और उनकी आर्थिक और शैक्षिक दशा के बावजूद सभी अस्पृश्यों को उनमें शामिल किया जाए। लगता है कि श्री ब्लंट और सयुंक्त प्रांत की सरकार ने एक नितान्त अलग प्रकार का विभेद 'अस्पृश्यों' और 'दलित वर्गों' के बीच किया है। उनके अनुसार सभी दलित वर्गों के लोग अस्पृश्य हैं, लेकिन सभी अस्पृश्य दलित वर्गों की श्रेणी में नहीं आते। यह प्रचलित परिपाटी और भारतीय मताधिकार कमेटी के निष्कर्षों के नितान्त प्रतिकूल है। सवाल केवल नामकरण का नहीं है। इसके अति दूरगामी परिणाम निकलेंगे और वे प्रतिनिधित्व की मात्रा पर प्रभाव डालेंगे। सयुंक्त प्रांत की सरकार और श्री ब्लंट प्रतिनिधित्व के प्रयोजन के लिए सभी अस्पृश्यों को आकलन में शामिल नहीं करते। वे केवल उन अस्पृश्यों का आकलन करते हैं, जिन्हें दलित कहा जा सकता है। भारतीय मताधिकार कमेटी ने इस परिकल्पना को आधार माना है कि इस प्रयोजन के लिए उसके द्वारा स्वीकृत दो कसौटियों को लागू करके जब एक बार अस्पृश्यों के वर्ग का निर्धारण कर लिया जाए, तो इस प्रकार निर्धारित अस्पृश्यों के समूचे वर्ग को प्रतिनिधित्व के लिए आकलन में शामिल किया ही जाना चाहिए और उसके लिए अमीर और गरीब, उन्नत अथवा पिछड़े, शिक्षित अथवा अशिक्षित का और कोई भेदभाव न किया जाए। मेरी राय में यही प्रक्रिया सही प्रक्रिया है।

यह कहना आवश्यक नहीं है कि मैं श्री ब्लंट और संयुक्त प्रांत की सरकार द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया से सहमत नहीं हूं।

III. पंजाब के दलित वर्ग

11. 1931 की जनगणना में दलित वर्गों की संख्या के जो आंकड़े दिए गए हैं, उनके बारे में दो तथ्यों की ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूं:

(एक) 1911 की जनगणना के अनुसार स्पर्श द्वारा अपवित्र करने वाले लोगों की संख्या 2 करोड़ 80 लाख थी, जबकि 1931 की जनगणना में अस्पृश्यों की संख्या 1 करोड़ 30 लाख दी गई है।

(दो) 1911 की जनगणना में उन 23 जातियों की सूची दी गई है, जिन्हें स्पर्श द्वारा अपवित्र करने वाला माना जाता है। 1931 की जनगणना में केवल पंजाब में अस्पृश्य लोगों वाली जातियों का उल्लेख किया गया है।

12. मैं यह नहीं समझ सका हूं कि क्या कारण है कि अस्पृश्यों की कुल संख्या और उस श्रेणी में शामिल जातियों की सूची 1911 और 1931 के बीच इतनी ज्यादा क्यों सिकुड़ गई है। लेकिन यह बताना जरूरी है कि पिछले कुछ वर्षों से पंजाब के अस्पृश्यों के बीच आद धर्म आन्दोलन नामक एक सशक्त आंदोलन चल रहा है। उसका उद्देश्य यह है कि वे हिन्दू परिधि से अलग होकर आद धर्मियों के नए नाम से एक अलग जाति के रूप में अपना संगठन बना लें। इस आंदोलन ने इतना जोर पकड़ लिया है कि अस्पृश्यों ने निर्णय किया कि उन्हें 1931 की जनगणना में हिन्दुओं के स्थान पर आद-धर्मी के रूप में दर्ज किया जाए। सरकार ने इस भावना को मान्यता दी और पंजाब के जनगणना अधीक्षक को अनुमति दी कि वह आद-धर्मियों की नयी श्रेणी का अलग कालम बना दें। इसके कारण पंजाब के कुछ भागों में हिन्दुओं और अस्पृश्यों के बीच दंगे हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ भागों मे अस्पृश्यों ने स्वयं को केवल आद-धर्मी के रूप में दर्ज कराया और-अपनी अपनी जातियों का कोई उल्लेख नहीं किया और कुछ अन्य भागों में जहां उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया, उन्होंने स्वयं को अपने जातीय नामों के अधीन 'हिन्दू' के रूप में दर्ज कराया। इन तथ्यों का उल्लेख मैं यह दर्शाने के लिए कर रहा हूं कि अस्पृश्यों की गणना के काम में मुश्किलें पैदा हुई और इस बात को पंजाब की सरकार ने भी स्वीकार किया है। हो सकता है कि इनके कारण पंजाब में अस्पृश्यों की संख्या और सूची में यह कमी आयी हो। अत: मामले पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है।

IV. बंगाल के दलित वर्ग

13. बंगाल के दलित वर्गों के बारे में एक महत्वपूर्ण साक्ष्य है और मैं उसकी ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा। उससे पता चलता है कि 1911 की बंगाल की जनगणना में जो सूची दी

गई है, वह उन जातियों का सही आकलन है, जिन्हें बंगाल में परंपरा से अस्पृश्य जातियां माना जाता रहा है। मैं 1809 के विनियम 4 की धारा 7 का उल्लेख करता हूं। (यह विनियम 1806 के विनियम 4 और 5 को रद्द करने के लिए था और उसका उद्देश्य था कि उक्त विनियमों के नियमों के स्थान पर नये नियम रखे जाएं। उक्त विनियमों का संबंध जगन्नाथ की यात्रा करने वाले यात्रियों पर शुल्क लगाने और मंदिर के कामकाज के अधीक्षण और प्रबंध से था। इसे गवर्नर जनरल-इन-काउसिंल ने 28 अप्रैल 1809 को पारित किया था।) उक्त धारा में उन जातियों की सूची दी गई है, जो पुरी के जगन्नाथ मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकती थी: (1) लोली अथवा काशी, (2) कलाल अथवा सुनरी, (3) मछुवा (4) नाम शूद्र अथवा चांडाल, (5) घुस्की, (6) गजूर, (7) बागड़ी, (8) जोगी अथवा नूरबाफ, (9) कहार-बौरी और दुलिया, (10) राजवंसी, (11) पिराली, (12) चमार, (13) डोम, (14) पान, (15) तिपारू, (16) भुईन्नली, (17) हरि।

यह आकलन 1911 की जनगणना की सूची से मेल खाता है। अत: वह उसकी शुद्धता को समर्थन प्रदान करता है। प्रसंगत: इससे पता चलता है कि 100 वर्ष की अवधि में भी बंगाल के अस्पृश्यों के सामाजिक दर्जे में कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

12. संयुक्त प्रांत, बंगाल और पंजाब में दलित वर्गों की संख्या के बारे में सहमति नहीं है। इन तीन प्रांतों के संबंध में मैं इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं कि जहां भारतीय मताधिकार कमेटी ने अस्पृश्यों की संख्या के निर्धारण के लिए दो अलग कसौटियों को आधार माना है, वहां जाहिर है कि प्रांतीय सरकारों और प्रांतीय कमेटियों ने एक ही कसौटी यानी स्पर्श द्वारा अपवित्रीकरण की कसौटी का अनुसरण किया है।

V. नामकरण

14. संविधान में प्रस्तावित परिवर्तनों के फलस्वरूप मतदाता सूचियों में जो संशोधन हो रहा है, वह इस प्रश्न पर विचार के लिए एक अति उत्तम अवसर है कि दलित वर्गों का एक उचित और उपयुक्त नामकरण किया जाए। अत: मैं इस प्रश्न पर अपनी राय व्यक्त करना चाहता हूं। जिन जातियों को इस समय 'दलित वर्ग' कहा जाता है, उन्हें इस शब्द के प्रयोग पर काफी आपत्ति है। कमेटी के सामने जो अनेक साक्षी उपस्थित हुए हैं, उन्होंने इस भावना को व्यक्त किया हैं। इसके अलावा दलित वर्ग शब्द ने जनगणना में काफी संभ्रम पैदा करा दिया है, क्योंकि इसमें उन दूसरे लोगों का भी समावेश है, जो वास्तव में अस्पृश्य नहीं हैं। दूसरे वह यह धारणा पैदा करता है कि दलित वर्ग एक निम्न और असहाय समुदाय है, जब कि वास्तविकता यह है कि हर प्रांत में उनमें से अनेक सुसम्पन्न और सुशिक्षित लोग हैं और समूचे समुदाय में अपनी आवश्यकताओं के प्रति चेतना जागृत हो रही है। उसके मानस में भारतीय समाज में सम्मानजनक दर्जा प्राप्त करने की प्रबल लालसा पैदा हो गई है और वह उसे प्राप्त करने के लिए भागीरथ प्रयास कर रहा है। इन सब कारणों के आधार पर 'दलित

वर्ग' शब्द अनुपयुक्त और अनुचित है। असम के जनगणना अधीक्षक श्री मुल्लान ने अस्पृश्यों के लिए 'बाह्य जातियां' नामक नये शब्द का प्रयोग किया है। इस बोध नाम के अनेक लाभ हैं। यह उन अस्पृश्यों की स्थिति की सही व्याख्या करता है, जो हिन्दू धर्म के भीतर तो हैं लेकिन हिन्दू समाज से बाहर हैं और वह उसका विभेद उन हिन्दुओं से करता है, जो आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से दलित तो हैं- लेकिन हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज दोनों की परिधि के भीतर हैं। इस शब्द के दो अन्य लाभ हैं दलित वर्ग जैसे अनिश्चित शब्द के प्रयोग से इस समय, जो समूचा भ्रम जाल फैला हुआ है वह तो 'बाह्य जाति' के प्रयोग से दूर होता ही है पर साथ ही साथ वह भोंडा भी नहीं है। हमारी कमेटी का विचार है कि वह इस संबंध में सिफारिश करने का अधिकार नहीं रखती, लेकिन दलित वर्गों के प्रतिनिधि के नाते मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूं कि जब तक कोई और बेहतर नाम न मिल जाए, तब तक अस्पृश्य वर्गों को अधिक व्यापक शब्द 'बाह्य जातियों' या 'बहिष्कृत जातियों' के नाम से पुकारा जाए, न कि दलित वर्गों के नाम से।

VI. आरक्षण

15. इस टिप्पण को समाप्त करने से पूर्व मैं अपनी ओर से उसी आरक्षण की मांग करना चाहूंगा, जिसकी मांग कमेटी के मेरे मुस्लिम साथियों ने की है अर्थात गोलमेज सम्मेलन में प्रस्तुत अल्पसंख्यकों संबंधी समझौते में दलित वर्गों ने सीटों के जिस अनुपात की मांग की है, उस पर श्रमिक महिलाओं तथा अन्य विशेष हितों के लिए सीटों के आवंटन का कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ेगा।

1 मई 1932

डा० भीमराव अम्बेडकर

अनुक्रमणिका